कहानी आन्दोलनों के संदर्भ में स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कहानियों का अध्ययन

(इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि हेतु प्रस्तुत)

शोध-प्रबन्ध

निर्देशक
डॉ० रुद्रदेव
रीडर

प्रस्तुतकर्ता
वंशबहादुर सिंह
एम० ए०, एम० एड०

हिन्दी तथा आधुनिक भारतीय भाषा विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

1996 ई०

भूमिका

कहानी कला अपने में पूर्ण और स्वतन्त्र कला है और वह जीवन के गम्भीरतम क्षणों को आकर्षक ढंग से प्रस्तुत करने की क्षमता रखती है। इस कला में जीवन की अद्भुत पकड़ है। इसके द्वारा जीवन के जटिलतम परतों को सरलतम रूप से उघाड़ा जा सकता है। रचना विधान की दृष्टि से निस्सदेह कहानी की सीमाएं हैं और वह जीवन को समग्रता के साथ अपने में समेट लेने में अक्षम रहती है, फिर भी जीवन के जिस बिन्दु पर कहानी की दृष्टि पड़ती है वह बड़ी गहराई के साथ उसे माप लेती है। वह जीवन से अपने ढंग से जूझती अवश्य है, हिन्दी का ही नहीं संसार का कहानी साहित्य इसकी पुष्टि करता है।

जीवन और जगत के व्यापक परिवेश में मानव जीवन कहानी के माध्यम से अभिव्यंजित होने लगा। अपनी संवेदनात्मक अनुभूति और कलात्मक अभिव्यक्ति के कारण हिन्दी कहानी जीवन की गहन, सघन, व्यापक और सशक्तअभिव्यक्ति का माध्यम बन गई। कहानी साहित्य अपने सूक्ष्म कथ्य और लघु कलेवर होने पर भी आज हिन्दी साहित्य में सबसे लोकप्रिय विधा है।

जीवन सतत विकासशील और गतिशील है तथा युग और परिवेश भी। हिन्दी कहानी सतत गतिमान और परिवर्तनशीलजीवन से, युग और परिवेश के विभिन्न कोणों से, विभिन्न स्तरों पर और विभिन्न रूपों में प्रभावित होती रही है। निस्संदेह इन प्रभावों और दबावों से कहानी चिंतन के स्तर पर नए भाव बोध ग्रहण करती रही।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्नातकोत्तर कक्षाओं में, प्रख्यात कथाकार अपने गुरुवर द्वय डा० शिव प्रसाद सिंह और डा० काशीनाथ सिंह से कहानी कला की शिक्षा प्राप्त करते हुए मुझे यह सहज ही विश्वास हुआ कि कहानी साहित्य की सभी विधाओं से सबल है क्योंकि वह मानव-मन को गहराई से स्पर्श करने में सक्षम है। उसी समय मेरे अन्तः स्थल में यह भाव जागृत हुआ कि मैं भी किसी न किसी रूप में, क्यों न इस कला से सम्बद्ध होऊँ?

मैं शोध के सम्बन्ध में सोच ही रहा था कि उसी समय केन्द्रीय विद्यालय में अध्यापन का अवसरप्राप्त हो गया जिस कारण काशी की धरती से अलग हो, सुदूर पूर्वोत्तर की ओर चला गया। दैव योग से सन् 1991 के अन्त में स्थानान्तरित होकर जब मैं प्रयाग आया तो मुझे काशी और प्रयाग में कोई अन्तर नहीं लगा और अपनी चिर प्रतीक्षित अभिलाषा का शुभारम्भ श्रद्धेय गुरुवर डॉ० भवानी दत्त उप्रेती रीडर, हिन्दी-विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय,की देख-रेख में किया। दुर्भाग्य-वश जून 1994 में गुरू जी का आकस्मिक -असामयिक निधन हो गया और मैं पथ-प्रदर्शक विहीन हो गया। विपत्ति के इस समय में उदार हृदय गुरुवर डॉ० रुद्रदेव, रीडर, इलाहाबाद विश्वविद्यालय ने अपनीछत्र-छाया में मुझे प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से अपनी कृपा और सहज व्यवहार से मेरे दबते हुए उत्साह को उभारकर, अपेक्षित सुविधाएं एवं सार्थक और मूल्यवान निर्देश देकर, विषय से सम्बन्धित अन्य संदर्भों में भी विस्तृत चर्चा से मार्ग दर्शन देकर मेरी चेतना का विस्तार कर व्यापक रूप प्रदान किया है।

इस प्रकार सुअवसर प्राप्त होने पर मैंने अपने शोध कार्य को अन्तिम रूप देने के लिए प्रयत्न किया और मुझे इस समय सुखद अनुभव हो रहा है जब मैं अपना

शोध प्रबन्ध प्रस्तुत कर रहा हूँ।

प्रस्तुत शोध विषय "कहानी आन्दोलनों के संदर्भ में स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कहानियों का अध्ययन" का चयन इस दृष्टि से किया गया है कि कहानी के सभी पक्षों यथा-स्वरूप, विकास, मूल्य, विभिन्न परिवेश (पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक) यथार्थ और शिल्प का विश्लेषण किया जा सके क्योंकि अभी तक कहानी पर जो शोध कार्य हुए हैं, उनमें कहानी के एक-एक पक्ष को ही लिया गया है। मैंने स्वातन्त्र्योत्तर कहानियों का विभिन्न दृष्टि से अनुशीलन किया है। जो कहानियाँ मुझे किसी न किसी दृष्टि से महत्वपूर्ण लगी उन्हें अपने विश्लेषण का आधार बनाया है। यद्यपि इस कालावधि में प्रभूत मात्रा में कहानियाँ विविध संदर्भों के साथ प्रकाश में आई हैं। उन सभी का अध्ययन करना असम्भव है। शोध प्रबन्ध में प्रमुख कहानीकारों की कहानियों को ही विश्लेषण हेतु चुना गया है।

प्रस्तुत प्रबन्ध को छः अध्यायों में विभक्त किया गया है। प्रथम अध्याय में स्वातन्त्र्योत्तर कहानी स्वरूप और विकास का विश्लेषण किया गया है।

द्वितीय अध्याय में कहानी आन्दोलनों का विकासात्मक परिचय प्रस्तुत है। अध्ययन की सुविधा के लिए इसे दो भागों में विभक्त किया गया है- 1- स्वतन्त्रता-पूर्व कहानी आन्दोलन और 2- स्वातन्त्र्योत्तर कहानी आन्दोलन। प्रथम खण्ड में स्वतन्त्रतापूर्व के विभिन्न आन्दोलनों (आदर्शवादी, यथार्थवादी और मनोवैज्ञानिक) से प्रेरित कहानियाँ हैं तो द्वितीय खण्ड में स्वतन्त्रता के बाद व्यक्ति के संघर्ष, संत्रास और कुंठा से उपजे विभिन्न आन्दोलनों (नई कहानी आन्दोलन, सचेतन, जनवादी आदि) से प्रेरित कहानियाँ लिखी गई हैं।

तृतीय अध्याय में मानव मूल्यों का विवेचन किया गया है। स्वतन्त्रतापूर्व और उत्तर काल में उनमें जो मूलभूत अन्तर आया है उसका सम्यक् विवरण प्रस्तुत

किया गया है। इस अन्तर की परिधि में पारिवारिक और सामाजिक विघटन को सम्मिलित किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में स्वातन्त्र्योत्तर राजनीतिक परिवेश की विस्तृत चर्चा की गई है। जिसमें मुख्य रूप से यह विश्लेषित किया गया है कि दिनोंदिन राजनीति का स्तर किस प्रकार गिरता जा रहा है। साथ ही कुछ प्रमुख कहानियों का कथ्य भी प्रस्तुत किया गया है।

पंचम अध्याय में स्वातन्त्र्योत्तर कहानियाँ और उनके कृतिकारों का अन्त-र्दृष्टि और यथार्थवादी चेतना की दृष्टि से मूल्यांकन किया गया है। जिसमें महत्वपूर्ण यथार्थवादी कहानियों को सम्मिलित किया गया है।

छठें अध्याय में कहानियों के शिल्प की चर्चा की गयी है जिसमें शिल्प के विभिन्न रूपों यथा-नवीन सौन्दर्य बोध, भाषिक संवेदना, बिम्बों का प्रयोग, प्रतीक आदि को विश्लेषित किया गया है।

उपसंहार में स्वातन्त्र्योत्तर कहानियों की स्थिति की व्याख्या करने का लघु प्रयास किया गया है। इस प्रबन्ध हेतु मैंने अनेक स्वातन्त्र्योत्तर कहानियों का अध्ययन किया है किन्तु कहानियों की अधिकता को दृष्टि में रखते हुए समस्त कहानियों को प्रबन्ध में स्थान देना सम्भव न था। कहानियों के चयन का आधार अपनी रुचि रही है और साथ ही उपयोगिता को भी महत्व प्रदान किया गया है।

अपने शोध कार्य को सम्पन्न करने में मुझे अनेक विद्वानों से सहायता मिली है जिसमें मुख्य प्रो० योगेन्द्र प्रताप सिंह, अध्यक्ष हिन्दी विभाग, प्रो० राजेन्द्र कुमार वर्मा, प्रो० दूधनाथ सिंह, डॉ० निर्मला अग्रवाल, डा० रामराज सिंह हैं। अन्य सहयोगियों में श्री राजेन्द्र बहादुर सिंह, श्री देवराज सिंह, श्री कमलाकान्त दुबे

इलाहाबाद विश्वविद्यालय पुस्तकालय, साहित्य सम्मेलन पुस्तकालय, भारती भवन पुस्तकालय, इलाहाबाद से सम्बन्धित समस्त सज्जनों के प्रति आभारी हूँ। साथ ही उन सभी कृतिकारों के प्रति भी आभार व्यक्त करता हूँ जिनकी कृतियों से मुझे इस शोध प्रबन्ध की पूर्णता हेतु अमूल्य सहयोग मिला है।

मै अपने श्रद्धेय गुरुवर डॉ० रुद्रदेव का आजीवन ऋणी रहूँगा। जिनकी स्नेहिल और सौहार्दपूर्ण छाया में प्रेरणापूर्ण निर्देशन प्राप्त कर यह शोध कार्य सम्पन्न कर सका। उनके प्रति किन शब्दों में कृतज्ञता ज्ञापित करूँ, कह नहीं सकता।

इस अवसर पर पूज्य पिता स्व० श्रीयुत श्रीनाथ सिंह की स्मृतियाँ सहज ही उभर आती हैं। जिन्होंने मुझे बाल्यावस्था में घर पर अक्षर-ज्ञान कराया था। मैं अपनी माँ के प्रति आभार व्यक्त करना नैतिक कर्त्तव्य समझता हूँ जिन्होंने विषम परिस्थितियों में मुझे विद्यार्जन की प्रेरणा दी। इस कार्य को सकुशल सम्पन्न करने में मेरी सहचरी श्रीमती नयन तारा सिंह, तथा बच्चों (गरिमा, गौरव और सौरभ) के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ। जिन्होंने मेरे अपने पारिवारिक दायित्वों को संभालकर मुझे प्रबन्ध पूर्ण करने में सहयोग दिया।

अन्त में उन सभी के प्रति आभार व्यक्त करना चाहता हूँ जो किसी न किसी रूप में इस कार्य की सम्पन्नता में सहायक सिद्ध हुए हैं।

26/5/96

गंगाबहादुर सिंह

रामनवमी,
संम्वत् 2053

अनुक्रम

पृष्ठ

पृष्ठ

पृष्ठ

अध्याय 1

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कहानी स्वरूप और विकास

- स्वतन्त्रता शब्द का अर्थ
- स्वातन्त्र्योत्तर कहानी स्वरूप तथा तत्व
- स्वातन्त्र्योत्तर नारीयोचित मान्यताएं
- स्वातन्त्र्योत्तर कहानी के विकास की पीढ़ियां
- आधुनिकता बोध

स्वतन्त्रता शब्द का अर्थ

स्वतन्त्रता शब्द का अर्थ सामान्य रूप से 15 अगस्त 1947 के बाद की स्थिति से लगाया जाता है। कथा के क्षेत्र में स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय को प्रेमचन्द्रोत्तर कहानी और उसके नए विकास "नयी कहानी" के बीच की विभाजक-रेखा मानना चाहिए। इस सम्बन्ध में कमलेश्वर के विचार महत्वपूर्ण हैं--"स्वतन्त्रता शब्द और इसकी अर्थ बोधक स्थिति आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य के समीक्षा संदर्भ में एक पुष्ट विभाजक बिन्दु के रूप में आख्यायित है।"[1] इसके निश्चित कारण हैं कि स्वतन्त्रता से पहले की कहानी में व्यक्त कहानीकार की निजी समस्या मानव समस्या नहीं बन पाती। कहानीकार का आत्म विभाजन मानव के समग्र विश्वास को अपनी रचना प्रक्रिया में आत्मसात् नहीं कर पाता। जीवन के वृहत्तर संदर्भों के संवेदनात्मक ज्ञान के अभाव में ही स्वतन्त्रता से पहले के कुछ कहानीकार सामाजिक समस्याओं की प्रतिक्रिया को अपनी रचनात्मक चेतना का अंग नहीं बना सके हैं। स्वतन्त्रता प्राप्ति के ठीक बाद तो शिक्षित मध्यवर्ग में मौकापरस्ती की चेतना ही दृष्टिगोचर होती है पर 1950 तक आते-आते अनेक कठिनाइयों और अन्तरबाधाओं के होते हुए भी एक स्वाभाविक आस्था का उन्मेष देखते हैं। विश्व राष्ट्रों के बीच भारत के बढ़ते हुए विश्वास युक्त सम्बन्धों के कारण स्वतन्त्र्योत्तर कहानीकार में रचना प्रक्रिया की दृष्टि से त्रिमुखी संघर्ष का बोध प्रत्यक्षतः दिखाई पड़ता है। प्रथम संघर्ष तो अभिव्यक्ति के लिए है। द्वितीय-निजी चेतना को मानवीय संवेदना से सम्बद्ध करने के लिए आत्मसंघर्ष है। तीसरा संघर्ष मानव समस्याओं की अनुभूति

---

1. कमलेश्वर-"डॉ0 विवेकी राय-स्वातन्त्र्योत्तर कथा साहित्य और ग्राम जीवन" पृ0 17

प्राप्त करते हुए अपने जीवनानुभव को व्यापक और तीव्रतर बनाने के लिए है।

स्वातन्त्र्योत्तर कहानी स्वरूप और तत्व

स्वातन्त्र्योत्तर काल में हिन्दी उपन्यास की तरह हिन्दी कहानी वस्तु और रूप दोनों दृष्टियों से सही अर्थों में अत्यन्त आधुनिक बनती जा रही है। ···हिन्दी···काव्य क्षेत्र की नई कविता के आन्दोलन से प्रेरणा ग्रहण कर अनेक प्रतिभाशाली युवा रचनाकार प्रगतिशील जीवन दृष्टि लेकर कहानी क्षेत्र में आए और हिन्दी कहानी की संवृद्धि में समर्थ हुए। औद्योगीकरण के कारण श्रम विभाजित जिस नागरिक सभ्यता का विकास हमारे यहाँ तेजी से हो रहा है और इससे व्यक्ति के मन में अपने सामाजिक परिवेश और स्वयं अपने आप से विलगाव की जो तीखी, पीड़ाजनक अनुभूति निरन्तर बढ़ती जा रही है जिससे व्यक्ति कुण्ठा, निराशा, त्रास के उद्वेग झेलने के लिए लाचार है। मुख्यत: इस वस्तु बोध को ही व्यापक सामाजिक संदर्भ में रखकर कहानी के माध्यम से रूपायित करने का प्रयत्न हमारे कहानीकार कर रहे हैं।

स्वतन्त्रता के बाद विकसित कहानी का जो मूल स्वरूप है उसके निम्न तत्व निर्धारित किए जा सकते हैं--

1- मुक्त प्रेम और मुक्त यौन सम्बन्ध

2- संत्रास और भय

3- टूटते रिश्ते

4- बदलते रिश्ते

5- नये रिश्ते

6- यथार्थ चिन्तन

7- अस्तित्व की रक्षा और जिजीविषा

8- प्राचीन नैतिक मूल्यों का विरोध

डॉ0 लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के अनुसार "स्वतन्त्रता के पश्चात् बेकारी, उद्देश्यहीनता एवं भ्रष्टाचार ने मनुष्य को तोड़ दिया है। जिससे वह वैयक्तिक नैतिकता को प्रश्रय देता है, तथा सभी प्रकार के मापदण्डों से छुटकारा चाहता है। इस समय के अधिकांश कहानीकारों ने पति-पत्नी, माँ-पुत्री, पिता-पुत्री, भाई-बहन, सम्बन्धों का पारस्परिक संदर्भ और सामाजिक संदर्भों में अनेक कहानियाँ लिखी हैं। राजेन्द्र यादव की "टूटना" तथा नरेश मेहता की "अनबीता व्यतीत" उल्लेखनीय है।"[1]

"पति-पत्नी का अजनबीपन सामाजिक संदर्भों में- मन्नू भण्डारी की "तीसरा आदमी" कहानी तथा माँ-पुत्री का अजनबीपन सामाजिक संदर्भों में कमलेश्वर की "तलाश" कहानी विशेष महत्व पूर्ण है।"[2]

स्वतन्त्रता के पश्चात् पारिवारिक अजनबीपन के सामाजिक संदर्भों में भी कहानियाँ लिखी गई हैं। जिनमें "वापसी" (उषा प्रियंवदा), "इतवार का एक दिन" (रवीन्द्र कालिया), "बदली बरस गई" (कृष्णा सोबती) प्रमुख हैं।

पारिवारिक अजनबीपन - आत्मपरक संदर्भों में जो कहानियां लिखी गई है उनमें धर्मवीर भारती की "यह मेरे लिए नहीं", सुरेश सिनहा की "पानी की मीनारे", सुधा अरोड़ा की "एक अविवाहित पृष्ठ" तथा ज्ञानरंजन की "शेष रहते हुए" कहानियाँ उल्लेखनीय हैं।

1- डॉ लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय - आधुनिक कहानी का परिपार्श्व- पृ0 110

2- वही

पिता-पुत्री का अजनबीपन- आत्मपरक संदर्भों में निर्मल वर्मा की कहानी "माया दर्पण" विशेष महत्व रखती है।

दूसरे नगर- समाज के लोगों के बीच में जाने और वहाँ अपने को मिसफिट पाने तथा अजनबी होने की भावना उषा प्रियंवदा की "मछलियाँ" {न्यूयार्क}, रामकुमार की "पेरिस की एक शाम" {पेरिस}, सुरेश सिन्हा की "अपरिचित शहर- में" {दिल्ली} आदि कहानियाँ जिनमें क्रमशः न्यूयार्क, पेरिस और दिल्ली आदि नगरों की स्थानीय संस्कृति, जीवन-परिवेश एवं आचार व्यवहार की आधुनिकता के बहाने यथार्थ जीवन एवं मानव मूल्यों के विघटन की अभिव्यक्ति है।

जीवन के अजनबीपन के बाद हमारे जीवन में जो दूसरा महत्वपूर्ण परिवर्तन आया है वह पति-पत्नी के सम्बन्ध··· अर्थात् दोनों के व्यक्तिगत अहं, स्वतन्त्र सत्ता एवं अस्तित्व ···तनाव, कटुता और अन्तिम परिणति तलाक। पति-पत्नी के नये पारस्परिक सम्बन्धों के संदर्भ में मोहन राकेश की "सुहागिने" और "एक और जिन्दगी" आदि महत्वपूर्ण कहानियाँ हैं।

स्वतन्त्रता के पश्चात् प्रेम के सम्बन्ध में परिवर्तन का लम्बा क्रम जारी है। प्रेम सम्बन्धों में भी स्वार्थ, वासना, उद्देश्य तथा अपने-अपने व्यक्तित्वों के परस्पर उन्मीलन की सफलता या असफलता दिखाई पड़ती है। भावुकता से भरा हुआ प्रेम यत्र-तत्र ही दृष्टिगोचर होता है।

प्रेम में स्वार्थ से अभिप्राय उस सामाजिक मूल्य परिवर्तन से है जिसमें नारी आधुनिकता और प्रगतिशीलता के शिखर पर पहुँच गई। अफसरों मंत्रियों एवं दूसरे अधिकार प्राप्त लोगों से प्रेम करने, नारीत्व बेचने और स्वार्थ पूर्ति का साधन बन गई। परिणाम यह हुआ कि वासनात्मक प्रेम ने वास्तविक प्रेम का रूप धारण कर

लिया और वह मानव जीवन के साथ गहरे रूप में जुड़ गया है।

स्वातन्त्र्योत्तर नारीयोचित मान्यताएँ

स्वातन्त्र्योत्तर काल में जिस नारीयोचित मूल्य का विकास हुआ उसमें नारी का एक नया अहं विकसित होता दृष्टिगोचर होता है। उसका अपना एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व बना और वह आर्थिक रूप से स्वावलम्बिनी बनती जा रही है। इसलिए निजी अस्तित्व का भी सवाल उठ खड़ा हुआ।

प्राचीन वैवाहिक परम्पराओं में नारी का कोई अस्तित्व नहीं होता था, न ही नारी का कोई अहं। नारी का प्रेम पूर्णतया भावुकता से ओत प्रोत होता था। नारी के प्रेम में रंचमात्र स्वार्थ न होकर पुरूष के प्रति पूर्ण उत्सर्ग था। आज पूर्णत: प्राचीन मूल्य नारी के अस्तित्व को विकसित नहीं कर पा रहे हैं। पुरूष का अपना अस्तित्व तो पहले से ही सुरक्षित था। इसीलिए स्वतन्त्रता के बाद प्रेम की जो नयी दशा उपस्थित हुई उसमें दोनों ही अपनी पहचान बनाए रखना चाहते हैं, इसके प्रति क्षण प्रतिक्षण सजग रहते हैं। नर और नारी का प्रेम स्वाभाविक है इसलिए वे एक विशेष स्थिति तक अपने अस्तित्व को एक दूसरे में मिलाने का प्रयास करते हैं। परन्तु इस सीमा को दोनों में से कोई भी पार नहीं करना चाहता जहाँ पहुँचकर अस्तित्व खतरे में पड़ जाए।

स्वतन्त्रता के बाद प्रेम की जो नई स्थिति पैदा हुई, उसमें दोनों ही पक्ष अतिरिक्त सावधानी बरतने लगेऔर भावुकता का वहाँ कोई महत्व शेष न रह गया। प्रेम के नए यथार्थ, प्रेम और स्वार्थ, प्रेम और उद्देश्य और प्रेम और अस्तित्व के सम्बन्ध को कहानीकारों ने अपनी कहानियों का विषय बनाया। प्रमुख कहानियों में मोहन राकेश की "वासना की छाया", विष्णु प्रभाकर की "धरती अब

भी थम रही है" मन्नू भण्डारी की "यही सच है", कृष्णा सोबती की " बादलों के घेरे ", राजेन्द्र यादव की "छोटे-छोटे ताजमहल", निर्मल वर्मा का "तीसरा गवाह" कमलेश्वर का "पीला गुलाब" आदि हैं।

<u>स्वातन्त्र्योत्तर कहानी के विकास की पीढ़ियाँ</u>

यदि हम स्वातन्त्र्योत्तर कहानी के विकास पर सूक्ष्मता से दृष्टिपात करें तो हमें यह स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ेगा कि स्वातन्त्र्योत्तर काल में कहानीकारों की चार-चार पीढ़ियाँ एक साथ जीवित रही हैं, प्रथम पीढ़ी में सुदर्शन, राधाकृष्णदास और वृन्दावनलाल वर्मा हैं- द्वितीय में यशपाल, जैनेन्द्र और भगवतीचरण वर्मा- तीसरी पीढ़ी के कहानीकार हैं- शिवप्रसाद सिंह, धर्मवीर भारती, फणीश्वर नाथ रेणु, अमरकान्त, मार्कण्डेय, रांगेय राघव, अमृतलाल नागर, भीष्म साहनी, नरेश मेहता, हरिशंकर परसाई, शिवानी, विष्णु प्रभाकर, राजेन्द्र यादव, कमलेश्वर, निर्मल वर्मा, मोहन राकेश, मन्नू भंडारी, उषा प्रियंवदा आदि और चौथी पीढ़ी की साठोत्तर पीढ़ी जिसमें कहानीकारों की लम्बी कतार है कुछ महत्व पूर्ण नाम इस प्रकार हैं जिनकी पहचान बन चुकी है जैसे ज्ञानरंजन, दूधनाथ सिंह, सुरेश सिन्हा, संतोष "संतोष" गिरिराज किशोर, सुधा अरोड़ा, काशीनाथ सिंह, मेहरुन्निसा परवेज, कृष्णा सोबती, ज्ञानी, श्रीकान्त वर्मा, शरद जोशी आदि। चारों पीढ़ियों की लेखन शैली और उनके दृष्टिकोण में पर्याप्त अन्तर रहा है- जो स्वाभाविक भी है।

हमारी सबसे पुरानी पीढ़ी आदर्शवाद के युग की थी जब देश आजादी हेतु संघर्षशील था। अंग्रेजी हुकूमत की नाराजगी और कई तरह के खतरे मोल लेकर

उस पीढ़ी के लेखक देश में नया आदर्शवाद और नई उमंगे पैदा कर रहे थे। दूसरी पीढ़ी उस जमाने की थी - जब स्वाधीनता का आन्दोलन भारतीय जन-जीवन का अंग बन गया था जनता बिल्कुल भयमुक्त और निडर हो गई थी नवयुवक स्वतन्त्रता से सोचने लगे थे। इस पीढ़ी ने एक ओर आदर्शवाद का पोषण किया, तो दूसरी ओर ठोस वास्तविकताओं को भी गहराई से देखने का प्रयत्न किया। तीसरी पीढ़ी आजादी प्राप्त होने के एक दम बाद की है उन उत्साही नौजवानों की जो सभी क्षेत्रों में नए मूल्यों की स्थापना चाहते थे। स्वाधीनता प्राप्ति के दिनों की क्रूरताओं ने शायद इस पीढ़ी को कुछ हद तक निर्भय बनाने का कार्य भी किया। चौथी पीढ़ी आज की है- एकदम ताजी बीसवीं शदी के अन्तिम दशक की । स्वाधीनता प्राप्ति से समृद्धि की जो बड़ी -बड़ी आशाएं जनता के मन में थीं वे मात्र आशा ही बन कर रही गयी, पूरी नहीं हुई। इस नवीनतम पीढ़ी पर मोहभंग और निराशा की स्पष्ट छाप है- उतावलापन और कुछ नया करने की चाह, जिसे रास्ता नहीं मिलता। परिणाम स्वरूप इस पीढ़ी में एक अजीब बेसब्री है।

हिन्दी कहानी को समृद्ध करने में इन चारों पीढ़ियों का योगदान है। इन चारों पीढ़ियों की पारस्परिक तुलना यहाँ पर उद्देश्य नहीं है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि पहली पीढ़ी के सभी लेखक आदर्शवादी ही हैं या दूसरी पीढ़ी में कोई उतावला नहीं है। फिर भी स्थूल रूप से यह श्रेणीकरण अशुद्ध नहीं कहा जा सकता क्योंकि यह श्रेणीकरण व्यक्तिगत न होकर परिस्थिगत है।

जीवन कविता के पीछे रहता है किन्तु उपन्यास और कहानी के आगे । इसलिए यह मानना कि कहानी आधुनिक भाव-बोध को ढोने में असमर्थ है, सत्य से बिल्कुल परे है। इस सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने कहा है- "आधुनिक जीवन के विभिन्न पार्श्व आज की हिन्दी कहानियों

में सरलतापूर्वक देखे जा सकते हैं। उसके पीछे देश और समाज के पिछले 25-30 वर्षों का इतिहास बोल रहा है, और बोल रहा है आधुनिक युग-बोध एवं भाव बोध अपने अच्छे बुरे रंगों एवं विभिन्न आयामों के साथ।"[1]

स्वातन्त्र्योत्तर कहानियों में व्यक्ति के मन को उद्वेलित करने की पूर्ण सामर्थ्य है क्योंकि इनमें प्रेमचन्द, प्रसाद, जैनेन्द्र तथा यशपाल और "अज्ञेय" की कहानी कला की परम्पराओं का सुन्दर समन्वयात्मक निर्वहन हुआ है। यदि हम 1950 से लेकर 1992-93 तक वर्षों की स्वातन्त्र्योत्तर कहानियों की उपलब्धियों को खोजना चाहे तो सहज ही मोहन राकेश की "मिस पाल", कमलेश्वर की "खोई हुई दिशाएं," नरेश मेहता की "अनबीता व्यतीत", राजेन्द्र यादव की "टूटना", के अतिरिक्त - अमरकान्त, निर्मल वर्मा, शिवप्रसाद सिंह, मन्नू भण्डारी, रवीन्द्र कालिया, सुधा अरोड़ा, मृदुला गर्ग, दूधनाथ सिंह अन्यानेक कहानीकारों की कहानियाँ इसकी प्रमाण हैं। इन कहानीकारों ने स्वातन्त्र्योत्तर काल की हिन्दी कहानी को नई दिशा ही नहीं दी, बल्कि भाषा को नई अर्थवत्ता भी दी है। चरित्रों के अभिनव यथार्थ को नये रूप दिए हैं एवं मानव मूल्य तथा मर्यादा एवं समकालीन जीवन में सन्निहित आधुनिक संवेतना को अभिव्यक्ति देकर नवीन स्थितियों को गरिमा दी है। जीवन के परिवर्तित संदर्भ एवं परिप्रेक्ष्य और नवीन सत्य इनके माध्यम से हिन्दी पाठकों के सम्मुख आते हैं।

आज का जीवन तो इतना विशाल, बहुमुखी और दुरूह एवं जटिल हो गया है कि उसे उसकी समग्रता के साथ महाकाव्यकार की भाँति देखना असम्भव है। आज तो उसे एक साथ न देखकर विभिन्न पार्श्वों और कोणों से ही देखा जा सकता है।"[2]

1- डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय-आधुनिक कहानी का परिपार्श्व-पृ० 87
2- वही " " -पृ087

कहानी के रूप में जो परिवर्तन आए उनके सम्बन्ध में भी यही कहना है कि किसी भी पीढ़ी का किसी एक रूप [फार्म] पर बिल्कुल ही एकाधिकार का दावा गलत है। प्रत्येक फार्म सभी पीढ़ियों में विद्यमान है चाहे उसके रूप में भिन्नता ही क्यों न हो। हाँ यह बात है कि किसने उसे बढ़ाया और उसमें क्रांतिकारी परिवर्तन किए। इस प्रकार हिन्दी कहानी का जो शानदार विकास विगत पचास साठ वर्षों में हुआ है उनमें इन चारों पीढ़ियों की महत्वपूर्ण भूमिका है।

गाल्सवर्दी का कथन है कि यदि तुम्हारे पास कहने को कुछ है, तो उसे चाहे जिस रूप में चित्रित करो, तुम्हारे पाठक उसे पसन्द करेंगे। तुम्हारा यह सृजन प्रभावशाली होगा और यदि कहने को कोई ठोस वस्तु नहीं है, तो चाहे अपनी रचना के परिवेश को जितना अत्याधुनिक बना लो, उस रचना में तुम प्राण संचार नहीं कर पाओगे।

नए लेखकों ने इस सत्य को गहराई से परखा और समझा जिस कारण वे इस ओर मुखातिब हुए। उन्हें अनुभव हुआ कि कहानियों के पिछले फार्म के मुकाबले आज का जन-जीवन बहुत ही जटिल हो गया है। मनुष्य का मन और मस्तिष्क आज की पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक शक्तियों से प्रभावित ही नहीं बल्कि संचालित भी हो रहा है। इस तरह मनोवैज्ञानिक गुत्थियाँ केवल भावना के क्षेत्र तक सीमित नहीं रहती, वे बहुत पेचीदी और जटिल बन जाती हैं। इस पेंचीदगी और जटिलता को कहानी का पुराना शिल्प सम्पूर्णतः अभिव्यक्त कर पाने में असमर्थ रहा तो लेखकों ने ऐसे नए शिल्प भाषा की खोज की जिसके माध्यम से उनका युग सत्य सम्पूर्णतः अभिव्यक्त किया जा सकता है। इन प्रयासों के होते हुए भी वर्तमान कहानी जनसाधारण की संपत्ति नहीं बन पाई है। इसका कारण

प्रेमचन्द, गुलेरी, प्रसाद, जैनेन्द्र, अश्क, यशपाल, "अज्ञेय" और फिर नई कहानी के दौर के रचनाकार- मुक्तिबोध, रेणु, निर्मल वर्मा, कमलेश्वर, मोहन राकेश, मार्कण्डेय, शिवप्रसाद सिंह, अमरकान्त, रामकुमार, शेखर जोशी, हरिशंकर परसाई आदि ने जिस अश्लीलता से बचने का प्रयास किया, उसी को सन् 60 के बाद की कहानियों में रचना का केन्द्र बना दिया गया। कुछ इन कहानियों ने किया और रही-रही कसर को सिनेमा ने पूरा कर दिया। फिर तो वही कहानी मान्य हुई जिसमें नारी की भरी-पुरी यौवनावस्था चित्रित हो, बलात्कार हो, पर-पुरुष से उसके सम्बन्धों का खुलासा हो। "भूषण ने उसे अँकवार में भर लिया इसके वक्ष की दोनों गेंदे-भूषण की छाती में प्रवेश करने को उमग रही थीं। उसने विशालाक्षी के खुले वक्ष के नीचे अपने हाथ रख दिया। वह उत्ताप न सह सकी और दोनों चारपाई पर गिर पड़े।"[1]

अंग्रेजी राज्य से पहले जब इस देश में न रेल थी और न ही "प्रेस" तब न जाने कितने ही गीत और कितनी कहानियाँ इस देश की संपत्ति बन जाती थीं। पूरा देश उनमें अपने आप को समाहित देखता था किन्तु स्थिति आज इसके बिल्कुल विपरीत है बड़े-बड़े प्रेसों में सैकड़ों टन कागज पर प्रतिदिन बहुत सारा साहित्य छापा जाता है और परिवहन के विभिन्न साधनों द्वारा देश के कोने-कोने में पहुँचा दिया जाता है। फिर भी इस साहित्य की एक पंक्ति भी कहीं व्याप्त नहीं मिलेगी। इससे स्पष्ट है कि हमारा साहित्यकार जन-जीवन से दूर हो गया है। मानव की सहज अनुभूतियाँ नहीं, अपनी "असहायता" ही उसकी रचना का मुख्य विषय बनी। इस चरण के साहित्य का जन-जीवन से विछिन्न हो जाने का मूल कारण यही है। पुनर्निमाण के वर्तमान युग में आवश्यकता तो इस बात की है

1- शिवप्रसाद सिंह- काला जादू, सारिका, दिसम्बर 86

कि व्यर्थ के शब्द समूह से लेखक बचने का प्रयास करते और आज के मानव जीवन से तादात्म्य स्थापित करते, आज की वास्तविक समस्याओं की तह में उन्हें समझते और उन्हें उसी रूप में चित्रित कर मानव-मन के अँधेरे से अँधेरे कोने पर प्रकाश की किरणें बिखेरते। पर इसके उल्टे अधिकांश कहानीकार अपने मनोविज्ञान में ही फँसे रहे। छठे दशक के बाद के कुछ वर्षों में अश्लीलता रूपी वृक्ष खूब फला-फूला और उच्चता या श्रेष्ठता के तमगे से वे कहानियाँ विभूषित हुईं, जिनमें ऐसे दृश्यों की यथार्थ और प्रगतिशीलता के नाम पर बहुलता थी। इसमें सन्देह नहीं की यह समय कहानी के ह्रास का था। इनमें चरित्रों और कथा का कहीं दूर-दूर तक पता नहीं था। वर्तमान की गहराई और इतिहास में जुड़ जाने की क्षमता भी इन कहानियों में नहीं रही।

आधुनिकता बोध

सेक्स के खुले चित्रणों की बढ़ती प्रवृत्ति में यथार्थ के साथ-साथ, पूँजीवादी विचारधारा की नियति, आधुनिकता बोध की महती भूमिका है। समाज को बाँटना, तोड़ना, छिन्न-भिन्न करना, व्यक्ति को अपनों से, अपने संस्कार-संस्कृति से अलग करना, मानवीय-मूल्यों, जीवन सत्यों मर्यादाओं और मानदण्डों आदि पर चोट करना और उनकी अप्रासंगिता सिद्ध करना अपनी विजय-पताका फहराने के लिए पूंजीवादी व्यवस्था की प्राथमिकता है। इसी आयातित विचार-धारा ने भारतीय जन-मानस में जहर घोल दिया। और यह आधुनिकता निर्मल वर्मा के अनुसार प्रेमचन्द के "कफन" के इस कथ्य से साहित्य में प्रवेश करती दिखायी देती है, जिसमें गाँव के जमींदार तथा और लोगों से कफन के लिए माँगे हुए पैसे से घीसू और माधव शराब पी जाते हैं। वर्मा जी का यह विचार कुछ हद तक सत्य

भी है। परन्तु ध्यान देने की बात है कि प्रेमचन्द इसे हम पर थोपते नहीं अपितु इसकी सम्भावनाओं से वे हमें सचेत करते हैं, इस दृश्य द्वारा कि यह विचारधारा और बोध हमें किस सीमा तक संवेदन ग्राह्य कर सकता है।

स्वतन्त्रता पश्चात् तीन-तीन विनाशकारी युद्ध चीन और पाकिस्तान से हुए हैं। अब बंगलादेश में जो कुछ हो रहा है वह हमसे बहुत गहराई से जुड़ा है। लगभग 80 लाख शरणार्थी अब तक देश में आ चुके हैं। अप्रत्यक्ष रूप से पाकिस्तान का यह तृतीय वार है। इसने हमारी मान्यताओं, परम्पराओं और मूल्यों को निरर्थक साबित तो किया ही, साथ ही इनके प्रति हमारी गहरी आस्था में भी दरार पैदा की। हमें अहिंसा, धर्म, नैतिकता और आस्था से नफरत हो गयी अथवा हमें ईमानदारी खराब लगने लगी यह तो बहुत बड़ाई बात नहीं है। इन सब कारणों से कहानी के रूप में परिवर्तन हुआ और हो रहा है।

कथा साहित्य में उक्त परिवर्तनों को आत्मसात् करने की सामर्थ्य अपेक्षाकृत अधिक थी। इसमें परिवर्तित परिस्थितियों में कहानी का रूप स्पष्टतः बदल गया। वह पहले की अपेक्षा अधिक विस्तृत हो गया। पर कहानी के स्वरूप को कुछ अंशों तक बदले बिना, उसके आयाम बढ़ाना सरल नहीं था। अब केवल एक चमत्कारपूर्ण भाव के चमत्कार पूर्ण इकहरे चित्रण तक ही कहानी सीमित नहीं रही। आज केवल एक मनः स्थिति या एक प्रतीक या एक व्यंग्यात्मक चित्रण के आधार पर भी कहानियों की रचना, होने लगी।

जहाँ तक साहित्यकार की ईमानदारी एवं उत्तरदायित्व का सवाल है वहाँ भी यही बात सामने आती है कि, उसे अपने परिवेश के प्रति जागरूक रहना चाहिए उसे युग सापेक्ष विचारधाराओं को निर्भीक स्वीकृति देनी चाहिए, और

उसे बदलते परिवेश को स्वीकार करते हुए उन समस्त दृष्टिकोणों को स्थापित करना चाहिए जो परम्पराओं के विरोध में उभरते चले आ रहे हैं"[1]

युगीन चेतना के परिप्रेक्ष्य में हमें आवश्यकता थी जुझारू नारी चरित्रों की जिसे नवें दशक के कुछ कहानीकारों ने दिया। वे सिनेमाई अंदाज से बिल्कुल दूर रहे और फिर कहानी की नयी शुरुआत हुई। संजय की "बैल बधिया" में शोषण के विरुद्ध मुरली बहू की आवाज बुलन्द ही हो जाती है, जिसे प्रेमचन्द का होरी मरकर भी अनहद-नाद का रूप दे गया था। वह कहती है- " जानत हई मालिक" अपने बछड़े को साँड़ बनाइएगा अउर हमरे बछड़े का बधिया करवाइएगा। इहे ना इरादा है मालिक। ससुर के बाद हमारा मरद आप के यहाँ, बैल बना, अब हमरे बेटे पर टकटकी लगाए हो। ई आशा छोड़ दें मालिक।"[2]

वह बिरादरी वालों की गैरत पर लानत भेजते हुए पति की लाश को अकेले उठाने लगी। " हम अकेले इनकी माटी को मशान घाट ले जाइब, बाकिर केहु के मुँह ना जोहब किकिरिया करम होई कइसन ना"[3] बिरादरी वाले एक औरत की हिम्मत देखकर दंग रह गए।

इसलिए यह कहा जा सकता है कि "स्वातन्त्र्योत्तर कहानी ने झूठ के तत्व को काटकर एक नई दिशा की ओर प्रयाण किया है। इस झूठ को काट फेंकने

1- कामरेड का कोट-"हिन्दी अनुशीलन नवम्बर 1994" पृ0 12।
2- वही वही
3- वही वही

में उन केन्द्रीय पात्रों का बहुत महत्व है जिन्होंने कहानी की इस मुक्ति में अनजाने ही योग दिया। प्रेमचन्द, यशपाल, रांगेय राघव आदि के यहाँ भी इस मुक्ति का संकेत मिलता है, पर उसकी समाप्ति सन् 50 के आस-पास ही हुई।"[1]
नवें दशक की अन्य कई कहानियों में कुशल नारी चरित्रों का चित्रण किया गया। जैसे नमिता सिंह की "बंती" और "या देवी सर्वभूतेषु" तथा शिवमूर्ति की "अकाल दण्ड" आदि उल्लेखनीय हैं।

हिन्दी कहानी की जो इतनी प्रगति हुई उसका एक बहुत बड़ा कारण मतभेद और रुचिभेद रहा है। परस्पर मत वैभिन्य के कारण भी कहानी के नए-नए शिल्प अन्वेषित हुए, नयी-नयी "वस्तुएं" खोजी गईं। इससे कहानी की टेकनीक बदली और उसमें बहुत अधिक संवेदनशीलता आ गई।

"आधुनिक युगबोध " को कहानी का सबसे नया फैक्टर घोषित किया गया। यह कोई बहुत चौंका देने वाली बात नहीं थी। किसी भी अच्छी रचना में अपने युग की छाया तो रहती ही है। "माडर्न सेन्सिबिलिटी (आधुनिक संवेदनशीलता) का भी भ्रामक अर्थ कुछ लोगों ने लिया। सभी तरह की चेतना व्यक्तित्व का आंतरिक अंश बन जाती है, वह एक दृष्टि है। अनुभव, अध्ययन, चिन्तन और इन सबसे बढ़कर ग्रहण करने की शक्ति द्वारा जब आज के युग की उपलब्धियाँ और समस्याएं व्यक्तित्व का अंश बन जाती हैं, तो उनकी छाप मनुष्य के सभी तरह के निर्माण पर स्वयं पड़ती है। पर यह एक निरन्तर प्रक्रिया है जो चिन्तनशील मनुष्य के सम्मुख सदा उपस्थित रहती है। परम्परा को पूर्णतया ठुकरा देना या सिर्फ वर्तमान में जीना आधुनिक संवेदनशीलता या चेतना का अभिप्राय नहीं है। समय का कालक्रम का निर्देश तो केवल समझने की सुविधा के लिए किया जाता है।

1- कमलेश्वर-नयी कहानी की भूमिका-पृ0 90

वस्तुत: सन् 1975 के बाद देश में तीव्र गति से परिवर्तन हुआ। आपातकाल, ब्ल्यूस्टार आपरेशन और उसकी परिणति इंदिरा गांधी की हत्या तथा हत्या की प्रतिक्रिया में हुए दंगों ने हमारे मानस, हमारी मानवता को झकझोर दिया। भ्रष्टाचार का विकराल रूप, राजनीतिक स्वार्थपरता का खुल्लम-खुल्ला खेल, अयोध्या के विवादित ढाँचे का ढहना तथा मण्डल की राजनीति ने भारतीय समाज को खण्डित किया। मँहगाई का दंश, व्यवस्था की बढ़ती क्रूरता आदि ने हमारे जीवन में कुंठा भय, संत्रास तो पैदा ही किया साथ ही हमारे जीवन की सार्थकता पर सवालिया निशान भी लगा दिया। इन सबसे प्रभावित हुआ मध्यवर्ग- मध्यवर्ग की सबसे बड़ी विडम्बना यह है कि वह व्यवस्था के आतंक और भय से आक्रांत दिखाई पड़ता है। मध्यवर्ग का सबसे बड़ा हिस्सा एक ही तरह की नौकरी-पेशा वालों का वह वर्ग है जो एक तरफ अपने कार्यालयों में "बॉस" से जूझता है दूसरी तरफ अपने आर्थिक एवं पारिवारिक संकटों से। गरीबी, अभाव, असंतोष और अपमान तो उसे पुरस्कार के रूप में मिलता है। इससे यदि वह छुटकारा पाना चाहता है, तो वह चापलूसी, छल-कपट, झूठ-फरेब, भ्रष्टाचार, बेईमानी में लिप्त हो अन्यथा यही तो आज की व्यवस्था का कटु यथार्थ है और मानव जीवन की नियति भी। "पुल टूटते हुए" (बदीउज्जमा) का नायक घर में भी कार्यालय के आतंक से निजात नहीं पाता। आर्थिक तंगी से मध्यवर्ग बार-बार अपमानित होता है- परिवार में, परिवार के बाहर भी।

इसलिए सुधीर पचौरी कहते हैं कि आज की कहानी का नायक तो मर चुका है या हाशिये पर चला गया है, पर ऐसा नहीं है। दिनेश पाठक की कहानी "जारी है"[1] उस ईमानदार व्यक्ति की कहानी है जो घूस नहीं लेता है, पर आर्थिक

1- हिन्दी अनुशीलन- नवम्बर 1994-पृ0 124

तंगी को सहर्ष झेलता है। बेटे की शिक्षा अधूरी, बेटियों की शादी बाकी। इसके लिए वी0के0 जैसे जिलाधिकारी उसे पुरस्कृत भी करते हैं। पर ईमानदार अधिकारी भ्रष्टाचार में लिप्त शासन को कब तक सह्य है, वह जिन असामाजिक तत्वों से जूझ रहा है, उन्हीं के कहने पर उनका तबादला सामान्य पद पर कर दिया जाता है। राजनीतिज्ञों को तो सिर्फ अपने हितों की रक्षा का ख्याल है। यहाँ जो कुछ हो रहा है एक खास वर्ग के लिए आम आदमी के नाम पर अथवा शोषितों दलितों के प्रश्न पर केवल आँकड़े भर पीटे जा रहे हैं।"[1] और कथा नायक सियावर बाबू की लड़ाई घर और बाहर दोनों मोर्चों पर हो रही है।

वर्तमान समय में हिन्दू -मुस्लिम दंगे तो देश की सहज प्रकृति हो गए हैं। कब कहाँ, बिना बात -बेबात, समय- असमय भड़क जायेंगे, कह पाना कठिन है। पर 1984 में इन दंगों की विभीषिका की लपट ने सिखों को भी निगल लिया। इन दंगों से पीड़ित मानवता की परतें खोलती कहानियों - में देवेन्द्र इस्सर की "मफरूर", गिरीशचन्द्र श्रीवास्तव की "फैसला", भगवानदास मोरवाल की "पहली हत्या", हंसराज रहबर की "पूरे राष्ट्र की आवाज" (हंस 92 मार्च) प्रमुख हैं।

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कहानी जीवन से सम्बद्ध रही है इस सम्बन्ध में डा0 लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के विचार महत्वपूर्ण हैं- "नई पीढ़ी के कहानीकारों ने त्वरित गति से पैंतरा बदला। पिटे-पिटाये विषय छोड़े, पिटी-पिटाई टेकनीक छोड़ी और गतिरोध को पास फटकने तक का अवसर न दिया। कुछ कहानीकारों की रचनाओं को छोड़कर आज की हिन्दी कहानी में सामाजिक यथार्थ बोध का

1- हिन्दी अनुशीलन-नवम्बर, 1994-पृ0 124

प्रभाव नहीं है जो उसकी अपनी परम्परा का नवीनतम संस्करण है। आत्मपरक कहानियां भी हिन्दी में लिखी जा रही हैं, किन्तु रेणु, अमरकांत, सुरेश सिनहा, भीष्म साहनी आदि अनेक ऐसे कहानी कार भी हैं जो हिन्दी कहानी को जीवन से सम्बद्ध करने में प्रयत्नशील हैं।"[1]

इस प्रकार हम यह पाते हैं कि स्वतन्त्रता के पश्चात् की कहानियों के स्वरूप और विकास में बहुमुखी प्रगति हुई।इस काल की अधिसंख्य कहानियाँ मानव जीवन के विविध पक्षों का उद्घाटन करने में सफल रही हैं। जो भविष्य के लिए एक सुखद लक्षण है, जिसमें निहित है - विस्तृत चिंतन, प्रेरणा और समाज से जुड़ने की उत्कट अभिलाषा।

---

1. डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय- श्रेष्ठ हिन्दी कहानियाँ-पृ० 7-8

अध्याय 2

कहानी आन्दोलनों का विकासात्मक परिचय

खण्ड 1

स्वतन्त्रतापूर्व कहानी आन्दोलन

कथा के क्षेत्र में प्रेमचन्द के रचना-काल में ही राष्ट्रीय आन्दोलन की लोकप्रियता साहित्य जगत में बढ़ी। पुनरुत्थान की भावना ने इतिहास की ओर नए सिरे से देखने के लिए लेखकों को विवश किया, जिसका सूत्रपात "जयशंकर प्रसाद" की कहानियों में हो चुका था। प्रेमचन्द ने इस ऐतिहासिक प्रवृत्ति को अपने ढंग से अपनी कहानियों में अपनाया और उनमें अपनी समाज सुधार की भावना को उन्होंने सुरक्षित रखा। "राजा हरदौल", "रानी सारन्धा" और "मर्यादा की वेदी" जैसी कहानियों को इस संदर्भ में देखा जा सकता है। इसी काल में आदर्श पर वृन्दावनलाल वर्मा की ऐतिहासिक कहानियाँ "राखीबन्द भाई" तथा "तातार और एक वीर राजपूत" लिखी गईं। वृन्दावनलाल वर्मा की ऐतिहासिक कहानियों में न तो "प्रसाद" की ऐतिहासिक कहानियों की भाँति भावुक कल्पना एवं वातावरण का रंगीन कवित्वपूर्ण चित्रण है और न तो उनमें प्रेमचन्द की ऐतिहासिक कहानियों की भाँति समाजसुधार की भावना है, बल्कि ऐतिहासिक तथ्य, खोज और स्वाभाविकता को इन्होंने अपनी ऐतिहासिक कहानियों में महत्व प्रदान किया है।

प्रथम विश्व महायुद्ध (सन् 1914-18 ई0) के उपरान्त विश्व के सामाजिक मूल्यों में महान् परिवर्तन आया और विश्व जीवन की भाव धारा बदली। भारतीय जनजीवन भी इस समय तक पाश्चात् सभ्यता के पर्याप्त निकट आ चुका था जिससे वह भी निर्लिप्त न रह सका। पाश्चात्य साहित्य में लोकप्रियता प्राप्त करने वाली प्रवृत्तियों ने भारतीय कहानीकारों की दृष्टि में भी परिवर्तन किया। परिणामस्वरूप हिन्दी के कहानी कार, फ्रायड के "भोगवाद," "गांधीवाद" और "मार्क्सवाद" से परिचित हुए। गांधीवाद के प्रभाव में आदर्शवादी और मार्क्सवाद के प्रभाव में यथार्थवादी संरचनाओं की लोकप्रियता बढ़ी। मार्क्स के अर्थमूलक यथार्थवाद के समानांतर ही "फ्रायड" के काममूलक "भोगवाद" की ओर कहानीकार उन्मुख हुए।

सन् 1922 ई0 में हिन्दी कहानी के क्षेत्र में पं0 बेचन शर्मा "उग्र" का आगमन एक महत्वपूर्ण घटना है। सामाजिक दृष्टिकोण, भाषा-शैली, कथानक और कल्पना आदि सभी क्षेत्रों में "उग्र" जी ने अपने नवीन दृष्टिकोण, विद्रोही भाव और मौलिकता का परिचय दिया प्रेमचन्द युगीन आदर्शवादी आवरण को उतार फेंकने की इनमें उत्कट अभिलाषा थी और इन्होंने अपनी कहानियों में समाज को उसके वास्तविक रूप में चित्रित किया। प्रचण्ड यथार्थवाद की नग्नता से प्रेरित इनकी "प्रकृतिवादी" शैली के माध्यम से आये कुछ घिनौने चित्र लोगों को अवांछित भले लगे, पर उनकी वास्तविक शक्ति से कोई इन्कार नहीं कर सकता। "देशभक्त," "मुक्ता," "समाधि," "माँ की चुनरी की साध," "चोड़ा छुरा" तथा "रेशमी" आदि कहानियाँ "उग्र" जी की विविध कहानियों का प्रतिनिधित्व करती है। ऋषभचरण जैन तथा चतुरसेन शास्त्री जैसे कहानीकारों की कहानियाँ इसी श्रेणी में आती हैं।

यथार्थवादी आन्दोलन के संदर्भ में सन् 1928 ई0 में जैनेन्द्र का हिन्दी कहानी क्षेत्र में आगमन विशेष महत्व रखता है जिससे एक नये क्षितिज का उद्घाटन हुआ। प्रेमचन्द की कहानियों के माध्यम से बाह्य सामाजिक सत्यों का मुल्यांकन सफलतापूर्वक हो चुका था, पर उससे भी महत्वपुर्ण सत्य की तलाश अभी बाकी थी। जैनेन्द्र ने अपनी कहानियों के माध्यम से प्रेमचन्द के अधूरे सत्य को समाज के अन्तः सत्यों के उद्घाटन से पूर्णता प्रदान की। बदलती सामाजिक परिस्थितियों में जिस टूटते हुए संयुक्त परिवार के प्रति प्रेमचन्द ने आशंका व्यक्त की थी और अपने आदर्शों के माध्यम से उसे रोकना चाहा था, वह "अलभ्योक्षा" होकर रहा। सामाजिक दृष्टिकोण सिमट कर व्यक्ति में समाहित होने लगा और विवश होकर कहानीकारों को समष्टि के स्थान पर व्यष्टि का चित्रण करना पड़ा। समष्टिवादी दृष्टिकोण द्वारा प्रस्तुत यथार्थवाद व्यष्टिवादी दृष्टिकोण द्वारा प्रस्तुत यथार्थवाद से सर्वथा

भिन्न हुआ करता है। वह बाह्य सत्य पर आधारित न होकर अन्त: सत्यों पर आधारित होता है। यही अन्त: सत्य जैनेन्द्र की कहानियों का मूलाधार बना।

जैनेन्द्र जी की पहली कहानी "हत्या" सन् 1927ई0 में प्रकाशित हुई। मुंशी प्रेमचन्द के पश्चात् जैनेन्द्र हिन्दी के सर्वाधिक प्रतिभाशाली कहानीकार के रूप में स्वीकार किए जा सकते हैं। इन्होंने प्रेमचन्द-मण्डल-कथाभूमि से बाहर झाँकने का सफल प्रयत्न किया। इसके पूर्व बंगाल के प्रसिद्ध कथाकार शरच्चन्द्र की आत्मनिष्ठ कहानियों की धूम मच चुकी थी और वे हिन्दी पाठकों में भी अनुवाद के माध्यम से काफी लोकप्रिय हो चुके थे। जैनेन्द्र जी पर इसका अत्यधिक प्रभाव पड़ा, पर प्रेमचन्द की सशक्त लेखनी से विकसित कहानियों के प्रभाव से सर्वथा मुक्त हो जाना भी संभव नहीं था। इस प्रकार जैनेन्द्र ने अपनी कहानियों में प्रेमचन्द और शरच्चन्द्र की कला का समन्वय करना चाहा है। जीवन-दर्शन और मनोविज्ञान जैनेन्द्र की कहानियों के मूलाधार रहे हैं। "एक रात" (सन् 1935) से लेकर "जय संधि" (सन् 1948) तक की कहानियों में ये दोनों धरातल समान रूप से देखने को मिल जाते हैं। अब तक की कहानियों में शिल्प-विधान, घटना के प्राधान्य, इतिवृत्त के विस्तार, बाह्य संघर्षों तथा परिस्थितियों के चित्रण पर जो विशेष बल दिया जाता था, उससे आगे हटकर जैनेन्द्र की मनोवैज्ञानिक कहानियों ने स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म चित्रण की प्रवृत्ति को महत्त्व प्रदान किया। जैनेन्द्र की मनोवैज्ञानिक कहानियों में सामान्य के स्थान पर विशिष्ट चरित्रों को महत्त्व प्रदान किया गया, जो किसी न किसी अन्तर्द्वंद्व, घात-प्रतिघात और मानसिक उलझन के शिकार हैं।[1] "इस संदर्भ में इनकी "एक रात", "राजीव की भाभी," "मास्टर जी," "क्या हो" और "जाह्नवी " जैसी कहानियाँ

1- डा0 त्रिभुवन सिंह-हिन्दी साहित्य एक परिचय -पृ0 289

का नाम लिया जा सकता है।

सियारामशरण गुप्त ने भी इसी समय अपनी कहानियाँ लिखी और इनमें नवीन शिल्प विधान को महत्व प्रदान किया, पर उन्हें जैनेन्द्र के सामने वांछित लोकप्रियता नहीं मिल सकी। "पथ में से," "काकी," "मुंशी जी," "झूठ सच" और "कोटर और कुटीर" जैसी कहानियों में साधारण ढंग का मनोविश्लेषण देखने को मिलता है।

विशुद्ध मनोवैज्ञानिक कहानियों की सर्वाधिक शक्ति "अज्ञेय" की कहानियों में देखने को मिलती है। सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन "अज्ञेय" जैसे विलक्षण प्रतिभा के धनी साहित्यकार कम ही होते हैं। उनका समस्त जीवन युगीन विद्रोह का प्रतीक है, जो उनकी रचनाओं में भी प्रतिपादित हुआ। उपन्यास, कविता और कहानी, सभी क्षेत्रों में अज्ञेय की प्रतिभा ने अपना चमत्कार दिखलाया है। "अज्ञेय" जी की साहित्यिक उपलब्धियों को देखते हुए यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि उन्होंने साहित्य की सभी प्रमुख विधाओं को नवीन मोड़ दिया है। इन्होंने घटना प्रधान कहानियों को चरित्र प्रधानकहानियों का स्वरूप दिया। चरित्रों के अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण मनोविश्लेषण और चिन्तन के आधार पर पहली बार विश्वसनीय रूप में "अज्ञेय" की कहानियों में देखने को मिला। भारतीय नारी के प्रताड़ित जीवन का बड़ा ही सजीव चित्रण "अज्ञेय" की कहानियों में देखने को मिलता है। अभाव पीड़ित नारी के विद्रोही भावों के प्रति सहानुभूति उत्पन्न करना "अज्ञेय" की कहानी कला की सबसे बड़ी शक्ति है। जैनेन्द्र की भावुकतापूर्ण शैली को "अज्ञेय" ने "चिन्तन" का ठोस धरातल प्रदान किया। इनकी "रोज" नामक कहानी को उदाहरण के लिए लिया जा सकता है। यदि हम चाहें तो इनकी कहानियों को "सोद्देश्य सामाजिक आलोचना सम्बन्धी, राजनीतिक बन्दी जीवन सम्बन्धी, चरित्र विश्लेषण सम्बन्धी

और प्रतीकों के सहारे मानसिक संघर्षों के अध्ययन सम्बन्धी, चार वर्गों में विभक्त कर सकते हैं। इनकी चरित्र प्रधान कहानियाँ बहुत अच्छी बन पड़ी हैं। चरित्रों की अवधारणा "अज्ञेय" जी ने "अहं" विद्रोहात्मक एवं विश्लेषणात्मक तत्वों के आधार पर की है। कथात्मक, आत्मकथात्मक, नाटकीय, पत्रात्मक, प्रतीकात्मक तथा मिश्र आदि विविध शैलियों का सफल निर्वाह भी "अज्ञेय"की कहानियों में देखने को मिला। कहानी लेखन का कार्य तो इन्होंने सन् 1924 ई0 के आसपास ही आरम्भ कर दिया था पर अव्यवस्थित क्रांतिकारी जीवन, जीने के कारण उसे व्यवस्थित रूप बाद में ही दे सके। विपथगा, परम्परा, कोठरी की बात, शरणार्थी तथा जयदोल नाम से प्रकाशित इनके प्रमुख कहानी संग्रह हैं।

इलाचन्द्र जोशी को भी मनोवैज्ञानिक कहानी आन्दोलन के प्रतिनिधि के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। मध्यवर्गीय ह्रासोन्मुख जीवन की विश्लेषणात्मक आलोचना और अहं भाव की एकांतिकता पर निर्मम प्रहार इनकी मनोवैज्ञानिक कहानियों के दो प्रमुख धरातल हैं। इस दृष्टि से "अज्ञेय" और "जोशी" की कहानियों में स्पष्ट अन्तर दिखायी पड़ता है। "अज्ञेय" अहं रूप को विश्लेषण के माध्यम के रूप में लेते हैं और "जोशी" जी अहं रूप पर प्रहार करते हैं। "अज्ञेय"की कहानियों में अन्तर्मुखी जीवन का चित्र उभरा है तो "जोशी" जी ने अन्तर्जगत् और बहिर्जगत का सुन्दर समन्वय किया है। मध्यवर्गीय ह्रासोन्मुखी जीवन को चित्रित करने वाली "जोशी" की कहानियों में "चरणों की दासी," "होली," "अनाश्रित," "रक्षित धन का अभिशाप," "रोगी," "परित्यक्ता," "जारज," एकाकी" और पतिव्रता या पिशाची' प्रमुख है। इनमें इतिवृत्तात्मक शैली अपनाई गई है तथा आरम्भ, मध्य और अन्त पूर्ण सुनिश्चित एवं व्यवस्थित हैं। अहं की एकांतिकता पर प्रहार करने वाली कहानियों में "मैं" और "मेरी डायरी" के दो नीरस पृष्ठ" प्रमुख हैं। इनकी कहानियों में

शिल्पगत प्रयोग के प्रति कहीं भी आग्रह नहीं दिखलाई पड़ता, बल्कि उनमें कथातत्व का सफल निर्वाह हुआ है। भगवती प्रसाद वाजपेयी, विनोदशंकर व्यास, तथा वाचस्पति पाठक आदि की कहानियाँ भी इसीकाल की रचनाएँ है। भगवती प्रसाद वाजपेयी मध्यवर्गीय समाजों की मान्यताओं के उतार-चढ़ाव के कटु आलोचक कहानीकार हैं। इनकी कहानियों में भावुकता, आदर्शवादिता और भारतीयता के दर्शन होते हैं। उदाहरण स्वरूप इनकी प्रसिद्ध कहानी "मिठाई वाला" को देखा जा सकता है।

भगवती चरण वर्मा की कहानियों का ढाँचा प्रेमचन्द मण्डल की कहानियों के अत्यधिक निकट दिखाई पड़ता है, पर उनकी आत्मा में पर्याप्त भेद है। कहानी के क्षेत्र में उनका आगमन कई प्रवृत्तियों के संगम के साथ हुआ। चरित्रचित्रण के प्रति उनका आकर्षण, मानव मन की लाचारी, उसकी कमजोरी और विवशता को पहचानने की मनोवैज्ञानिक पैठ के प्रति उनकी आसक्ति, जीवन की कुरूपताओं और उसके बाह्य द्वन्द्वों के उत्कट संघर्षों की यथार्थ झाँकी प्रस्तुत करने का आग्रह तथा दुखी मानवता के प्रति कट्टर सहानुभूति का आग्रह उन्हें क्रम से "प्रेमचन्द", "अज्ञेय" "उग्र" और "प्रगतिवादी आन्दोलन"के निकट ले जाती है। हिन्दी कथा-साहित्य में भगवतीचरण वर्मा जैसा व्यंग्य लिखने वाला कथाकार दूसरा देखने में नहीं आता । विशिष्ट चरित्रों के निर्माण में इनकी व्यंग्यात्मक शैली और भी सफल प्रमाणित हुई है। इनकी कहानियों में कथा वस्तु घटनाओं या कार्यों को बिल्कुल महत्व नहीं दिया गया है, बल्कि "कथा" या "कार्य" का उनमें नितान्त अभाव है। उदाहरण के लिए "मुगलों ने सल्तनत बख्श दी" कहानी को ले सकते हैं। जब बादशाह ने उठकर कहा- "हमने तै कर लिया । हम अमीर तैमूर की औलाद हैं। हमारे बुजुर्गों ने कह दिया, वह होगा। उन्होंने तम्बू के नीचे की जगह फिरंगियों को बख्श दी थी, तब दिल्ली भी उस तम्बू के नीचे आ रही हो तो आवे, मुगल सल्तनत जा रही है तो जाय लेकिन दुनिया देख

से अमीर तैमूर की औलाद-- हमेशा अपने कौल की पक्की रही।"[1] इतना कहने के साथ बादशाह ने दिल्ली छोड़ दी।

प्रेमचन्द की भाँति उपेन्द्रनाथ "अश्क" भी उर्दू से हिन्दी में आए। प्रेमचन्द के यथार्थवादी दृष्टिकोण का आधुनिक रूप "अश्क" की कहानियों में देखने को मिलता है। इनमें एक ओर जहाँ प्रेमचन्द की भाँति समाज की आलोचना की प्रवृत्ति पाई जाती है, वहीं दूसरी ओर व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक व्याख्या भी देखने को मिलती है। "जुदाई की शाम का गीत," "मरीचिका," "चित्रकार की मौत" और "नरक का चुनाव" इनकी प्रतिनिधि कहानियाँ हैं।

सन् 1930 के बाद भारतीय राजनीतिक परिस्थितियों में पुन: परिवर्तन के लक्षण दिखलाई पड़ने लगे। स्वतन्त्रता आन्दोलन तीव्रता की ओर बढ़ने लगा था, परिणामस्वरूप देश के भीतर धीरे-धीरे मानसिक तैयारी आरम्भ हो गई। यूरोप में लोक प्रिय हो रही राजनीतिक विचारधाराओं से भी भारतीयों का अत्यधिक परिचय बढ़ने लगा। इसी बीच सन् 1935ई0 के बाद कांग्रेस ने वैधानिक सुधारों को स्वीकार किया और सन् 1939 ई0 में द्वितीय विश्वव्यापी युद्ध आरम्भ हो गया। सन् 1940 ई0 में 15 सितम्बर को अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी की एक आवश्यक बैठक बम्बई में बुलाई गई, इसमें वायसराय के रुख पर निराशा और नाराजगी प्रकट की गई। स्वीकृत प्रस्ताव में कहा गया कि "अब तक काँग्रेस ने बड़े धैर्य, संयम और संकोच से कार्य किया है किन्तु इस प्रकार का संकोच बने रहने पर काँग्रेस का ही अस्तित्व खतरे में पड़ सकता है अत: यह जरूरी हो जाता है कि अब इसे और बर्दाश्त

1- भगवती चरण वर्मा-मुगलों ने सल्तनत बख्श दी-
श्रीकृष्ण लाल और हिन्दी कहानियाँ-पृ0 49, व्याख्याकार (रमाशंकर तिवारी)

न कर शासन को सही निर्णय लेने के लिए बाध्य किया जाय।"[1] परिणाम स्वरूप सन् 1940ई0 में ही महात्मा गाँधी ने नारा दिया-- "अंग्रेजों भारत छोड़ो" और सन् 1942 में अगस्त की क्रान्ति हुई। फलत: राजनैतिक जागरूकता का प्रभाव कहानी साहित्य पर भी पड़ा। इसी बीच यशपाल की कहानियाँ लिखी गई जिसमें विशिष्ट राजनीतिक विचार धारा को निरूपित किया गया। मुंशी प्रेमचन्द के बाद कथा कहने की जितनी शक्ति यशपाल में देखने को मिली इतनी अन्य किसी कहानीकार में नहीं। इनकी कहानियों में साहित्यिक और साधारण पाठक समान रूप से आनन्द की उपलब्धि करते हैं। यशपाल सच्चे अर्थों में जन साधारण के लिए प्रतिनिधि कहानीकार हैं। समाजवादी दृष्टिकोण अपनाने के कारण यशपाल की कहानियों में वर्ग संघर्ष उभर कर सामने आया है। क्रांतिकारी जीवन की साहसिकता ने इन्हें यौन समस्याओं की ओर भी आन्दोलित किया है। स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों को लेकर लिखी गई कहानियों में यशपाल ने नये-नये मापदण्डों की प्रतिष्ठा की है। जिस प्रकार ग्रामीणों की ओर प्रेमचन्द की दृष्टि जमी रही उसी प्रकार मध्यवर्गीय समस्याओं की ओर यशपाल की दृष्टि बराबर जमी रही। "निरापद" कहानी में बेरोजगार युवक सूरज के सामने रोटी की समस्या है उसने सिपाही को उत्तर दिया, "हुजूर, घर पहाड़ में है। नौकरी ढूँढने आया हूँ।"[2] इसी प्रकार का स्वर इनकी दूसरी कहानियों में भी सुना जा सकता है। यशपाल के समकालीन अन्य कथाकारों में "पहाड़ी, अमृतलाल नागर, अमृतराय और कृष्णदास आदि हैं।

1- दुर्गाप्रसाद गुप्त- भारत का स्वतन्त्रता संग्राम -पृ0 140

2- यशपाल - निरापद-कहानी संकलन [प्रधान सं0 जैनेन्द्र कुमार] ,पृ0 113

सन् 1939 ई0 के द्वितीय विश्व महायुद्ध के प्रभाव में बनने वाले समाज को हिन्दी कहानियाँ जीवन के विविध क्षेत्रों में चित्रित कर रही थी कि सन् 1947ई0 की महत्वपूर्ण घटना घटी। चिरप्रतीक्षित स्वतन्त्रता प्राप्त करने में देश सफल हुआ। अंग्रेज भारत छोड़कर चले गए, पर जाते-जाते उन्होंने अनेक विषम समस्यायें उत्पन्न कर दी। देश के विभाजन के परिणाम स्वरूप पंजाब, बिहार और बंगाल में साम्प्रदायिक दंगे हुए, भयंकर नरसंहार हुआ और इसी समय बंगाल में अकाल पड़ा। परम्परा के रूप में चली आती सामाजिक मान्यतायें एकबारगी टूटने लगी। इन समस्त घटनाओं का समन्वित प्रभाव हिन्दी कहानियों पर पड़ा। ऐसी स्थिति में कहानी के स्वरूप में परिवर्तन का आना स्वाभाविक हो गया।

अध्याय 2

खण्ड-2, स्वातन्त्र्योत्तर कहानी आन्दोलन

- नई कहानी आन्दोलन
- अकहानी "
- सचेतन कहानी "
- समान्तर कहानी "
- जनवादी कहानी "
- सक्रिय कहानी "

नई कहानी आन्दोलन एक परिचय:

स्वतन्त्रता के बाद हिन्दी-साहित्य के इतिहास में एक नया मोड़ आया। स्वतन्त्रता से पूर्व देश के समक्ष दो प्रकार की समस्याएं थी, एक स्वतन्त्रता की प्राप्ति और दूसरी समाज सुधार। 15 अगस्त 1947 को देशवासियों ने प्रथम लक्ष्य को तो प्राप्त कर लिया, लेकिन दूसरा लक्ष्य अभी शेष रहा। अन्य देशों की भाँति भी भारतवर्ष में सामाजिक दृष्टि से अनेक प्रकार की समस्याएं रही हैं, निर्धनता, बेरोजगारी, किसान और मजदूरों का शोषण, जातीय एवं सामाजिक वैभिन्य, धार्मिक विभिन्नताएँ, सामाजिक वैमनस्य आदि देश की प्रमुख समस्याएँ रही । इनके अतिरिक्त स्त्रियों को लेकर ढेर सारी विषमताएँ लक्षणीय रही हैं।

भारतीय लेखकों ने स्वतन्त्रता के पश्चात् भारतीय संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में विविध समस्याओं को साहित्य के माध्यम से उजागर किया। हिन्दी में काव्य के क्षेत्र में सर्वाधिक गहमागहमी रही। आधुनिक काल में छायावाद के अवसान के बाद प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नई कविता, अकविता, भूखी पीढ़ी की कविता, बीर कविता, बीरनिक कविता, श्मशानी कविता आदि लगभग पचास प्रकार के आन्दोलन चलाए गए। कविता के पश्चात् कहानी के क्षेत्र में पर्याप्त गहमागहमी रही । कहानी आन्दोलनों के रूप में अनेक प्रकार के तेवर लक्षित किए गए। कविता के समान कहानी में भी नई कहानी, अकहानी, सचेतन कहानी, समान्तर कहानी, सक्रिय कहानी, जनवादी कहानी आदि अनेक आन्दोलन चले और आज भी इस प्रकार के प्रयास चल रहे हैं। कविताओं, कहानियों अथवा अन्य प्रकार की कोई विधा हो, सभी में एक लक्ष्य विशेष रूप से दिखता है। आजादी के बाद का रचनाकार अपने को जैसे तैसे साहित्य के क्षेत्र में प्रस्थापित करने के लिए अनुकूल-सा दिखाई पड़ता है। इसीलिए

वह पुराने ख्यातिलब्ध स्थापित साहित्यकारों के मूर्तिभंजन में लगा हुआ है। उसे ऐसा प्रतीत होता है कि जब तक पुरानी जानीमानी दिव्य विभूतियों को तोड़ा नहीं जायेगा। सरस्वती के मन्दिर में उसे स्थान संभवत: नहीं मिल सकेगा। कविता कोई हो अन्तत: कविता है। इसी प्रकार कहानी को किसी के नाम से अभिहित किया जाए वह कहानी ही है, कहानी के माध्यम से स्वातन्त्र्योत्तर तेवरों को समझने की अपेक्षा है।

नई कहानी का उदय अपने प्राचीन मूल्यों के परिवर्तित जीवन मूल्यों की अभिव्यक्ति के रूप में हुआ। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व लिखी जा रही हिन्दी-कहानी आदर्शों की कहानी थी। यद्यपि समाज की माँग यथार्थ दृष्टि की थी और वह आदर्शों की कथनी से ऊब चुका था। समाज भी आर्थिक संकट में था, नारी तथा समाज के अन्य पीड़ित और दलितवर्ग, भ्रष्टता और नैतिक एवं चारित्रिक संकट के माहौल में पैदा हुई युवापीढ़ी के असंतोष और जीवन के विघटित होते हुए मूल्यों के कारण पैदा हुए परिवेश का शिकार बना हुआ था। देश के विभाजन के साथ जैसे मानवता का अंत ही हो गया था। राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उसके भयंकर परिणाम दिखाई दे रहे थे। देश में बनी योजनाओं से एक ओर कुछ भौतिक प्रगति हुई, तो दूसरी ओर सामाजिक कुंठाओं और टूटती हुई आस्थाओं का प्रभाव तीव्र होता गया। समाज में आर्थिक दृष्टि से विपन्न रहने पर कुण्ठा, एकाकीपन अजनबीपन, घुटन निरूद्देश्यता, नपुंसक, आक्रोश की भावना उत्पन्न हो गई। नई पीढ़ी के साहित्यकार के सम्मुख भ्रष्टाचार, बेईमानी, धाँधली, सत्ता का मोह आदि समस्याएं ही रह गई। नई कहानी का जन्म ही इन समस्याओं के घेरे में हुआ। अपने चारों ओर के वातावरण से विक्षुब्ध होकर, नये कहानीकारों के हृदय में तीव्र प्रतिक्रिया हुई और उस प्रतिक्रिया के फलस्वरूप नई

कहानी ने जन्म लिया। मानव मूल्य, नैतिकता, अनैतिकता, वैज्ञानिक और टेक्नालॉजिकल प्रगति के बीच वह भूख, नवीन परिस्थिति में यौन सम्बन्ध आदि यथार्थ को कहानीकार ने कहानी के माध्यम से भोगे हुए यथार्थ की भाँति लिखा।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद विषमताओं और विपन्नताओं के मध्य नई कहानी का जन्म तो हुआ, लेकिन एक समस्या उठी कि , नई कहानी का मूल रूप में शुरूआत किसने किया। नई कहानी का शुरूआत किसी एक कहानी के निर्माण से नहीं हुआ, बल्कि नई कहानी अपनी पिछली परम्परा का युगानुकूल स्वाभाविक विकास है।

सामान्यतया नई कहानी का प्रारम्भ प्रेमचंद की "कफन"[1] कहानी से माना जाता है क्योंकि इस कहानी में नई कहानी की सभी विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं।

भारतवर्ष का आम आदमी आलसी, निकम्मा है। बिना परिश्रम के पेट भरना चाहता है दरिद्रता, अनियमितता, आलस्य इस कहानी की मूल कथा है। यह कहानी कथ्य प्रधान है, इसमें कथानक जैसा कुछ भी नहीं है, बिना कथानक के ही "कफन" कहानी बुन दी गई है।

बुधिया प्रसव-पीड़ा से कराह रही है, लेकिन उसका पति माधव और ससुर घीसू भूख के वशीभूत हो, अलाव में आलू भूनकर खाने में भिड़े हुए हैं। दोनों एक दूसरे से बुधिया के पास जाने के लिए कह रहे हैं लेकिन उसके पास कोई नहीं जाता। अन्ततोगत्वा प्रसव-पीड़ा से बुधिया की मृत्यु हो जाती है।

सबेरा होने पर पिता व पुत्र शोक मनाने का नाटक करते हैं । पहले वे जमींदार के यहाँ जाते हैं और पैसा लाकर खा पी जाते हैं।

1- हिन्दी की प्रगतिशील कहानियाँ-सं0 धनंजय वर्मा, पृ0 12

पुत्र के मन में कहीं अपराध बोध है, पिता अनुभवी है और वह पुत्र को समझा देता है कि पुन: रूपया उगाहने के लिए कह देंगे कि, रूपया टेंट से गिर गया।

लेखक बड़ी ही तीखी भाषा से सारे परिवेश को उद्घाटित करता है। कथानक की अपेक्षा विस्तार को अधिक महत्व दिया है। कहानी की शिल्प और भाषा में ताजगी है।

"कफन" कहानी में नई कहानी की भाँति ही चरित्र की अपेक्षा घटनाओं को ज्यादा विस्तार दिया है। इस कहानी में बुधिया की मौत को विस्तार दिया गया है। कहानी का कोई अन्त और उद्देश्य नहीं है, कौतूहल नहीं है, जो कि, नई कहानी की अपनी एक विशेषता है। इन्हीं सब विशेषताओं के कारण नई कहानी का आरम्भ कफन कहानी से माना जाता है।

प्रेमचन्द के बाद कहानियों का निरन्तर विकास होता रहा और लेखक भी लिखते रहे लेकिन नई कहानी का वास्तविक अस्तित्व स्वतन्त्रता के बाद उभर कर सामने आ सका। प्रसाद, जैनेन्द्र यशपाल, इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय, पहाड़ी आदि के माध्यम से कहानी का विस्तार निरन्तर होता रहा।

नई कहानी में सबसे पहले घटना, देश, काल, पात्रों की इन सीमाहीन छूट का विरोध हुआ क्योंकि, यह छूट न तो कहानी को प्रमाणिक रहने देती थी, न विश्वसनीय, इसीलिए नई कहानी किसी भी सीमा में नहीं बँधी । बदलती स्थितियों के इन नये परिप्रेक्ष्य में बाप-बेटे, भाई-बहन, पति-पत्नी, प्रेमी-प्रेमिका, मित्र-मित्र, यानी सब मिलकर परिवार और परिवेश वहीं है लेकिन उनके भीतर वह नहीं रह गया है, जो रूढ़ अर्थों में हुआ करता था। व्यक्ति-व्यक्ति के बीच में जो तेजी से भर

रहा है, बन और बदल रहा है, और नया जन्म ले रहा है, इन सब को खोजना, समझना और व्यक्त करना, नई कहानी की एक बहुत बड़ी पहचान है।

सन् 1950-60 के बीच में कहानी की जो धारा प्रारम्भ हुई। दुष्यन्त कुमार ने इसे नई कहानी की संज्ञा दी। डा० नामवर सिंह के समर्थन के उपरान्त यह नाम प्रचलित हो गया।

नई कहानी सामाजिक परिवर्तन से प्रेरित नवीन मूल्यों की कहानी है। नई कहानी में स्वतन्त्रता के उपरान्त भारतीय समाज में आने वाले परिवर्तनों की सूक्ष्मता से पर्यवेक्षित कर उसे ही अभिव्यक्ति दी है। व्यक्ति के बेगानेपन और बदले हुए स्वरूप को नये कहानीकारों ने व्यावहारिक धरातल पर देखा और व्यावहारिक धरातल पर ही उसे अभिव्यक्ति दी। नई कहानी ही जीवन को अधिक सम्पूर्णता में व्यक्त करती है।

स्वातन्त्र्योत्तर काल में प्रेमचन्द और प्रसाद के युगों में कहानी के अनेक आयाम लक्षित होते हैं। प्रेमचन्द, प्रसाद, जैनेन्द्र, यशपाल, इलाचन्द्र जोशी, उपेन्द्र नाथ अश्क, पहाड़ी जैसे अनेक समर्थ कहानी लेखकों ने कथा साहित्य का श्रृंगार किया। इन कहानीकारों के द्वारा प्रस्तुत कहानियों का शिल्पन एक निश्चित ढर्रे पर चलता रहा। कथावस्तु, पात्र, चरित्र-चित्रण, संवाद, देश काल, परिस्थिति, भाषा-शैली तथा उद्देश्य इन कहानी लेखकों के मानदण्ड हुआ करते थे। नये कहानीकारों ने कहानी के शिल्पन में नवीनता लाने के लिए पुराने मापदण्डों को तोड़ा, और इनके स्थान पर नवीन शैली में कहानियाँ प्रस्तुत की। कथावस्तु के स्थान पर कथ्य को विशेष स्थान दिया जाने लगा। कुतूहल जो कि, कहानी का प्राणतत्व माना जाता रहा, उसे नकारा गया उसके स्थान पर सूक्ष्म विवरण प्रस्तुत किए जाने लगे।

कहानियों में भोगे हुए यथार्थ को प्रासंगिकता प्रदान की गई और कहानी की विश्व-सनीयता तथा प्रमाणिकता को अनुलेखित किया गया। कथावस्तु का फलक प्राय: व्यापक हुआ करता था और उसमें जीवन की किसी संवेदना को अभिव्यक्त किया जाता था। उसके स्थान पर क्षणों के विवरण को महत्व दिया गया। कहानी की भाषा जो सामान्यत: सादी और सपाट हुआ करती थी उसमें लाक्षणिकता, सांके-तिकता, ध्वन्यात्मकता को लाने का उपक्रम किया गया। कहानी को समृद्ध करने के लिए प्रतीकों, बिम्बों, अप्रस्तुतों, आदि का प्रयोग किया जाने लगा। कहानी की शैली तथा रूप-रचना में भी नये-नये प्रयोग किए जाने लगे। सम्भवत: चलचित्र से प्रेरित होकर दीप्ति तथा चेतना प्रवाह का उपयोग सूक्ष्मता से किया जाने लगा।

इस प्रकार यह नि:संकोच और निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि, कहानी में कथ्य, शिल्प, अभिव्यंजना आदि दृष्टियों से निश्चित बदलाव आया। ये भी मानने में कोई संकोच नहीं कि, हिन्दी कहानी उत्तरोत्तर समृद्धतर होती जा रही है।

जब पूर्णतया यथार्थवादी सामाजिक दृष्टि की मर्यादा सार्थक सामाजिक मूल्यों की सीमा में अनुभूति के किसी आवेग को अधुनातन एवं स्वाभाविक अभिव्यक्ति की गरिमा प्राप्त होती है तो एक नई कहानी का जन्म होता है।

मूल्यों की स्थापना अथवा अन्वेषण और कथात्मक अभिव्यक्ति आपस में सम्बन्धित होते हुए भी बिल्कुल अलग-अलग चीजें है जिन्हें नई कहानी अत्यन्त संतुलित रूप में सामने लाती है। नई कहानी को नए पुराने मूल्यों का संघर्ष इसे संकुल और जटिल ही नहीं बना देती वरन बौद्धिक बना देती है।

नई कहानी में जब मानव मूल्यों की बात की जाती है तो उसका सीधा अर्थ समकालीन सामाजिक परिवेश एवं समसामयिक जीवन की गति के भीतर उभरते एवं

स्वरूप ग्रहण करते प्रगतिशील तत्वों से ही होता है।

यह युग परिवर्तन में सजग एवं सचेत रहकर नवीन मानव मूल्यों एवं परिवर्तित अवस्थाओं को सहजता से स्वीकार लेने की अनिवार्य माँग थी जिसका दायित्व निर्वाह करने में नई कहानी कहाँ तक सफल रही है इसका प्रमाण "यह मेरे लिए नहीं" "हरिनाकुश का बेटा" "गुल की बन्नो" ‹धर्मवीर भारती। "मलबे का मालिक," "एक हलाल" ‹मोहन राकेश› "दुर्गा," "वह मर्द थी" ‹नरेश मेहता› "दिल्ली में एक मौत," "रुकी हुई जिन्दगी", "बदनाम बस्ती," "ऊपर उठता हुआ मकान" ‹कमलेश्वर› "जिन्दगी और जोंक," "डिप्टी कलक्टरी," "हत्यारे," "असमर्थ हिलता हाथ" ‹अमरकान्त›, "हंसाजाई अकेला" ‹मार्कण्डेय›, "चीफ की दावत" ‹भीष्म साहनी›, "बड़े शहर का आदमी" ‹रवीन्द्र कालिया› "छिटकी हुई जिन्दगी" ‹ममता अग्रवाल› "मुर्दा औरतों की झील" ‹जगदीश चतुर्वेदी› आदि कहानियाँ हैं।

नई कहानी किसी एक व्यक्ति की न होकर सम्पूर्ण युग की बनने का आग्रह करती है और सारे मूल्य व्यापक परिवेश में ही अभिव्यक्ति पाते हैं।

पिछली कई शताब्दियों में विघटनकारी शक्तियों की पहचान पाने की अक्षमता, मानव मूल्यों को न उभर पाने की असमर्थता, मनुष्य को उसके सामाजिक यथार्थ के भीतर देखने की दृष्टि और आस्था हीनता ने जोर शोर से आने वाले कितने ही कहानी कारों को असामयिक "मृत्यु" की नियति प्रदान की है।

डा0 लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने नई कहानीकारों के विषय में कहा है कि, "साहित्यकार होने के नाते हिन्दी के नये कहानीकारों का मुख्य लक्ष्य मानव की मानवात्मा की रक्षा करते हुए अपने देश की सभी प्रकार की विकृतियों को दूर कर नवार्जित स्वतन्त्रता की रक्षा करना होना चाहिए। नये कहानीकारों को समय रहते ही अपने महती उत्तरदायित्व को समझना है, और बड़ी सूझबूझ से छोटे-छोटे जीवन

खण्डों को अनुवीक्षण यन्त्रों से देखना शुरू किया है, और स्थानीय आचार-विचार रीति- नीति, भाषा-विशिष्ट शब्दावली, जीवन की रंगीनी आदि का समावेश कर कलात्मक वैशिष्ट्य उत्पन्न किया। नारी कथाकारों ने भी आज के जीवन को परिवर्तनशीलता और नारी सम्बन्धी मूल्यों को बड़ी मार्मिकता से अभिव्यक्त किया है।[1]

पिछले बीस वर्षों में सेक्स सम्बन्धी वर्णनों के मान या पैमाने बदल गये हैं इसके अनेक उदाहरण हैं। दूसरे महायुद्ध के दौरान में विशेषतः यूरोप के देशों के सामाजिक जीवन में भारी परिवर्तन आए थे जिन दिनों इंग्लैंड पर जर्मन हवाई जहाज भयंकर बमबारी कर रहे थे, लंदन के हजारों लाखों नागरिक भूमि के भीतर रेलवे प्लेटफार्मों पर सोते थे। वहाँ निरन्तर प्रकाश रहता था और किसी तरह का पर्दा नहीं था। उन्हीं प्लेटफार्मों के खुले प्रकाश में युवक और युवतियाँ रात्रि जीवन के सभी व्यवहार उन्मुक्त रूप से चलते थे उन परिस्थितियों ने इंग्लैंड की सेक्स संबंधी पुरानी परम्पराओं को जिस तेजी से तहस-नहस किया उससे वहाँ के जीवन और चिन्तन पर सीधा प्रभाव पड़ा।

इटली और फ्रांस की परिस्थितियाँ उससे भी अधिक विकट थी और मानव की सेक्स प्रवृत्ति उन दिनों बहुत नग्न रूप में उक्त एवं अन्य यूरोपियन देशों में नग्न रूप में दिखाई दी थी। परिणाम यह हुआ कि इस सम्बन्ध के पुराने विचार बदल गये। साहित्य में जो बातें कुत्सित और अश्लील मानी जाती थी वे बातें अब साधारण दिखाई देने लगी।

1- डा0 लक्ष्मीशंकर वार्ष्णेय- बीसवीं शताब्दी हिन्दी साहित्य नये संदर्भ, पृ0 276-77

"सेक्स को प्रधानता देने की प्रवृत्ति आज प्राय: सभी भारतीय भाषाओं की कहानियों में विद्यमान है।[1]

हिन्दी कहानी में पहला बदलाव नई कहानी के रूप में प्रस्तुत हुआ। वैसे तो अधिकांश नई कहानी के लेखक अपने मसीहा पथ प्रदर्शक और प्रेरक के रूप में प्रेमचन्द की ओर संकेत करते हैं और मुंशी प्रेमचंद की जानी मानी कहानी "कफन" से कहानी का नया मोड़ स्वीकार करते हैं किन्तु इसके साथ ही कुछ कहानीकार अपने बीच के ही किन्हीं कहानीकारों को नई कहानी का प्रवर्तक बताने से भी हिचकिचाते नहीं।

नई कहानी-

नई कहानी के लेखकों ने कथ्य कथा शिल्प की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया उनके कथ्य में समाज के नवीन विषयों को स्थान मिल सका। आजादी के बाद देश के सामने जो चुनौतियाँ उजागर हुई, नये कथाकारों ने उन्हें अपनी कहानियों में अभिव्यक्ति दी है।

स्वतन्त्रता के साथ ही हिन्दुस्तान तथा पाकिस्तान के बीच विस्थापितों के रूप में हिन्दुओं का पाकिस्तान से भारत और मुसलमानों का भारत से पाकिस्तान जाना शुरू हुआ। इस परिवर्तन से प्रभावित जन समूहों को विभिन्न प्रकार की समस्याएँ झेलनी पड़ी और परिस्थितियों तथा परिवेश को लेकर ढेरों कहानियाँ रची गई। उदाहरण के लए मोहन राकेश का "मलवे का मालिक" भीष्म साहनी का "अमृतसर आ गया है"। ऐसी कहानियाँ देश के विभाजन की समस्याओं को व्यंजित करती हैं।

1- श्री सुरेन्द्र- नई कहानी दशा दिशा की संभावना- पृ0 263

देश के विभाजन के परिणामस्वरूप प्रभावित व्यक्तियों को क्या कुछ नहीं झेलना पड़ा तथा किन विषम परिस्थितियों से नहीं जूझना पड़ा। यह अब तो इतिहास बन चुका है। किन्तु कथाकारों ने अपनी कहानियों में विभाजन से सम्बद्ध अराजकता पूर्ण परिवेश का जीवन्त और सार्थक चित्रण किया है। ऐसी कहानियों को भारतीय उप महाद्वीप के विभाजन का यथार्थ दस्तावेज कहा जा सकता है। और "अमृत सर आ गया है", कहानियों को इस प्रकार की कहानी के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

अकहानी आन्दोलन:-

नई कहानी का आन्दोलन चल ही रहा था कि, कुछ युवा कथाकारों ने नई कहानी की संरचना की व्यापक भावभूमि को आत्मसात् किया और अकविता की भाँति उन्होंने खुलकर अकहानी में स्वतन्त्रता पूर्वक कहानियों के घिसे पिटे प्रतिमानों का मुक्त रूप से बहिष्कार करने का संकल्प किया। ऐसे कथाकारों में उल्लेखनीय हस्ताक्षरों में ज्ञान रंजन, रवीन्द्र कालिया, दूधनाथ सिंह, जैसे कथाकार सम्मिलित हैं। अकहानी के कथाकारों ने व्यापक परिवेश को कहानी का कथ्य बनाया। स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों को विशेष रूप से उजागर करने की चेष्टा की। स्त्री पुरुष के सम्बन्धों में वैविध्य को लेकर विलक्षण कहानियाँ स्थापित की गई। ऐसी कहानियाँ भारतीय आदर्श के प्रतिकूल होने के बावजूद यथार्थ के निकट रही, हम जानते हैं कि, भारतीय संस्कृति में पति-पत्नी के सम्बन्धों को ही आदर की दृष्टि से देखा तथा सराहा जाता है किन्तु यथार्थ जीवन में पुरुष के अनेक स्त्रियों से सम्बन्ध देखे जाते हैं और इसी प्रकार स्त्रियों के अनेक पुरुषों से। कई बार इस प्रकार के सम्बन्ध काम से जुड़े होते हैं या आर्थिक विषमता का परिणाम होते हैं। इन विषमताओं के कारण कई बार सन्तानों को भी अपने माता पिता के दुष्कर्मों का भोग भोगना पड़ता है। नर-नारी के

सम्बन्धों से युक्त कहानियों पर स्पष्ट ही फ्रायड का प्रभाव लक्षित किया जा सकता है। मोहन राकेश की "एक और जिन्दगी," "जानवर" कमलेश्वर की "तलाश" राजेन्द्र यादव की "मेहमान" और "भविष्य के आस-पास महराता अतीत" दूधनाथ सिंह कृत "सब ठीक हो जायेगा" और "प्रतिशोध," रवीन्द्र कालिया की "नौ साल छोटी पत्नी" मन्नू भण्डारी की "ईसा के घर इंसान" "तीसरा आदमी" महीप सिंह की "कील" ज्ञानरंजन की "कलह" सुधा अरोड़ा की "बगैर तराशे हुए" धर्मवीर भारती की "गुल की बन्नो" नरेश मेहता की "तथापि" आदि।

भारतीय साहित्य पर मार्क्सवादी चिन्तनधारा का व्यापक प्रभाव मिलता है। प्रगतिशील लेखकों ने इस कथ्य को भारतीय परिवेश के अन्तर्गत पहले से ही प्रस्तुत करना प्रारम्भ कर दिया था। यशपाल, बेचन शर्मा "उग्र", जैनेन्द्र आदि की कहानियों में प्रगतिशील तत्व, वर्तमान में नई कहानी के लेखकों तथा अकहानीकारों ने इस कथ्य को अपनी कहानियों में मुख्य रूप से उभारने का उपक्रम किया। किसानों, मजदूरों, दलितों और पीड़ितों को लेकर कथाकारों ने अपनी कहानियों को विविध-रूपों में प्रस्तुत किया। उदाहरण के लिए अमरकान्त की "जिन्दगी और जोंक" कहानी का उल्लेख किया जा सकता है जिसमें एक भिखारी रजुआ की जिजीविषा को सूक्ष्मता से उरेहा गया है। लेखक यह कहना चाहता है कि, मनुष्य चाहे कितनी ही विषम परिस्थितियों में रहने के लिए विवश हो वह जाने अनजाने मृत्यु से बचने की आकांक्षा करता है। भारतीय जनमानस सम्भवत: इस प्रकार की विलक्षण मानसिकता का चरम उदाहरण प्रस्तुत करता है, औसत भारतीय प्राय: गरीबी की सीमा रेखा के नीचे ऋणात्मक स्तर पर जीवन जीने को बाध्य होता है किन्तु वह मृत्यु का आलिंगन नहीं करना चाहता वह अपने जीवन के प्रति इतना उदासीन होता है कि, सारे भौतिक कष्टों को झेलकर भी वह अपनी आह और कराह को दबाकर जीवन जीता है। और

अपनी "अभावों" की दुनियाँ को अपनी नियति और भाग्य मानकर जीवन

समाप्त कर देता है। वह जीवन के प्रति उदासीन है अथवा महान समझौतावादी कह पाना मुश्किल है।

अकहानी शब्द कहानी का विलोम अथवा विपर्यय नहीं है, जैसा कि अकहानी शब्द से व्यंजित होता है वरन् अकहानी का " अ " उपसर्ग अस्वीकृति का बोधक है। स्वतन्त्रता के पूर्व की कहानियाँ एक निश्चित चौखटे में लिखी जाती रही है, और उनके मूल्यन के प्रतिमान कथानक, चरित्र-चित्रण, संवाद-योजना आदि रहे हैं।

अकहानीकारों ने इन प्रतिमानों को अपने कथाशिल्प में नकारा है, उन्होंने कथानक के स्थान पर कथ्य अथवा थीम को वरीयता प्रदान की है। इसी प्रकार चरित्र चित्रण में अन्वीक्षण पद्धति को अपनाने का उपक्रम लिया है। अन्वीक्षण-माध्यम से चरित्र के किसी एक विशेष पक्ष को लेकर पूरी गहराई तथा व्यापकता से सविस्तार अभि-व्यक्ति देने का उपक्रम किया है। इसी प्रकार कौतूहल अथवा सस्पेन्स को इन्होंने अस्वीकार किया है, और उसके स्थान पर लाक्षणिक सांकेतिक अभिव्यक्तियों के माध्यम से अपनी बात को उभारने तथा निखारने का प्रयास किया है। इन प्रयोगों से निश्चय ही अकहानी के शिल्पन में नवीनता का समावेश सम्भव हुआ है।

अकहानी 1960 के बाद की एक विशिष्ट कथा दृष्टि है। डॉ0 विजय मोहन सिंह के शब्दों में आज की कहानी है अलग, स्वतन्त्र, और स्थापित.......।"[1] कुछ और भी लेखक यह मानकर चलते हैं कि "1960 के बाद कथा रचना की ऐसी एक रचनात्मक

1- डॉ विजय मोहन सिंह-आज की कहानी- पृ0 99

चेतना सामने आई है जो पूर्ववर्ती रचना पीढ़ी से कई अर्थों में भिन्न है।"[1] "अकहानी कहानी की धारणागत प्रतीति से अलग कथा धारा है, जो कहानी के सभी वर्गीकरणों, मूल्यांकन आधारों और पूर्व समीक्षकों को अस्वीकार करती है।"[2]

अकहानी एक वक्रोक्तिपूर्ण विधा है, इसमें कथा विषय "स्टोरी प्वाइजन" माना जाता है। कहानी का लालित्य, कला का साज-श्रृंगार तथा भाषा-भाव की अर्थवत्ता प्रेरणाधर्मिता आदि यहाँ समाप्त प्राय है। लेखक अपने स्पष्ट "इमेज" द्वारा ऐब्सट्रैक्ट और अमूर्त प्रभाव प्रस्तुत करता है। यह लेखक प्रस्तोता हीन होकर भोक्ता भी है। एक पात्र जो अपनी नियमित दिनचर्या का आदी है एक दिन घण्टे भर पहले जग जाता है। इस अन्तराल का वह क्या उपयोग करे और अपने रिक्तता बोध या ऊब से कैसे मुक्ति पाये यह अकहानी का भावबोध है। प्रतिनिधि लेखकों और उनकी तथाकथित अकहानी कृतियों में निर्मल वर्मा, राजकमल, प्रयाग शुक्ल (अकेली आकृतियाँ) मनहर चौहान, रवीन्द्र कालिया, श्रीकान्त वर्मा (झाड़ी), ज्ञानरंजन "शेष होते हुए", छलांग, सीमाएँ, फेन्स के इधर उधर। दूधनाथ सिंह "रीछ," "सपाट चेहरे वाला आदमी" रमेश बक्षी, ज्ञानी, मधुकर विजय चौहान आदि उल्लेखनीय हैं।

सचेतन कहानी आन्दोलन:-

सन् 1950-60 के दो दशकों की कथा यात्रा में कहानी का एक और रूप विकसित हुआ है जिसे सचेतन कहानी की संज्ञा प्रदान की गयी है। जिसके आन्दोलन

1- गंगा प्रसाद विमल- समकालीन कहानी का रचना विधान-पृ0 6।

2- वही " पृ0 65

का सही प्रारम्भ "आधार"[1] के सचेतन कहानी विशेषांक (संपादक डा0 महीप सिंह) से माना गया है।

सचेतन कहानी आन्दोलन मानवता के टूटते-उभरते मूल्यों, जीवन की ढलती पनपती मान्यताओं और व्यक्ति-समाज की अपराजेय आस्थाओं को वाणी दे रहा है। इसमें आत्म सजगता है तथा संघर्षेच्छा भी। सचेतन कहानीकार भविष्य हीन नहीं है उसका वर्तमान भी विषण्ण नहीं है। वह नित नूतन सर्जन सम्भावनाओं को वाणी दे रहा है।

सचेतन कथाकार निष्क्रिय तटस्थता छोड़कर अंसंगतियों के बीच निर्वाह क्षमता (जिजीविषा) उत्पन्न करना चाहता है। "सुबह के फूल" "उजाले के उल्लू" और "घिराव" (महीप सिंह) में यही अभिनव यथार्थ दिखाई देता है। लेखक ने जीवन की तथा कथित व्यर्थता का निराकरण करके जो नई भाव-भूमियाँ प्रस्तुत की है, व्यक्ति निष्ठ आत्म दर्शन को जो विशद आयाम प्रदान किया है और विघटन, विसंगति, संत्रास तथा विपर्यस्त चेतना को जो अर्थवत्ता दी है। वह सर्वथा स्पृहणीय है।

अन्य प्रमुख कथाकारों में हिमांशु जोशी (आदमी जमाने का), मनहर चौहान (घर दूसरा, बीस सुबहों के बाद), ममता अग्रवाल (छिटकी हुई जिन्दगी), बलराज पंडित (मटियाले), जगदीश चतुर्वेदी (अधखिले गुलाब), कमल जोशी (ढलान), आनन्द प्रकाश जैन (आटे का सिपाही), योगेश गुप्त (इनक्लोजर), बलवन्त सिंह (देवता का जन्म), हृदयेश (आइसक्रीम वाला लड़का), सुदर्शन चोपड़ा (हल्दी के दाग), ओम-प्रकाश "निर्मल", वेदराही, श्याम परमार आदि उल्लेखनीय हैं। कुलभूषण की "पहली सीढ़ी" के नैतिक प्रतिमान और धर्मेन्द्र गुप्त का "यथार्थ" इस दृष्टि से सराहा

1- डॉ0 कृष्ण विहारी मिश्र- माह पत्र अंक 12, पृ0-86

गया है।

सचेतन कहानी में सचेतन विशेषण साभिप्राय प्रयुक्त हुआ है। सचेतन कहानी-कारों ने कल्पना की भावभूमि को छोड़कर यथार्थ के धरातल को पकड़ने का प्रयत्न किया है। इसीलिए कहानी में सचेतन विशेषण को लगाया गया है। कहानीकार सावधान होकर कहानी के लिए नई भूमि तोड़ने का साहस कर सका है। उसने समाज के और व्यक्ति के ऐसे अनछुये प्रसंगों को अभिव्यक्ति दी है जो उसकी दृष्टि में अछूतपूर्व रही है। स्वतन्त्रता से पूर्व भारतीय जनता ने सुख समृद्धि का एक सपना बुन रखा था। समय बीतने के साथ उसने यह अनुभव किया कि, उसका सपना निरर्थक था। आजादी के फल के रूप में जो बड़ी -बड़ी सम्भावनाएं अपनी मानसिकता में उगा रखी थी, वे सब मिथ्या सिद्ध होती गई। बढ़ती हुई मँहगाई, निर्धनता, बेरोजगारी आदि ने उसके सम्मोहन को एकदम तोड़ दिया और इसीलिए वह सचेतन हो गया। उसने अपनी कहानियों के माध्यम से नयी राजनीतिक, धार्मिक, साम्प्रदायिक, आर्थिक चुनौतियों को दृष्टि में रखकर अपनी कहानियों को रूपायित करने का उपक्रम किया।

समान्तर कहानी आन्दोलन:-

समान्तर संज्ञा से जैसा कि, ज्ञात है कि इन कहानीकारों का मन्तव्य कहानी को जीवन से एक निश्चित दूरी पर रखकर अनन्त तक ले जाने का था और इन्हें ध्यान रखना था कि, कहानी जीवन को कहीं छू न ले। "समान्तर कहानी देश में चल रहे साधारण जन के संघर्ष के समान्तर चलती है और साधारण जन की जिन्दगी, व्यवस्था के खिलाफ उसकी लड़ाई, अपनी जिन्दगी को बेहतर बनाने की उसकी आकांक्षाओं को आत्मसात् करती है।[1] कामतानाथ राय का यह कथन परस्पर विरोधी प्रतीत होता है।

1- मधुर उप्रेती - हिन्दी कहानी आठवाँ दशक - पृ0 158

समान्तर चलना और आत्मसात् करना दोनों परस्पर विरोधी कथन है। समान्तर कहानी " एक सुनिश्चित सामाजिक बदलाव लिए जन संघर्ष के प्रति समर्पित कहानी है।"[1] शिला पंख (जुलाई, 1976) के "कथा परिकथा" स्तम्भ के अन्तर्गत प्रकाशित शशि वोहरा के समान्तर कहानियाँ " घोषणाओं के आयने में " समान्तर कहानी के रचनात्मक विन्दुओं को इस प्रकार विश्लेषित किया गया है-

(1) आर्थिक असहायता एवं आम आदमी के समझौते।

(2) मनुष्य की चिरन्तन अपराजेय शक्ति में आस्था तथा अखण्डित आम आदमी की पक्षधरता।

(3) समय में लिए गये आम आदमी के फैसलों की यथार्थ प्रतिलिपि।

(4) मानव मूल्यों में सम्यक् परिवर्तन की माँग।

(5) आम आदमी में जीतने की दृढ़ता की माँग ।

(6) संस्कार बद्धता को तोड़कर उसमें परिष्कार एवं पर्याय की माँग।

(7) जीवन में निष्क्रियता के स्थान पर सक्रियता की माँग ।

(8) धर्ममूलक संस्थागत नैतिकता पर प्रश्न चिह्न।

(9) परिवर्तित मूल्यों को व्यावहारिक रूप देकर क्रियान्वित करना।

(10) राजनीति में सक्रिय भागीदारी ।

(11) समग्र क्रान्ति की माँग और सामाजिक परिवर्तन में भागीदारी

(12) आम आदमी के पक्ष में न्याय की माँग ।

शशि वोहरा द्वारा विश्लेषित रचनात्मक बिन्दुओं के अतिरिक्त "सारिका" के समान्तर कहानी विशेषांकों के आरम्भिक पन्नों से कुछेक विचार बिन्दु और भी उभरते है--

---

1- मधुर उप्रेती- हिन्दी कहानी आठवाँ दशक - पृ0 156

(13) सामाजिक धार्मिक-सांस्कृतिक संस्थाओं का बहिष्कार

क्योंकि पहले बेईमान व्यक्तियों ने इन्हें दूषित किया, और बाद में ये बेईमान लोगों को पैदा करने वाली मशीनों में तब्दील हो गयी।

(14) परम्परागत आदर्शवादी -सुधारवादी-सौन्दर्यवादी दृष्टिकोण का खुला विरोध।

(15) साहित्य के परम्परागत सौन्दर्य शास्त्र में परिवर्तन का दावा।

(16) व्यवस्था द्वारा तरह-तरह के खानों में कैद आम आदमी में वर्ग चेतना पैदा कर समान हितों की लड़ाई के लिए उन्हें एकजुट करना।

(17) अत्यन्त तीव्रगति से संक्रमणशील, ऐतिहासिक, सामाजिक शक्तियों की सही परख करना और तदनुकूल लेखन की सही दिशा निरन्तर निर्धारित करते जाना।

समान्तर कहानियों के इन घोषणाओं के अन्तर्गत निश्चित ही बहुत सारी अविस्मरणीय कहानियाँ है लेकिन सभी कहानियाँ इन फारमूलों में एकदम फिट नहीं बैठती हैं।

समान्तर कहानियों के पात्र इस देश की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक चालों के समक्ष घुटने ही टेकते नजर आते हैं। कोई अंधेरे के सैलाब में डूबा है तो कोई "परायी प्यास का सफर" करने को बाध्य है।.... जीतने की दृढ़ता, संस्कार बद्धता से मुक्ति, सक्रियता वर्ग चेतना तथा क्रान्ति की बातें सब कितनी थोथी लगने लगती है जब अपने पिता की " जमीन का आखिरी टुकड़ा " बचाने के लिए कोई भी बेटा डब्बू जैसे सूदखोर के खिलाफ एक शब्द भी न कह कर तहसील पहुँच जाते हैं।...... अतः शशि बोहरा का कथन इन कहानियों के सम्बन्ध में बिल्कुल सही है कि समान्तर कहानियाँ जिस टूटे हुए पराजित आदमी को अपना पात्र बनाती है उनके पास फैसले की शक्ति और गुंजाइश दोनों ही नहीं है।"[1]

1- कमलेश्वर- आज का यथार्थ समान्तर संसार-सारिका अक्टूबर 74

श्रेष्ठ समान्तर कहानियाँ के सम्पादक हिमांशु जोशी की कहानियों में "सही मामलों में" सर्वहारा की पीड़ा और उसका शोषण चित्रित हुआ है, पर जैसी कि, वास्तविकता है उस सर्वहारा में न तो वर्ग चेतना है और न अपने शोषण की समझ"। "मनुष्य चिन्ह" की बाल विधवा गोविन्दी अपनी निर्धनता तथा बूढ़े, अंधे बाप के संरक्षण के कारण गाँव के किशुनवा, सरपंच, पटवारी और अंत में पेशकार द्वारा न्याय के नाम पर वासना का शिकार बनाई जाती है। इसका विरोध न गाँव के लोगों में दीख पड़ता है और न गोविन्दी या उसके बाप में। वे सब इसे एक लाचारी की तरह सहते चले जाते हैं। इन सब स्पष्टताओं के बावजूद "समान्तर कहानी" के मुख्य प्रचारक डा० विनय ने यह घोषणा की है "यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि आज बावजूद प्रगति के ऊँचे शोर के आम असम्पन्न, अपने में टूटते, अपमान झेलते सामान्य जन की रेखाएँ स्पष्ट हैं और वे प्रतिरोधी ताकतें भी बिल्कुल साफ है जो पहले की किसी भी पारिभाषिक शब्दावली से नहीं पहचानी जा सकती, तेजी से उभर रहा है। लेकिन यह भी सच है कि, इस स्थिति पर जागरूक समकालीन कहानीकारों का ध्यान गया है और साहित्य बावजूद अपनी सीमा के अपना काम कर रहा है।"[1] डा० विनय का यह आत्म संतोष फिर भी समान्तर कहानी की मौत रोक नहीं सका।

समान्तर का जयघोष करने वाले कुछ कथाकारों ने "समान्तर की मृत्यु के बाद उसी की कब्र पर सक्रिय तथा जनवादी कहानियों के झण्डे फहरा दिए।

जनवादी कहानी आन्दोलन

"जनवादी कहानियाँ मानसिकता के विरोध में उभरी क्योंकि इनका उद्देश्य

1- डा० विनय सिंह - समकालीन कहानी समान्तर कहानी-पृ० 197

सामाजिक यथार्थ को प्रगतिशील दृष्टि से देखना था।"[1] जनवादी कहानीकारों ने अपने आप को प्रेमचन्द की परम्परा से जोड़ा है। मूल्य का बोध करने वाली कुछ अच्छी कहानियों की भी रचना जनवादी कहानीकारों ने की थी। जनवादी कहानियाँ प्रत्यक्ष अनुभव और बौद्धिक समझदारी के तालमेल की ओर संकेत करती हैं।

रांगेयराघव की "गदल" भैरव प्रसाद की "चाय का प्याला" मार्कण्डेय की "बीच के लोग" अमरकान्त की "जिन्दगी और जोक," "बस्ती;" "हत्यारे;" "डिप्टी कलक्टरी" भीष्म साहनी की "चीफ की दावत" शेखर जोशी की "कोसी का घटवार" साथ ही हरिशंकर परसाई तथा मुक्तिबोध आदि की कुछ ऐसी कहानियाँ हैं जिनमें गाँव तथा शहर के परिवेश में जीवन जीने वाले पात्रों की जिजीविषा और संघर्ष को अभिव्यक्ति प्रदान की गई है।

आठवें दशक की विषम परिस्थितियों में जनवादी कहानीकार श्रम जीवी जनता के संघर्षों के प्रति प्रतिबद्ध हुआ। इन्होंने मजदूर आन्दोलनों का चित्रण करते समय मालिकों और सरकार के काले कारनामों को उजागर किया तथा कर्मचारियों के जीवन और चेतना को सघोष अभिव्यक्ति दी। श्रीहर्ष की "भीतर का भय" कहानी में मालिकों एवं सरकार की यूनियन-तोड़कर साजिश का पर्दा फास किया है। पुलिस और मालिकों की गुण्डावाहिनी मजदूर नेताओं की हत्या करती है। गुण्डा मीनू को धमकी देता है- या तो नौकरी करे या यूनियन.....।" उसे प्रमोशन का लालच देकर खरीदने का प्रयास किया जाता है। पालतू चमचे यूनियन में घुसपैठ करके नेताओं को बरगलाने का प्रयत्न करते हैं। "निर्णायक" कहानी का चमचा यूनियन से कहता है- "जिन्दगी बनाने का यह आखिरी मौका है, दोस्त इसे हाथ से मत जाने दो।"

1- मधुर उप्रेती -हिन्दी कहानी आठवाँ दशक-पृ0 15

दिनेश पालीवाल की "नियति" कहानी का नेता यूनियन के साथ विश्वासघात करके अफसर बन जाता है। दोनों कहानीकारों की कहानियों में मध्यवर्गीय अनुभव संसार और वैचारिकता का द्वन्द्व स्पष्ट दृष्टिगत होता है।

"चतुर्दिक व्याप्त आतंक और भ्रष्टाचार में आज का जनवादी कहानीकार दिशाहारा नहीं होता। उसे सर्वहारा की विजय में पूर्ण विश्वास है।" भ्रष्टाचार और शोषण की धुरी पर टिकी इस व्यवस्था में दिनोंदिन वर्ग वैषम्य बढ़ता जा रहा है, पेट की आग बुझाने के लिए व्यक्ति किस कदर घृणित कार्य करने पर उतर आता है, इस चित्रण को हृदयलानी ने "मध्यूयत" कहानी में मार्मिक रूप से किया है। शोषित-पीड़िता जनता जब संघर्ष करने लगती है तो एकाधिकारी लक्ष्मी पुत्र और सिंहासन से चिपके राजनेता अनेक भ्रामात्मक प्रचार करते हैं। उनके आगमन पर प्रचुर धन स्वागतार्थ व्यय किया जाता है। किराये की भीड़ "भारतमाता" की जय जयकार करती है। उसी समय न जाने कितनी भीख माँगती भारत-माताओं को पुलिस डंडे मारकर चौराहों से हटा रही है। सैकड़ों आए दिन चौराहों पर दम तोड़ती रहती है। रमेश बत्तरा की "फूलों का देश" और प्रभात मित्तल की "भारत माता "मानव की करुणापूरित अवस्था का उद्घाटन करती है।

जनवादी कहानी यथार्थ के ठोस धरातल पर उतर चुकी है। नयी सम्भावनाओं के जनवादी कहानीकार जीवन-मूल्यों के संघर्ष में अग्रणी भूमिका का निर्वाह करने के लिए कृत संकल्प हैं।

कहानी के संदर्भ में डा० विश्वम्भर नाथ उपाध्याय का यह विचार द्रष्टव्य है "सारी सपाटता, दृष्टि की सीमा, आत्मग्रस्तता और अपने यथार्थ को परार्थों की नज़र से देखने की रुग्णता के बावजूद आँठवें दशक की कहानियों की इस पड़ताल से

1- मधुर उप्रेती-हिन्दी कहानी आठवाँ दशक-पृ० 82

यह स्पष्ट है कि, हमारी कहानी नयी कहानी, सचेतन कहानी, समान्तर कहानी आदि का जाल तोड़कर आज ऐसे माहौल में आ गई है, एक ऐसे दशक में जिसमें परिवर्तन और अपरिवर्तन की शक्तियों में ध्रुवीकरण हो रहा है, हो गया है और अब इस बिन्दु पर लड़ाई विश्वास और विवेक के मध्य है। स्वभावतः और वर्गतः सम्पन्न लोग विश्वास या धर्म की ढाल से, शोषण विरोधी ताकतों की चोट से बचना चाहेंगे।[1]

जिन मूल्यों के लिए "आम आदमी" संघर्ष रत था, उसका समर्थन नए कहानीकारों ने किया और आजादी के बाद तो समाज में आये पारिवारिक विघटन के साथ नये सम्बन्धों के टुकड़े-टुकड़े में भी कुछ नया और मूल्यवान खोजने की कोशिश करती रही। इस युग की कहानी समानता, समता, न्याय और श्रम आदि मूल्यों के प्रति अपनी आस्था को स्वीकार करती है।

कहानीकार नर्मदेश्वर के अनुसार " आज की कहानी समसामयिक यथार्थ से जुड़ी होने के साथ-साथ बेहतर जीवन की तलाश में जन संघर्षों की भूमिका भी तय करती है। इसी लिए वर्ग संघर्ष, मूल्यहीनता, टूटते परिवेश में जूझते आदमी का अकेलापन, सामाजिक विसंगतियाँ, राजनीतिक आर्थिक परिप्रेक्ष्य में आदमी की अस्मिता का प्रश्न आज की कहानी के मुख्य विचार बिन्दु है।[2]

सक्रिय कहानी आन्दोलन:-

स्वाधीनता के बाद भारतीय समाज के हालात बदलाव की सक्रिय माँग करते हैं। आम आदमी आधुनिकता के दबाव में बदलते विश्वासों और मूल्यों के साथ गाँवों में जी रहा था, और अपने हालात को बदलने के लिए बेचैन और संघर्षरत था। सक्रिय

1- डा0 विश्वम्भर नाथ उपाध्याय-समकालीन आलोचना बिन्दु प्रतिबिन्दु-पृ0 158

2- मधुर उप्रेती- हिन्दी कहानी आठवाँ दशक पृ0 7।

कहानी ने इस दबाये हुए और संघर्षशील आदमी की आदमियत को समझा और कहानी पहचान तक सीमित न रह कर हालात को बदलने की भूमिका में सक्रिय हुई। यह सक्रिय भूमिका और हिस्सेदारी कहानी को स्थितियों के बदलाव के लिए ठोस, मूर्त और सुदृढ़ आधार दे रही है। बदलाव की यह सक्रियता कहानियों में कहाँ तक सार्थक रही है, इसे मंच की दो सक्रिय कहानी विशेषांकों में संकलित कहानियों के आधार पर परखा जा सकता है।

'मंच' 78 के अंक में सक्रिय कहानी की अवधारणा पर निष्कर्षात्मक सूत्र देते हुए राकेश वत्स ने कहा- "सक्रिय कहानी का सीधा और सपाट मतलब है कि आदमी की चेतनात्मक ऊर्जा और जीवंतता की कहानी। इस समझ, अहसास और बोध की कहानी जो आदमी को बेबसी, वैचारिक निहत्थेपन और नपुंसकता से मुक्ति दिलाकर, पहले स्वयं अपने अंदर की कमजोरियों के खिलाफ खड़ा होने के लिए तैयार करने की जिम्मेदारी अपने सिर पर लेती है जो साहित्य की इस सार्थकता के प्रति समर्पित है कि, साहित्य संकल्प और प्रयत्न के बीच की दरार को पाटने का एक जरिया है, विचार और व्यवहार के बीच का पुल है। यदि वह पुल जनता के बीच पहुँचकर, इसे सचेत और सक्रिय करने की भूमिका नहीं निभाता तो उसका होना या न होना एक बराबर है।"[1] "मंच" की सक्रिय कहानियों में जीवन के क्रान्तिकारी स्थान्तरण के साथ आदमी की बुनियादी इच्छाओं के संसार को जीवन्त और पुख्ता बनाने का प्रयास है। रमेश बत्तरा की "जंगली जुगराफिया" शोषण और अत्याचार के बहुविध रूपों का सजीव दस्तावेज है, जिसे देश के किसी भी कोने में घटित होते हुए देखा जा सकता है।"[2] स्वदेश भारती की "जुलूस" जिसमें उत्तेजित लोगों की स्थितियों

1- मंच 78 के अंक से

2- मंच 78 के अंक से

साम्य पाकर नायक भी "जुलूस" का अंग बन जाता है। सक्रियता की ओर उठाया गया यह पहला कदम है। इन कहानियों में एकरसता नहीं वैविध्य है। परिवेश की क्रूरता और विसंगतियों के बहुमुखी चित्र हैं। बम्बई की झोपड़ पट्टी, पंजाब व हरियाणा का ग्रामीण परिवेश, भ्रष्ट प्रशासन, के गर्हित रूप " अतिक्रमण अंत;" "जंगली जुगराफिया;" "उठो लक्ष्मीनारायण" और "नाभिकुण्ड" में उभरे हैं। लेखकों ने स्थानीय मुहावरों, बोलियों, और परम्पराओं से परिवेश व स्थितियों को जीवन्त बना दिया है। सक्रियता के साथ-साथ जीवन की दूसरी संवेदनाएँ भी इन कहानियों में व्यक्त हुई है। सक्रिय कहानियों के अन्तर्गत ही भीष्म साहनी का "अमृतसर आ गया है" । विभाजन की विभीषिका में मुसलमान बहुल इलाके से गुजरती ट्रेन में बैठे हुए पठान एक दुबले पतले हिन्दू बाबू को छेड़ते जाते है वजीराबाद में दंगों से घबड़ाया एक हिन्दू परिवार डिब्बे में घुसता है। पठानों में से एक उसे लात मारता है जो औरत के कलेजे पर लगता है सामान फेंक कर उसे उतरने को मजबूर कर दिया जाता है। डिब्बे के हिन्दू मुसाफिर पठानों का विरोध नहीं कर पाते। केवल एक बुढ़िया लानत-मलामत करती है। गाड़ी के हरबंशपुरा पहुँचते ही आतंक का माहौल छँटने लगता है। अमृतसर आ गया है की उल्लास भरी हाँक के साथ बाबू पठानों को बेहिसाब गालियाँ देने लगता है। उत्तेजित होकर उन्हें मारने के लिए आता है तब तक पठान डिब्बे से भाग चुके होते हैं। अपनी उत्तेजना को वह एक दूसरे मुसलमान को छड़ से घायल करके शान्त करता है।

इसी कहानी में अन्य मोटे ताजे हिन्दुओं और सरदारों की अपेक्षा दुबले पतले बाबू का अत्याचार के प्रति आक्रोश, प्रतिकार, जीवटता और साहस, उसकी जातीय चेतना, संवेदन शीलता और सक्रियता के द्योतक है। उसके संकल्प और व्यवहार में अद्भुत सामंजस्य है। वह मिलिटेंट पात्र है जो अपमान का दाह महसूस करता हुआ

उसे जब्त किये रहता है और समय आते ही बदला लेने के लिए उतारू हो जाता है।

"अमृतसर आ गया है" में सक्रियता है सक्रिय कहानी का आन्दोलन स्वच्छ व स्वस्थ मूल्यों के समाज के निर्माण की ओर उठाया गया कदम है।

सक्रिय कहानी का कथानायक दब्बू और लाचार न होकर वह अपने अधिकारों के लिए एक जुट होकर लड़ना जानता है, जो संघर्ष प्रकारान्तर में जीत में बदल जाता है। यह बात "पहली जीत" कहानी में स्पष्ट हो जाती है कि, घरेलू नौकर चन्दन जिन्दगी का लम्बा समय अपने साहब व बीवी की चाकरी में गुजार देता है जब वह अपना अधिकार माँगने आता है तब उसे दुत्कार दिया जाता है किन्तु अब वह जागरूक है उसके साथ हम पेशाओं का बल है, जिससे उसका संघर्ष जीत में बदल जाता है।

सक्रिय कहानियाँ शोषण और अत्याचारों के विरुद्ध संघर्ष का आह्वान करती हैं और उसके क्रिया न्वयन का रास्ता भी सुझाती है।

"मंच 78 व 79" कहानियों के वस्तु और शिल्प में संतुलन है। "सक्रिय कहानियों के अनुभव विश्वसनीय, तल्ख और निर्णायक महत्त्व के हैं। असंगतियों और वर्ग शत्रु की पहचान कराके इनमें वर्ग-चेतना और संघर्ष तक पहुँचने का उपक्रम है। जन संघर्ष से जुड़ने के लिए कहानीकारों मे रचनात्मक संभावनाओं की तलाश है, और उसके लिए पाठकों को मानसिक रूप से तैयार किया है, इन्हीं से उनकी रचनात्मक सार्थकता व्यक्त हुई है।"[1]

कहानी आन्दोलन के प्रस्तुत विवरण से प्रगट है कि, विविध विशेषणों से जुड़े हुए होने पर भी इसमें भारतीय जनमानस को अभिव्यक्ति देने का प्रयास सम्भव

1- मधुर उप्रेती -हिन्दी कहानी आठवाँ दशक - पृ0 100

हुआ है। यह कार्य 1950-60 के दशक के कहानी आन्दोलन से पूर्व भी रचनाकारों द्वारा किया जाता रहा है। वस्तुत: कहानी का लक्ष्य एक ही है, केवल उसके चुनाव में विविध प्रकार के सामयिक अनुरंजनों का उपयोग किया गया है। रचना शिल्प के धरातल पर उसमें फैशन तथा डिजाइन अधिक है और ऐसा होना स्वाभाविक ही है। जैसे मनुष्य तन ढकने के लिए तरह-तरह रंगों से अनेक प्रकार के कपड़े निर्मित करता है, और फिर शरीर के अनुकूल ढालने के लिए तरह--तरह के डिजाइन और पेटर्न देता है, वैसा ही कुछ कहानी के आन्दोलनों में भी दिखाई देता है।

आज का युग तेजी से गतिशील है। आज मनुष्य अंतरिक्ष में उड़ाने भरने लगा है, कुलाचें लगाता है, अठखेलियां करता है कुछ वैसा ही कहानीकार भी अपनी प्रतिभा कल्पना और अनुभव के आधार पर रचना जगत में करने के लिए प्रयत्नशील है।

वैज्ञानिक उपलब्धियाँ चौंकने वाली होती है किन्तु रचनात्मकता में इस प्रकार का कोई अभूतपूर्व कार्य कदाचित् नहीं हो पा रहा है। समय से होड़ लेने के लिए काल काटने वाली रचनाएं प्रदान करने के लिए कदाचित उसे बहुत कुछ करना है। मेरे कहने का मतलब यह नहीं है कि हिन्दी कथा क्षेत्र में जो कुछ हो रहा है वह सार्थक नहीं है उसकी सार्थकता अपनी जगह है, लेकिन कीर्तिमान बनाने के लिए उसे कुछ विलक्षण और अपूर्व करना है। आज मूल्यों की बहुत ही अधिक आवश्यकता है। तथा कथित सभ्य और सुसंस्कृत कहलाने वाला मनुष्य मूल्यों की दृष्टि से गुमराह हो चुका है। रचनाकारों को समय, समाज और विश्व मानवता को देखते हुए नए चिरन्तन मूल्य स्थापित करने हैं।

अध्याय 3

स्वतन्त्रता पूर्व और उत्तर के संदर्भ में मानव मूल्यों का विवेचन

- परिभाषा एवं स्वरूप
- साहित्य और मानव मूल्य का सम्बन्ध
- मूल्यों के विभिन्न स्रोत
- मानव मूल्यों में परिवर्तन के कारण
- वर्तमान युग में टूटते मूल्य

"मानव मूल्य"

अनादिकाल से ही मानव ने समाज को व्यवस्थित और विकासशील रूप देने के लिए आदर्शों का सृजन किया- जैसे, सत्यंवद- सत्य बोलो, धर्मं चर- धर्म का आचरण करो, अहिंसा परमो धर्मः- अहिंसा सबसे बड़ा धर्म है। किन्तु समय बीतने के साथ मनुष्य को स्वयं ही अपने बनाए विधि-विधानों का पालन करने में कठिनाई होने लगी, उसे लगा कि, सत्य हरिश्चन्द्र, मर्यादा पुरुषोत्तम राम, धर्मराज युधिष्ठिर, ईसा मसीह, हजरत मोहम्मद, महात्मा बुद्ध बनना असम्भव नहीं तो कठिन है ही, इसमें सन्देह नहीं। फलस्वरूप मनुष्य को हमेशा अपने मूल्यों में परिवर्तन की आवश्यकता अनुभव होती रही, हो रही है और कदाचित भविष्य में भी हो।

वेद, उपनिषद्, पुराण, रामायण, महाभारत, गीता, आचार संहिताएं आदि ग्रंथों में बराबर आदर्श जीवन जीने के लिए प्रेरित किया गया है, किन्तु व्यवहार के धरातल पर विधि-विधानों का अतिक्रमण ही होता रहा है। डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने मूल्य को धर्म से प्रेरित माना है।

डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् का मत है कि, "धर्म परम मूल्यों में विश्वास और इन मूल्यों को उपलब्ध करने के लिए जीवन की एक पद्धति का प्रतीक होता है।"[1] यह नैतिक व्यवस्था को जन्म देता है। परिणामस्वरूप आध्यात्मिक एवं

1- राधाकृष्णन् धर्म और समाज, हिन्दी अनुवाद पृ0-123

नैतिक मूल्यों का उदय होता है। इसीलिए यह मानवता को विकास की ओर गतिशील करता है। धर्म का प्रसार व्यापक है, यह एक महत् मानव मूल्य है, जो आस्तिकता, कर्तव्य, स्वतन्त्रता, मर्यादा, आस्था, सेवा, आदि कई मूल्यों को जन्म देकर मानव जीवन को महत् संकल्पों से पूर्ण करने के लिए प्रेरित करता है।

विश्व ने वर्तमान सदी में दो विश्वयुद्धों को (1914 से 1919 तथा 1939 से 1945 ई०) झेला, इन विश्वयुद्धों ने पूरी मानवता को हिला कर रख दिया और मनुष्य को समाज की संरचना के संदर्भ में नये सिरे से सोचने के लिए विवश होना पड़ा। मनुष्य ने समाज, धर्म, अर्थ, काम आदि विषयों को नये सिरे से उपयोगिता की दृष्टि से देखा, भारतीय तथा विदेशी चिन्तकों और दार्शनिकों ने व्यक्ति और समाज से सम्बन्धित समस्याओं को व्यापक मानवता के संदर्भ में जानने और समझने का उपक्रम किया। इस अनुक्रम में पुराने आदर्शों को मानव मूल्यों के नाम से जाना गया। उदाहरणार्थ भौतिक स्तर पर कालमार्क्स ने धर्म के समान वितरण को समाज के लिए अनिवार्य बताया। मार्क्स का मत है कि समाज में पैदा होने वाली विभिन्न समस्याओं का निराकरण इसी आधार पर सम्भव है। उन्होंने किसानों, मजदूरों आदि के शोषण की निन्दा की तथा इसके लिए शोषक वर्ग को अपराधी कहा। मार्क्स ने आधुनिक युग की रूप रचना के लिए धन के एक समान वितरण की व्यवस्था पर बल दिया और इसी समान वितरण को मानव मूल्य के रूप में प्रतिपादित किया, किन्तु व्यावहारिक स्तर पर हम देखते हैं कि जिन देशों में राजनैतिक, सामाजिक व्यवस्था मार्क्सवाद पर आधारित है, वहाँ भी आर्थिक वर्ग भेद मिलते हैं। स्वतन्त्रता के पूर्व आर्थिक वर्ग भेद की

खाई कम की लेकिन स्वतन्त्रता के बाद हमारे देश में यह खाई चौड़ी होती जा रही है, अमीर, अमीर और गरीब, गरीब होता जा रहा है।

ऐसे अनेकों उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं जो सामाजिक विषमता के मूल भूत कारण हैं और जिनके रहते हुए समाज में आपसी संघर्ष जारी है। संघर्ष वस्तुत: सम्पन्न तथा अभावग्रस्त वर्गों के बीच है। और पूरे संसार में सर्वत्र इसी कारण टकराहट की स्थिति देखी जा सकती है। भारत-पाकिस्तान, भारत-श्रीलंका, भारत-नेपाल, भारत- बंगलादेश, भारत-चीन, ईरान- ईराक, इजरायल- फिलिस्तीन, अजरबैजान- आर्मीनियां आदि सर्वत्र, राजनैतिक सामाजिक, धार्मिक असमानताओं और विसंगतियों के कारण टकराव की स्थिति बनी हुई है। तात्पर्य ये है कि मूल्यों और आदर्शों को लेकर पूरे विश्व में टकराहट चल रही है। यदि सूक्ष्मता से विचार किया जाय तो यह कहने में कत्तई संदेह न होगा कि स्वतन्त्रता के पूर्व यह टकराहट कम रही और स्वतन्त्रता के बाद प्रतिदिन बढ़ती जा रही है।

कई बार तो ऐसा लगता है कि देश का स्वातन्त्र्योत्तर मनुष्य जो अपने को सभ्य और सुसंस्कृत मानता है वह व्यावहारिक स्तर पर पशु संस्कृति से बहुत अलग नहीं है। यदि अत्युक्ति न समझा जाय तो कदाचित् अपनी अतिशय बौद्धिकता के कारण यथार्थ के स्तर पर मनुष्य पशुओं से कहीं गया गुजरा नजर आता है। सम्भवत: इसीलिए आज का मनुष्य यह मानने में संकोच नहीं करता कि, वर्तमान समय में मूल्य देश में ही नहीं बल्कि दूसरे देशों में भी ध्वस्त-प्राय हो चुके हैं उनका महत्व समाप्त हो चुका है। वैसे आदर्श के स्तर पर मूल्य है, ये भी माना जा सकता है।

मूल्यों को पूर्णतया नकारा नहीं जा सकता। अधिक से अधिक हम यह कह सकते हैं कि, मूल्य संक्रमण की प्रक्रिया में है मनुष्य जीवन को जीने योग्य बनाने के लिए सम्भवत: नये मूल्यों के तलाश में लगा हुआ है।

परिभाषा एवं स्वरूप

जीवन को उर्ध्वगामी करने के लिए उसे सही अर्थों में प्रगतिगामी बनाने के लिए मूल्यों की आवश्यकता अनुभव की गई है। "जीवन को सम्यक् एवं संयमित ढंग से चलाने के लिए विचारकों ने ऐसा अनुभव किया कि, जीवन के लिए कुछ मानदण्ड रहना चाहिए। उन्हीं के आधार पर मूल्यों की बात की जाने लगी और जीवन की आन्तरिक एवं बाह्य आवश्यकताओं के आधार पर कुछ कसौटियाँ बनाई गई"।[1] ये कसौटियाँ या मान्यताएं ही मूल्य हैं।

डा० जगदीश गुप्त के मतानुसार-"मूल्य, अपने आप में एक धारणा (कान्सेप्ट) है।"[2]

"मूल्य एक ऐसी वस्तु है जिसको पूरी तरह से परिभाषित नहीं किया जा सकता।"[3]

1- डा० हुकमचंद, आधुनिक काव्य में नवीन जीवन मूल्य - पृ० 2

2- डा० जगदीश गुप्त, नयी कविता स्वरूप और समस्याएं-पृ० 35

3- Paul Roukierek - Ethical valus in age of science (Hindi translate) -पृ० 219

वस्तुत: मूल्य वैयक्तिक प्रतीति पर आधारित है। यह प्रतीति भिन्न भी हो सकती है। चूँकि हर व्यक्ति के देखने की दृष्टि भिन्न होती है, इसीलिए निष्कर्ष भी भिन्न होते हैं। व्यक्ति से ही मूल्य हस्तान्तरित होते हैं, क्योंकि मनुष्य वह इकाई है, जिससे समाज और व्यक्ति का निर्माण हुआ है। मूल्य का समग्र परिवेश परिभाषा के सीमित दायरे में अभिव्यक्त करना इसीलिए जटिल है कि वह वैयक्तिक प्रतीति पर आधारित होता है। "वैयक्तिक प्रतीति को मूल्य बोध का एक आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य आधार मानना होगा।"[1] अस्तु मूल्य निर्धारण में वैयक्तिक प्रतीति प्रमुख है। डा० रघुवंश ने लिखा है- "हर युग अपने व्यापक मनोभाव और सर्जन की क्षमता अथवा आंतरिक आवश्यकताओं के अनुसार इन मूल्यों की प्रक्रिया की सीमा तथा दिशा को निर्धारित भी करता है। व्यापक रूप से इसे सांस्कृतिक मूल्य दृष्टि अथवा, युग की निजी सर्जनात्मक प्रतिभा कहा जा सकता है।"[2]

वस्तुत: मूल्य और कुछ नहीं, व्यक्ति द्वारा उच्चादर्शों की प्राप्ति का मानदण्ड ही है, जो यह प्रदर्शित करता है कि, जीवन कैसा होना चाहिए? अस्तु जीवन की सार्थकता मानव मूल्यों को स्वीकारने में ही समाहित है। इस दृष्टि से

1- डा० जगदीश गुप्त - नयी कविता स्वरूप और समस्याएँ-पृ० 14

2- डा० रघुवंश - माध्यम- जुलाई 1967 - पृ० 06

उन्हें ही जीवन के मूल्य माना जाना चाहिए जिससे मानव का उत्कर्ष सम्भव हो।"[1]

"कहीं मूल्य सुख-दुख पर आधारित होता है तो कहीं यह इच्छा का विषय है। कहीं पर इसे भावना (फीलिंग) से सम्बद्ध माना जाता है, तो कहीं यह रुचि का विषय है। कहीं यह मूल्यांकन का आधार है, कहीं यह सत्य के रूप में है तो कहीं यह स्वरूप के रूप में।"[2] इसीलिए "मूल्य" स्पष्ट नहीं हो पाता।" सुखवादी कहते हैं कि मूल्य वह है जो मनुष्य की इच्छा को तृप्त करे। विकास वादी कहते हैं कि, मूल्य वह है जो जीवन वर्धक है और पूर्णतावादी कहते हैं कि, मूल्य वह जिससे आत्मलाभ का विकास हो।"[3] यह विभिन्न मूल्यों के आश्रय को भिन्न-भिन्न मानने से ही उत्पन्न हुआ है क्योंकि "सुखवादी मूल्य का आश्रय सुख भावना को मानते हैं तो विकासवादी और पूर्णतावादी क्रमशः जीवन और आत्मा को।"[4]

मानव मूल्य शब्द आधुनिक काल में एक लोकप्रिय शब्द बन चुका है, जिसके संदर्भ में पाश्चात्य विद्वान एवं आधुनिक भारतीय विद्वानों ने विभिन्न दिशाओं में विभिन्न दृष्टियों से विचार किया है।

1- डा० हुकुमचन्द आधुनिक काव्य में नवीन जीवन मूल्य पृ० 293

2- संगमलाल पाण्डेय नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण पृ० 303

3- संगमलाल पाण्डेय नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण पृ० 304

4- " " " " पृ० 304

मूल्य: परम्परागत भारतीय दृष्टि:-

प्राचीन भारतीय मनीषियों ने मानव मूल्य के संदर्भ में पुरुषार्थों की कल्पना की है। पुरुषार्थ वस्तुत: संस्कृति का ही अंग है, और संस्कृति जीवनोत्कर्ष या दूसरे शब्दों में मानव मूल्यों की रचना का मुख्य हेतु है। डा० देवराज के विचार इस प्रकार है- "किसी व्यक्ति की संस्कृति वह मूल्य चेतना है, जिसका निर्माण इसके सम्पूर्ण बोध के आलोक में होता है। मनुष्य लगातार जीवन की नई सम्भावनाओं का चित्र बनाता रहता है। ये संभाव्य चित्र ही वे मूल्य हैं, जिनके लिए वह जीवित रहता है, इसकी गरिमा और सौन्दर्य उस मनुष्य के सांस्कृतिक महत्व का माप प्रस्तुत करते हैं।"[1] इस प्रकार प्रकारान्तर से संस्कृति को जीवन निर्माण का अर्थात् मानव मूल्यों के उदय का स्रोत माना गया है। हमारी दृष्टि में भी जीवन के विकास के लिए जिन मूल्यों की चर्चा की जाती है, उसका आधार संस्कृति ही है। इसीलिए मानव मूल्यों की चर्चा के संदर्भ में संस्कृति एक आवश्यक उपादान है। पुरुषार्थ भारतीय संस्कृति में जीवन को सही दिशा की ओर ले जाने का आधार है।" "पुरुषार्थों की धारणा प्रस्तुत कर भारतीय चिंतकों ने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की जीवन में महत्ता प्रतिपादित की है। ये ऐसे जीवन मूल्य हैं जो प्रत्येक युग में रहे हैं और जीवन इनके आधार पर आधारित होता है।"[2] मानव जीवन का उद्देश्य इन्हीं पुरुषार्थों या मूल्यों को प्राप्त करना है, यही जीवन की सार्थकता है। इसीलिए मनुष्य जीवन के विकास के लिए पुरुषार्थ आवश्यक मूल्य है।

1- डा० देवराज- संस्कृति का दार्शनिक विवेचन- पृ० 175

2- डा० हुकुमचन्द - आधुनिक काव्य में नवीन जीवन मूल्य- पृ० 48

भारतीय चिंतकों के अनुसार "धर्म प्रथम पुरुषार्थ है। इसे भारतीय चिन्तकों ने सर्वाधिक महत्व प्रदान किया है तथा इसे अन्य तीनों पुरुषार्थों के साथ संयुक्त किया है। धर्म के अभाव में शेष तीनों पुरुषार्थ अर्थात् अर्थ, काम और मोक्ष की कोई गति नहीं है, यह सत्य ही है। यह "धृ" धातु से निष्पन्न है जिसका अर्थ धारण करना, बनाये रखना एवं पुष्ट करना होता है। यह एक महत्वपूर्ण अंग है जो जीवन के सिद्धान्तों को नियत करता है। इसके आचरण से मनुष्य-जीवन सफलता के सोपानों पर चढ़ता है। डा0 राधाकृष्णन का मत है कि, "धर्म परम मूल्यों में विश्वास और इन मूल्यों को उपलब्ध करने के लिए जीवन की एक पद्धति का प्रतीक होता है।"[1] धर्म नैतिक व्यवस्था को जन्म देता है जिसका परिणाम आध्यात्मिक एवं नैतिक मूल्यों का उदय है।

"धर्म" का प्रसार व्यापक है। यह एक महत् मानव मूल्य है जो अस्तित्व आस्तिकता, कर्त्तव्य, प्रेम [व्यक्ति एवं देश के प्रति] स्वतन्त्रता, मर्यादा, आस्था, सेवा, लोक कल्याण आदि कई मूल्यों को जन्म देकर मानव जीवन को महत् संकल्पों से पूर्ण करने के लिए प्रेरित करता है।

"अर्थ" द्वितीय पुरुषार्थ है। इसे मानव जीवन के बाह्य मूल्यों में परिग - णित किया जाता है। इसका सामान्य अर्थ भौतिक सुखों और आवश्यकताओं की पूर्ति के संदर्भ में है। अर्थ प्राप्ति मनुष्य की प्रधान एषणाओं में से एक है। यदि इसके अर्जन में धर्म को सहायक नहीं बनाया गया तो यह पुरुषार्थ या मानव मूल्य जहाँ व्यक्ति का हित सम्पादित करते हुए उसे जीवनोत्कर्ष प्रदान करता है, वहाँ

1- डा0 राधाकृष्णन् धर्म और समाज [हिन्दी अनुवाद] पृ0 17

यह व्यक्ति को निम्नस्तरीय बनाकर मानवीयता से रहित कर सकता है। मूलत: "अर्थ" मनुष्य को इहलौकिक सम्पन्नता प्रदान करता है, इसीलिए यह एक महत्वपूर्ण मानवमूल्य बन गया है। आधुनिक युग में तो इसने मानव मूल्यों में महत् स्थान प्राप्त कर लिया है।

"काम" तृतीय पुरुषार्थ (मानवमूल्य) है। अपने संकुचित अर्थ में "काम" मात्र इन्द्रिय सुख या यौन प्रवृत्तियों की सन्तुष्टि ही है, जब कि विस्तृत अर्थ में यह मनुष्य की समस्त प्रवृत्तियों, इच्छाओं तथा कामनाओं का प्रतीक है। आचार्य वात्स्यायन ने इसके संदर्भ में कहा है कि, "आत्मा से संयुक्त, मन से अधिष्ठित "काम" त्वचा, कान, आँख, जिह्वा तथा नाक (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ) का इच्छानुकूल अपने अपने विषयों में प्रवृत्त होना काम है।"[1]

गीता में भी श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है - "धर्माविरुद्धो भूतेषु कामो-ऽस्मि भरतर्षभ।" (7:11) अर्थात् मैं वही काम हूँ जो धर्म के विरुद्ध नहीं है।

इस प्रकार काम का महत्व महान है। किन्तु आधुनिक युग में काम का महत्व एवं स्वरूप विकृत होता जा रहा है। वह अपना प्राचीन गौरव त्यागकर संकुचित अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है जिसका कारण इसका धर्म से विरत होना है। फिर भी जीवन में इसकी आवश्यकता बनी हुई है, इसीलिए "काम" मानव जीवन के महत मूल्यों में परिगणित किया गया है।

1- आचार्य वात्स्यायन- कामसूत्र-हिन्दी अनुवाद, 1:2:11

"मोक्ष" चतुर्थ पुरुषार्थ है जिसे जीवन में सर्वोच्च माना गया है। यह साध्य मूल्य के रूप में मान्य है, जब कि अन्य तीन पुरुषार्थ साधनात्मक मूल्य की कोटि में परिगणित होते हैं। साधारणत: इसका अर्थ जीवन मुक्ति है और इस जीवन मुक्ति को मृत्यु कहा जाता है। किन्तु ऐसा नहीं है।

डा० हुकुमचन्द ने लिखा है- " मूलत: मोक्ष से आवागमन के बन्धन से मुक्ति का अर्थ लेना इसे मात्र मृत्यु के पश्चात् ही प्राप्त जीवन मूल्य [पुरुषार्थ] मानना होगा। जीवन मुक्ति [मोक्ष] का वास्तविक अर्थ इसी जीवन से संम्बन्धित है। जीवन में सभी प्रकार की स्वतन्त्रता [किसी के बंधन में न होना] ही मोक्ष है। जीवन के पश्चात् मोक्ष की बात करना इसे मूल्यों की कोटि से च्युत करना होगा।"[1]

मोक्ष एक ऐसा मूल्य है जिसके उपरान्त व्यक्ति के लिए कुछ भी पाने की इच्छा शेष नहीं रहती है। यह मानव जीवन के आत्मिक विकास का परमोत्कर्ष है।

प्राचीन भारतीय मनीषियों ने इन पुरुषार्थों को अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया है। ये ही जीवन के सर्वोच्च मानव मूल्य कहे जा सकते हैं जो कि मानव का हित संपादित कर उसके जीवन को सफल बनाते हैं। वस्तुत: भारतीय मनीषियों की मानव मूल्यों के प्रति उत्पन्न यह चिन्तन धारा अपने आप में अलौकिक है। इनके चिंतन की दिशा पुरुषार्थों के माध्यम से मनुष्य को जीवन के

1- डा० हुकुमचन्द- आधुनिक काव्य में नवीन जीवन मूल्य- पृ० 4।

शाश्वत सत्यों से परिचित कराती है।

सुप्रसिद्ध कवि रामधारी सिंह "दिनकर" की दृष्टि में मूल्यों का समाजशास्त्रीय महत्व है। समाज में प्रचलित नियमों एवं सिद्धान्तों ने सभ्यता को जन्म दिया है। यही सभ्यता मूल्यों की रचना करती है। जिसका महत्व तब तक नहीं होता जब तक वे जीवन के अंग नहीं बन जाते। उनकी दृष्टि में मूल्य आचरण के सिद्धान्तों को कहते हैं। उनके अनुसार - " जो मूल्य वाणी की शोभा है, आचरणों के आधार नहीं, वे अगर व्यर्थ मान लिये जायें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है"।[1]

वस्तुतः सैद्धान्तिक संगति के लिए रचे गए मूल्य, मूल्य नहीं है। इनका महत्व तब ही है जब वे व्यावहारिक संगति के लिए स्वयं को योग्य बनाते हैं तब तक उनका प्रयोजन नगण्य है, निरर्थक है। यह सत्य है कि व्यावहारिक संगति के लिए मूल्य सर्वप्रथम सैद्धान्तिक संगति के अंग बनते हैं। "व्यक्ति विभिन्न विकल्पों को या तो स्वीकृत करता है या उनका निषेध करता है। स्वीकृत का आचरण करता है या इसे परस्पर सभी के बीच ग्राह्य बनाने का यत्न करता है।"[2] इन्हीं ग्राह्य मूल्यों को वस्तुतः मूल्य कहा जा सकता है।

मूल्य मानवीय हित से युक्त समाज व्यापी दृष्टि है। इस स्थिति में वैयक्तिक मूल्यों का गौरव तब तक नहीं आँका जाता। जब तक वे सामाजिक

1- दिनकर - साहित्यमुखी - पृ0 6

2- माध्यम - जनवरी 1969 - पृ0 44

मूल्यों से अपनी संगति नहीं बैठा लेते। मूल्य के संदर्भ में दिनकर की यही दृष्टि है, इसीलिए मूल्यों को परिभाषित करते हुए उन्होंने लिखा- "मूल्य वे मान्यताएँ हैं जिन्हें मार्गदर्शक ज्योति मानकर सभ्यता चलती रही है और जिसकी उपेक्षा करने वालों को परम्परा अनैतिक, उच्छृंखल या बागी कहती है। किन्तु कभी-कभी ऐसा भी होता है कि, पुराने मूल्यों को मिटाकर उनकी जगह नये मूल्यों की प्रतिष्ठा करने वाले व्यक्ति भगवान बन जातेहैं।"[1]

वस्तुत: मूल्यों का यह संघर्ष वैयक्तिक विचारों और इच्छाओं का संघर्ष है, जिससे व्यक्ति की मान्यताएं बदलने लगती हैं। संस्कृति एवं समाज की मूल्य संबन्धी दृष्टि को राजशेखर ने स्पष्ट लिखा है- "प्रत्येक समाज की चाहे वह नवीन या प्राचीन, आधुनिक हो या आदिवासी, अपनी संस्कृति होती है। प्रत्येक समाज में कुछ विश्वास कुछ रीतियाँ और कुछ रिवाज होते हैं। ये विश्वास तथा रीति-रिवाज उस संस्कृति का एक अंग बन जाते हैं। समाज का कोई भी सदस्य इनसे हटकर नहीं रह पाता। विश्वासों और रीति-रिवाजों का आधार कुछ पूर्वगामी घटनाएं होती हैं तथा कभी कभी दैविक विश्वास भी होता है। समाज और उसकी संस्कृति का अंग होने पर ये एक अमूर्त रूप ले लेते हैं, यही अमूर्त रूप मूल्य बन जाते हैं।"[2]

1- दिनकर - साहित्यमुखी - पृ0 56

2- माध्यम - मार्च 1969 - पृ0 5।

राजशेखर के इस मत से यह भली भाँति स्पष्ट होता है कि समाज में प्रचलित विश्वास एवं रीति-रिवाज ही अमूर्त रूप में मूल्य हैं। समाज में रहकर मूल्य दायित्वों एवं संस्कारों का तत्व बन जाता है, क्योंकि सामाजिक मनुष्य की चिन्तन प्रक्रिया इन्हीं संदर्भों के मध्य से गुजरती है।

डा0 नगेन्द्र के मूल्यों के विषय में अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किए हैं- "आज का जीवन सर्वथा विश्रृंखलित और अव्यवस्थित है, जीवन मूल्यों की इतनी भयंकर अराजकता पहले शायद ही कभी सामने आई हो। राजनीतिक और आर्थिक दुर्व्यवस्था के साथ सांस्कृतिक और दार्शनिक उलझनों ने मिलकर जीवन में अगणित गुत्थियाँ डाल दी है- जिनमें कि आज का विचारक फँसकर रह जाता है। इस प्रकार के राजनीतिक विप्लव तो पहले भी आए, परन्तु मानव चेतना पर उनका इतना सर्वव्यापी प्रभाव नहीं पड़ा। पर आज तो जैसे समाज और सभ्यता का आधार ही भंग हो गया है। इसका कारण यह है कि पहले तो राजनीति और संस्कृति...।"[1]

डा0 महावीर दाधीच का मत भी लगभग यही है। उन्होंने लिखा है- "किसी वस्तु का इन्द्रियों से सम्पर्क चेतना में कुछ अनुकूल-प्रतिकूल अथवा प्रतिक्रिया-जन्य संवेदना उत्पन्न करता है। यही अनुभूति है। संवेदना की अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता के प्रत्यक्ष रूप बनते ही धनात्मक अथवा ऋणात्मक गुण उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार चेतना वस्तु को गुणीभूत बना देती है। उसे अन्तर्भूत कर लेती है। इन गुणों का वस्तु में आरोप होता है। ये गुण ही मूल्य की प्रारम्भिक अवस्था है.......।"[2]

डा0 दाधीच ने गुणों को मूल्यों का निर्णायक बताया अवश्य है किन्तु

1- डा0 नगेन्द्र- विचार और विवेचन (हिन्दी की प्रयोगवादी कविता) पृ0 138-39

2- डा0 महावीर दाधीच-आधुनिकता और भारतीय परम्परा -पृ0 10

यह प्रायः वैयक्तिक धरातल पर ही होता है। जैसे-जैसे अन्य परिवेशों से उसका साक्षात्कार होता जाता है, मूल्यगत परिप्रेक्ष्य भी व्यापक होने लगता है। वस्तुतः मूल्य हृदय और बुद्धि अर्थात् भाव और विचारों का एकीकृत रूप ही है या यों कहें कि ऐसे विचार जो भाव संयुक्त हों, मूल्य होते हैं। डा० दाधीच ने लिखा है- "चेतना अनुभूति से प्रत्यय का निर्माण ही नहीं करती प्रत्यय को अनुभूति भी बनाती है। ऐसे प्रत्यय (आइडियाज़) मूल्य होते हैं।"[1]

रामदरश मिश्र मूल्यों की सृष्टि में तथ्यजगत को प्रमुख मानते हुए कहते हैं - "तथ्य जगत के बीच हम जीते हैं तथ्य जगत हमारे साथ रागात्मक सम्बन्ध जोड़ते रहते हैं। ये केवल हमारे राग, बोध और सौन्दर्य बोध को ही प्रभावित नहीं करते, नये मूल्यों की सृष्टि भी करते हैं। नये नये तथ्य जगत के सामने आते रहते हैं। ये तथ्य धीरे धीरे हमारे जीवन के सम्बन्धों में जुड़ जाते हैं और मन को तथा जीवन मूल्यों को प्रभावित करते रहते हैं।[2]

श्री मिश्र ने मूल्यों का सम्बन्ध तथ्यों से जोड़ा है। यद्यपि मूल्य तथ्यों के अनुसार परिवर्तित होते रहते हैं। कुछ हद तक यह सही भी है क्योंकि यदि हम 1947 के पहले और उसके बाद के समय पर ध्यान दें तो यह स्पष्ट होता है कि इस बीच तथ्यों में बदलाव के कारण मूल्यों में भी बदलाव नज़र आता है। किन्तु प्रो० चाँदमल ने तथ्य और मूल्यों को एक नहीं माना है, वे कहते हैं कि,

---

1- डा० महावीर दाधीच- आधुनिकता और भारतीय परम्परा-पृ० 11

2- माध्यम जुलाई 1964 पृ० 28

"तथ्य और मूल्य के सम्बन्ध की संतोषजनक व्याख्या न तो मूल्यों की स्वतन्त्र सत्ता मानने से ही हो सकती है और न उन्हें तथ्यों का रूपान्तरण कहने से। मूल्यों का तथ्यों की तरह से अस्तित्व मान लेने से केवल तात्विक द्वैतवाद ही उत्पन्न नहीं होता अपितु इससे द्वैतवादी मनोविज्ञान की भी उत्पत्ति होती है। एक और तथ्य जगत है जो मनुष्य के इंद्रियानुभव और नैतिक जीवन को नियमित करता है।"[1]

प्रो० चाँदमल का यह कथन सत्य है कि तथ्य और मूल्य दोनों भिन्न-भिन्न जगत हैं तथा मूल्य तथ्यों का रूपान्तरण नहीं हो सकता। किन्तु मूल्यों की सृष्टि में तथ्य जगत का सहयोग अवश्य रहता है। मूल्यों के निर्धारण में तथ्य जगत अर्थात् संसार के अतिरिक्त व्यक्ति की अन्तश्चेतना का समन्वय आवश्यक है। किन्तु इससे तथ्य जगत को अस्वीकार नहीं किया जा सकता उसकी महत्ता है जो रागात्मकता से युक्त होकर मूल्यों का संविधान करती है। मूल्यों के परिवर्तन में इस तथ्य जगत के परिवर्तन विशेष रूप से प्रभावशाली रहते हैं।

इसी संदर्भ में रामदास मिश्र ने लिखा है-- "मूल्यों का बोध सर्जक को सन तात्कालिक जीवन संदर्भों से प्राप्त होता है। बहुत सी मान्यताएँ, मूल्य मान्यताएं, किसी युग में आकर पुरानी पड़ जाती है, सारहीन सिद्ध हो जाती हैं। युग नए मूल्यों की खोज करता है, नए जीवन दर्शन बनते हैं। जागृत संवेदना और विश्लेषण शक्ति सम्पन्न बुद्धि इन मूल्यों की संक्रान्तियों की चेतना का अनुभव करती है, नए मूल्यों की खोज करती है।"[2]

1- वातायन- अगस्त 1967 -पृ० 50

2- माध्यम - जुलाई 1964 -पृ० 36

ये बदलती हुई मान्यताएँ जिनका व्यापक आधार होता है, मूल्यों में परिवर्तन उपस्थित करती हैं तथा नए मूल्यों की रचना करती हैं। रघुबीर सिंह ने लिखा है- "परिवर्तन समाज और काल का अटल नियम है, पुराने विचार मान्यताएं नये समाज का जहाँ ढाँचा बदला है वहाँ नये मूल्यों की स्थापनाएं भी स्वाभाविक ही हो गयी हैं। नये मूल्यों की स्थापना से जीवन को देखने की हमारी दृष्टि में भी परिवर्तन अवश्यंभावी हो गया है। जीवन के प्रति हमारा दर्शन भी बदला है। एक प्रकार से जीवन दर्शन को नए धरातल पर लाकर नई व्याख्याओं द्वारा समझा जा रहा है।"[1]

यह परिवर्तन युग की सहज देन ही कही जायेगी। मूल्यों के आधार पर ही सभ्यता और संस्कृति का संगठन होता है और सभ्यता तथा संस्कृति में होने वाले परिवर्तन मूल्य को प्रभावित करते हैं इस प्रकार दोनों का सापेक्ष सम्बन्ध है।

वस्तुत: मानव मूल्य मानव अस्तित्व की व्याख्या करते हैं। यही इनका संदर्भ है। इसी संदर्भ को स्पष्ट करते हुए योगेन्द्र सिंह ने लिखा है- "मानव मूल्यों के संदर्भ में वस्तुगत आग्रह एवं वैचारिक ग्राह्यता या अपनाव का मध्य बिन्दु सामूहिक उपयोगिता है। सामूहिक उपयोगिता व्यक्ति के अस्तित्व की सबसे प्रबल साक्षी है। दूसरे शब्दों में मानव मूल्य मानव अस्तित्व की व्याख्या करता है। इसके अतिरिक्त मूल्यों का कोई संदर्भ नहीं है।"[2]

1- रसवंती - अगस्त 1964 - पृ0 45

2- माध्यम - जनवरी 1969 - पृ0 43

इस प्रकार मानव अस्तित्व एक तरह से मनुष्यता या मानवीयता को ही व्यक्त करता है। इसी मानव संवेदनाओं को मानव मूल्य के निर्धारण का आधार बनाना सहज ही है। डा० जगदीश गुप्त के शब्दों में- "बिना मानवीय संवेदाओं को केन्द्र में रखे मूल्य की कल्पना नहीं की जा सकती। मूल्यों की प्रतिष्ठा का अर्थ मानवता एवं मानवीयता की प्रतिष्ठा है। उसके बिना मानवीय अस्तित्व निरर्थक है। इससे भिन्न रूप में मानव मूल्य की कल्पना मैं नहीं कर पाता हूँ।"[1]

सुमित्रानन्दन पंत की दृष्टि में मूल्यों का सामाजिक महत्व है। पंत ने मूल्यों के लिए समाज को आधार मानकर बतलाया कि, मानवीय मूल्य अन्य सभी मूल्यों की अपेक्षाकृत बड़े हैं उन्होंने लिखा है- "जितने भी मूल्य हैं, उनकी पीठिका सिर्फ समाज ही हो सकता है, क्योंकि व्यक्ति का विकास तो समाज की दिशा में होता है, चाहे वे सामाजिक मूल्य हों, चाहे वैयक्तिक मूल्य हों, वे मानव मूल्य हैं या नहीं? वे उस सत्य को वाणी देते हैं या नहीं जो कि मनुष्य का सत्य है। चाहे वह व्यक्ति के रूप में हो चाहे समाज के रूप में मानवीय या सत्य एक ही है।"[2]

पंत जी की दृष्टि में मानवीय मूल्यों का सम्बन्ध मानवीय या मनुष्य के सत्य से है। सत्य के सम्बन्ध में यह प्रचलित है कि, वह देश काल निरपेक्ष होता है, युगीन परिवेश में स्थायी महत्व का होता है, मनुष्य का सत्य वही है जो उसकी

1- डा० जगदीश गुप्त स्वरूप और समस्याएं पृ० 15

2- धर्म युग 7 सितम्बर 1969 पृ० 12

अन्तरात्मा का सत्य है। इस प्रकार मानव मूल्यों के निर्धारण में अन्तरात्मा का योगदान सक्रिय रूप में है।

"साहित्य कोश" में मानव मूल्यों की इसीतरह की महत्ता को स्थापित किया गया है। वैयक्तिक और सामाजिक मूल्यों को स्पष्ट करते हुए "साहित्य कोश में बताया गया है कि, मानव मूल्य इन सभी मूल्यों से ऊपर की स्थिति है।

मानव मूल्य अंतरात्मा से उत्पन्न मानवीयता का पोषण करने वाले मनुष्य के ऐसे महान गुण है जिसमें मानव प्रकृति से तादात्म्य प्रदर्शित कर जीवन को मानवीय हित के महत्तम संकल्प के लिए प्रेरित करने के भाव निहित हैं। इन मानवमूल्यों की महत्ता मनुष्य के क्रियशील जीवन में ही अभिव्यक्त होती है क्योंकि जब तक उन्हें आचरण का अंग नहीं बनाया जाता। तब इनका अस्तित्व नगण्य है। अस्तु आचरण के अंग बनकर मानव मूल्य मानवोत्कर्ष में सहायक सिद्ध होते हैं।

पाश्चात्य विद्वानों ने मूल्य के संदर्भ में विभिन्न प्रकार की मान्यताएं प्रस्तुत की हैं। वे नीतिशास्त्र एवं समाज शास्त्र की दृष्टि से निर्मित है। मानवीय मूल्यों के संदर्भ में नीतिशास्त्रीय दृष्टि स्पष्ट करते हुए "इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका" में लिखा ~~है कि~~ गया है कि " वे मूल्य जीवन के अस्तित्व एवं उसकी प्रगति के संदर्भ में व्याख्यापित होते है।"[1] समाजशास्त्रियों की दृष्टि में "मूल्य सामाजिक विषय का एक अंग बन जाता है।"[2] हैरिक मानवीय मूल्यों को सामाजिक

1- Encyclopadia Britannica - valus are defiend in terms of survival and enhancement of life, Vol-22 Page-962

2- Sociology - A synopsis of principle - values are part of the subject matter of sociology : Jhon F.Cuber Page-47

संदर्भों में रखना उचित समझते हुए अपना निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं- "यह सच है कि मानवीय मूल्य सामाजिक चौखटे में रखे जाते हैं।"[1]

पाल ने मूल्यों पर विचार करते हुए लिखा है "प्रत्येक मूल्य का अनुकूल एवं प्रतिकूल महत्व होता है। प्रत्येक वस्तु के मूल्य निर्धारण में बहुत से विषय और घटनाएँ, कृत्य और अनुभवों यहाँ तक कि, स्वयं मूल्य के प्रति हम बंधे हुए हैं। किसी भी वस्तु को स्वीकार करने में वे मूल्य कभी तो हमें सहयोग देते हैं और कभी हमारा विरोध करते हैं"।[2] पाल भी मूल्य को वैयक्तिक धरातल की उपज मानते हैं तथा उसकी उपयोगिता प्रदर्शित करते हैं। जो सामाजिक धरातल पर होना भी संभव है।

1- The evaluation of human nature - It is true that most human values are set in a social frame
C. Judson Herrick Pages 141.

2- पाल रौकिक्रेक-एथिकल वैल्यू इन एज ऑफ साइन्स [हिन्दी अनुवाद]
पृ0 225-226.

साहित्य और मानव मूल्य का सम्बन्ध

साहित्य समाज का दर्पण है। इस कारण साहित्य में मानव मूल्य स्वत: प्रविष्ट होते हैं। इस सम्बन्ध में रामधारी सिंह "दिनकर" का विचार है कि-" परिवेश वह वातावरण है जिसमें साहित्य लिखा जाता है और मूल्य वे नैतिक मान्यताएं हैं, साहित्य जिनका समर्थन और विरोध करता है। विशेष प्रकार के परिवेश और मूल्यों के अधीन भी रचा गया साहित्य सभी परिवेशों, सभी मूल्यों का स्पर्श करता है।"[1]

यदि साहित्य में मानव मूल्यों की स्थिति पर विचार किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि मूल्यों की स्थिति साहित्य में अति उच्च है। साहित्य चूँकि युग विशेष या समय विशेष का प्रतिनिधित्व करता है तथा उस युग के विचारों का निर्माणकर्त्ता एवं पथप्रदर्शक भी होता है, इसलिए मानव मूल्यों के संदर्भ में साहित्य का विशेष स्थान है। इन मानव मूल्यों और सृजन प्रक्रिया के सम्बन्ध में डा0 जगदीश गुप्त का मन्तव्य है-- "किसी मूल्य का संश्लेषण तब तक सृजनप्रक्रिया में संभव नहीं है जब तक वह अनुभूति की स्पंदित भावभूमि पर अवतरित नहीं होता। जिन मानवीय अनुभवों के आधार पर वह मूल्य सामान्य जीवन में सिद्ध माना गया है, उन या उनके समानान्तर परिकल्पित वैसी ही अनुभूतियों की सजीव सृष्टि का सूत्रपात हुए बिना रचना प्रक्रिया में मूल्य बोध का समावेश असम्भव है। साहित्य

1- दिनकर.. साहित्यमुखी -पृ0 56-57

साहित्य में वे मानव मूल्य ही प्रतिबिम्बित एवं समाविष्ट हो पाते है, जिनको साहित्यकार ने अपने अन्त:करण में धारण कर लिया है और जो उसके संवेदन शील व्यक्तित्व के अविभाज्य अंग बन चुके हैं। ऐसे मानव मूल्य साहित्य और कला में संश्लिष्ट होकर व्यक्त होते हैं। वे आरोपित प्रतीत नहीं होते। इन्हें साहित्य के माध्यम से उपलब्ध मानव मूल्य कहा जा सकता है।"[1] डा० गुप्त के कथन का तात्पर्य यह है कि- मूल्य बोध का अनुभूति से युक्त होना अनिवार्य है। मानवीय अनुभवों का साहित्य के मानवमूल्यों की दृष्टि से भी उतना ही महत्व है जितना जीवन के मूल्यों में है।

मानवमूल्य के दो बिन्दु हैं ···· पहला तो अस्थायीमानव मूल्य तथा दूसरा स्थायी मानव मूल्य।

अस्थायी मानवमूल्यों का अस्तित्व समयानुसार [युगीन] होता है।

स्थायी मानवमूल्य सार्वकालिक और सार्वभौमिक होते हैं। युगीन मानव मूल्य, स्थायी मानव-मूल्य की अपेक्षा सीमित काल परिवेश में होते हैं। इसलिए उनका महत्व भी कम होता है।

अस्थायी मानवमूल्य पूर्णतया परिवर्तनशील हैं। परिणामस्वरूप रचना की जीवन्तता स्थायी मानव मूल्यों पर ही निर्भर करती है। साहित्य में युगीन मानव मूल्य एक विशेष अवधि के पश्चात् पुराना पड़ जाता है किन्तु स्थायी मानव मूल्य कभी पुराना नहीं होता । स्थायी मानवमूल्यों की प्रविष्टि से हुई रचना कभी

1- डा० जगदीशगुप्त- नयी कविता स्वरूप और समस्याएँ-पृ० 20-2।

पुरानी नहीं पड़ती और वह एक युग ही नहीं कालान्तर में भी अपने महत्व को बनाये रखती है।

श्री विष्णु स्वरूप का विचार भी इस संदर्भ में ऐसा ही है-" एक युग के साहित्य में स्थायी मानवमूल्य का जो स्वरूप प्रतिष्ठित होता है, आगे के युगों में उसकी सार्थकता समाप्त नहीं हो जाती क्योंकि आगे के युगों में प्रतिष्ठित होने वाला स्वरूप गत युगों के स्थायी मानव मूल्य का एक विकास स्तर ही होता है। अतः हमारी चेतना में निहित पूर्णता की भावना गत युगों की समान भावना में मूलबद्ध रहती है। यही कारण है कि गत युगों का ऐसा साहित्य जिसमें स्थायी मानव मूल्य ध्वनित हुआ, हमें आगे के युगों में स्पंदित करता है। पूर्णता के आदर्श की नितांत उपलब्धि किसी भी युग को नहीं हो पाती फिर भी स्थायी मानव मूल्यों में अग्रिम विकास होता चलता है। इसीलिए वह निरन्तरशील रहता है।"[1]

स्वातन्त्र्योत्तर काल जो कि, अनेक आपदाओं से ग्रस्त है, साहित्य को भी अपनी बदलती हुई परिस्थिति में स्वाभाविक ढंग से मोड़ता जा रहा है। ऐसी स्थिति में साहित्य इसी प्रकार की आपदाओं से ग्रस्त होता जा रहा है। मानवीय मूल्यों को तिरस्कृत करने पर साहित्य को पहचानने की रीति गलत हो जाती है, तथा मिथ्या मान्यताओं का उदय होता है। निष्कर्ष यह होता है कि साहित्य के वास्तविक रूप का परिचय नहीं हो पाता और साहित्य भ्रांत लीक की ओर बढ़ने लगता है। साहित्य जो मानवीय संस्कृति, सभ्यता एवं व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है तथा जो जीवन को आन्दोलित करने की या प्रेरित करने की

1- विष्णु स्वरूप- नया साहित्य कुछ पहलू - पृ0 13-14

क्षमता से सम्पन्न है, युग के सामने सही आदर्श नहीं रख पाता।

ऐसी परिस्थिति में साहित्य की उपयोगिता का अवमूल्यन हो जाता है। इस सम्बन्ध में धर्मवीर भारती ने कहा है कि - " मानवीय मूल्यों के संदर्भ में यदि हम साहित्य को नहीं समझते तो अक्सर हम ऐसी झूठी प्रतिमान योजना को प्रश्रय देने लगते हैं कि समस्त साहित्यिक अभियान गलत दिशाओं में मुड़ जाता है।"[1] इसका प्रभाव जीवन पर अवश्य पड़ता है, मानवोत्कर्ष के सोपान साहित्य के माध्यम से सामने आये और मनुष्य की आस्था को रूपाकार प्राप्त हो सके जो मानव मूल्यों पर आधारित है।

साहित्य का यह दायित्व है कि नैतिक के अमर सत्य मूल्य की प्रतिष्ठा करे, यानि कि वह समन्वयक मूलक मूल्य प्रदान करे। निश्चय ही आदर्श मूल्य की प्रतिष्ठा साहित्य की पहली प्रेरणा है। आज जिस प्रकार से हमारी विधि व्यवस्था चल रही है, उसमें एक मान्य मूल्य है राष्ट्र। नारा है कि "शान्ति के लिए युद्ध की तैयारी लाजिमी है" ऐसे अच्छे लक्ष्य के नाम पर उठाये गये हुए कदम भी अच्छे बन जाते हैं। इस तरह मूल्यों में बड़ी अव्यवस्था होती है।

विभिन्न राजनीतिक नारों और अपनी जरूरतों के कारण हम मानवोचित मूल्यों से जाने अनजाने भटक जाते हैं और इस कारण किसी प्रकार का विषाद भी अपने अन्दर पैदा नहीं होने देते हैं। लोग उन नारों के अनुसार काम करते हैं और उन्हें किसी प्रकार का दोष नहीं दिया जा सकता। पर साहित्य को इन नारों

1- धर्मवीर भारती- मानवमूल्य और साहित्य-पृ0 155

से मुक्त रहना है। नहीं तो फिर कोई साधन नहीं रह जायेगा, जो उन नारों के क्षोभ के बीच मानव मूल्य को मूर्धन्य रखे। शाश्वत मूल्य की प्रतिष्ठा वर्तमान के प्रति असावधान रहने से नहीं हो सकती।

विभिन्न तीर्थों, धामों और तीर्थ पुरुषों के दर्शन और चरित्र से, भारतीय संस्कारों और मानव मूल्यों की रचना हुई। फिर राजन्य वर्ग से उसी प्रकार के आचरण की अपेक्षा रखी गयी। भारतीय मानस राजनीतिक उथल पुथल के अधीन प्राय: गिरता उठता नहीं रहा, उसके मूल्य मानवीय रहे और प्रादेशिकता एवं एकाकीपन की सीमाओं में प्रवेश नहीं किए। सामयिक से अधिक वे नैतिक और शाश्वत रहे।

जहाँ तक राम और कृष्ण का प्रश्न है, ये कोई वनवासी ऋषि नहीं थे। ये दोनों ही चरित्र भारतीय धर्म के दो ध्रुव हैं। राम का वह रूप भारतीय मानस में प्रवेश ही कर जाता है जब वे कृतार्थ भाव से राज्य का अधिकार छोड़ देते हैं। उसीतरह कृष्ण का बाल-रूप भी भारत के लिए विमोहन बना हुआ है। दोनों स्थानों पर योद्धा प्रधान नहीं बल्कि गौण हैं। और अर्जुन को गीता के उपदेश से प्रेरित कर कृष्ण स्वयं सारथी रहते हुए युद्ध से उत्तीर्ण बने रहते हैं।

भारत में विभिन्न जातियाँ, विभिन्न भाषाएं और रहन-सहन तथा वेश-भूषा के विभिन्न स्तर रहे हैं। पर कथाओं, गाथाओं एवं काव्य पुराणों के द्वारा एक ही मानव धर्म यहाँ दशों दिशाओं में व्याप्त रहा। आरोपित आदर्श उसको ढक या उखाड़ नहीं सके। साहित्य उसी स्रोत से प्राणवन्त होता रहा और प्रदेश विशेष की या व्यक्ति विशेष की विशेषताओं को लेकर वह कितना

भी विविध और विचित्र बन कर प्रगट हो, मूलतः ध्रुवनिष्ठ रहा है।

साहित्य में विभिन्न रूप, आकार, और शैली का प्रयोग होने पर वह केन्द्रीय भाव से दूर नहीं हुआ और सर्वत्र उसी मानव मूल्य की प्रतिष्ठा का साधन बना रहा।

वैज्ञानिक कसौटी पर मानव मूल्य

आज का युग विज्ञान का युग है, जिसमें प्रत्येक वस्तु को वैज्ञानिक कसौटी पर कसा जा रहा है। सभी मतों की वैज्ञानिक दृष्टि से समीक्षा की जा रहीहै। इस स्थिति में यदि मूल्यों को भी वैज्ञानिक कसौटी पर कसा जाय तो कोई अत्युचित नहीं होगी। मूल्यों का सम्बन्ध समाज से है और समाज का अपना एक स्वतन्त्र "समाजशास्त्र" बन चुका है।

प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार का विचार है कि- "मानव समाज अपने विचारों और अपनी धारणाओं को सामूहिक रूप में किस प्रकार समाज में बनाए रखता है। इस प्रक्रिया का नाम है समाजशास्त्र।"[1] इस प्रकार हम कह सकते हैं कि समाजशास्त्र समाज का विज्ञान है। इसमें मानवीय सम्बन्धों, विचारधाराओं, मान्यताओं, रीति-रिवाजों, प्रथाओं आदि का अध्ययन होता है। इनका सम्बन्ध मूल्यों से अवश्य ही है।

वर्तमान काल में मनुष्य की प्रत्येक क्रिया और अन्तःक्रिया का अध्ययन हो रहा है, ऐसी स्थिति में मूल्यों की वैज्ञानिक व्याख्या सम्भव है।

1- प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार- समाजशास्त्र के मूल तत्व - पृ० 6।

किसी भी वस्तु की वैज्ञानिक व्याख्या के लिए सर्वप्रथम समस्या का निर्धारण किया जाता है। तदुपरान्त समस्या का वर्गीकरण, परीक्षण, आगमन नियमों का प्रतिपादन, भविष्यवाणी, प्रयोगशाला पद्धति का उपयोग आदि बातों की आवश्यकता होती है।

मूल्यों के क्षेत्र में किसी न किसी रूप में अधिकांश तथ्य उपलब्ध हो जाते हैं। जिससे वैज्ञानिक परीक्षण सम्भव हो सकता है। समाज में मूल्यों को लेकर समस्यायें पैदा होती हैं। जिनका परीक्षण, वर्गीकरण, जाँच, नियम का प्रतिपादन (किसी सीमा तक) समाजरूपी प्रयोगशाला पद्धति का उपयोग आदि किया जा सकता है।

मूल्यों की वैज्ञानिक व्याख्या सम्भव है या नहीं, इस संदर्भ में विलियम फ्रेन्ड के विचार हैं- " मूल्य पूर्ण रूप से मानवीय भावनाओं एवं इच्छाओं पर निर्भर होते हैं। अन्तिम रूप में यह मानव विश्वास से सम्बन्धित होते हैं जो कि विज्ञान के क्षेत्र से परे होता है।"[1]

शास्त्रीय पद्धति पर मानव मूल्यों की व्याख्या:

मानव मूल्यों का निर्माण सापेक्ष स्थिति में होता है। मूल्य की उत्पत्ति के लिए द्वैत अनिवार्य है। "एक" ही हो तो मूल्य प्रक्रिया के लिए अवकाश ही नहीं रहेगा। एक अर्थात् अपूर्ण। इस सम्बन्ध में डा० दाधीच के विचार महत्वपूर्ण हैं- "पूर्णता में मूल्यों की स्थिति तो दूर, मूल्यीय चेतना भी नहीं हो सकती।

1- विलियम फ्रेन्डसन- द सोशियोलोजी ऑफ एम० वेबर (हिन्दी अनुवाद)-पृ० 52

मतलब यह है कि अपूर्ण में पूर्णता की लालसा मूल्य चेतना अर्थात् तत्सम्बद्ध प्रक्रिया का मूल है।"[1]

डा० धीरेन्द्र वर्मा के अनुसार- "मूल्य शब्द वस्तुत: नीति शास्त्रीय" वेल्यू का पर्यायवाची है। मानवीय क्रियाओं में आचार व्यवहार में अच्छाई या शिष्टत्व का मुल्य क्या है, इस पर नीतिशास्त्र ने बहुत विचार किया है।"[2] वस्तुत: भिन्न-भिन्न समाज में भिन्न भिन्न मूल्य होते हैं। सर्वमान्य और सर्व व्यापक मूल्यों का निर्धारण असम्भव है।

प्रत्येक समाज की मान्यताएं, विचार और परम्परायें दूसरे समाज से भिन्न होती हैं। जिनके आधार पर उनमें मूल्यों का गठन और विघटन होता है। उदाहरण के लिए भारतीय हिन्दू समाज में विवाह के प्रति एक विशेष धारणा है। विवाह पवित्र धार्मिक तथा आत्मिक सम्बन्ध के रूप में स्वीकार किया गया है। परिणामस्वरूप यहाँ विवाह विच्छेद की कल्पना ही कठिन है। यही कारण है कि विधवा विवाह को प्रोत्साहन नहीं मिल पा रहा है।

अमेरिकी समाज में भारतीय समाज से भिन्न धारणाएं हैं जिस कारण विवाह विच्छेद एवं विधवा विवाह निन्दनीय नहीं माना जाता। राजस्थान और मध्यप्रदेश के मालवा क्षेत्र में पर्दा प्रथा समाज का एक मान्य मूल्य है जब कि बंगाल में इसे अशुभ माना जाता है।

1- महावीर दाधीच- आधुनिकता और भारतीय परम्परा- पृ0 9

2- डा0 धीरेन्द्र वर्मा- हिन्दी साहित्य कोश भाग एक- पृ0 658

इसी प्रकार कहीं पतिव्रत धर्म की महिमा है तो कहीं पत्नी व्रत की, कहीं एक पत्नीत्व की, कहीं बहु पत्नीत्व की, और कहीं क्षणिक स्त्री पुरुष सम्बन्धों की। ऐसी स्थिति में कतिपय नीतिशास्त्रियों ने उपयोगिता वादी कसौटी [बहुजन हिताय] प्रस्तुत की है।

मूल्य या प्रतिमान में स्थायित्व अवश्य होता है, पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि मूल्य स्थिर होते हैं। जीवन के विभिन्न मूल्यों में परिष्कार या संस्कार चलता रहता है जैसे नैतिकता एक ऐसा मूल्य है जो पर्याप्त संस्कार और परिष्कार के फलस्वरूप ही बनता है। यदि हम कहें कि मूल्यों के परिष्कार या संस्कार में सदियाँ लग जाती हैं तो अत्युक्ति न होगी। किन्तु सामाजिक, व्यावहारिक मूल्यों में यह परिवर्तन अपेक्षाकृत शीघ्र होता है।

समय परिवर्तन के साथ ही जीवन मूल्यों में भी परिवर्तन या संस्कार होता है। इसी संस्कार के फलस्वरूप उनका पुराना रूप नया बनने लगता है। इस रूप में भी मनुष्य के नए संस्कार पुराने आधार पर ही खड़े होते हैं। कोई भी साहित्यकार इस बदलते हुए युग के विचार, जीवन-चिंतन और उसके लक्ष्य को समझकर ही साहित्य में उसे प्रतिष्ठित करता है। तब मूल्य व्यवहारिक धरातल पर उतर जाते हैं और गत्यात्मक रूप ग्रहण कर लेते हैं

साहित्य में "मूल्य" विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यहाँ पर मूल्य अर्थ केवल मानव और समाज के हित तक ही सीमित नहीं है। इसी प्रकार की

स्थिति होती तो सभी धार्मिक ग्रन्थों को श्रेष्ठ साहित्य के अंग के रूप में स्वीकार कर लिया जाता। साहित्य में "शिव" के साथ "सत्य" और "सुन्दर" को भी समाहित किया गया है। यही नहीं कभी-कभी साहित्य में वर्णित अनेक व्यक्ति परिस्थितियाँ और व्यवहार, अनैतिक होते हुए भी मूल्यवत्ता रखते हैं।

मातृत्व के भार से दबी श्रद्धा को मनु का चुपचाप छोड़कर चला जाना मानवीय दृष्टिकोण से अनुचित लगता है परन्तु इसी घटना की पृष्ठभूमि में श्रद्धा का करुण स्वर मुखर हो उठा है, अत: वह खटकता नहीं है। इस सम्बन्ध में नागमती नागमती का वियोग, उर्मिला का विरह एवं राधा का प्रलाप आदि अन्यानेक उदाहरण दिए जा सकते हैं।

कई बार ऐसे भी अवसर आते हैं कि साहित्य के विभिन्न पात्र, अनैतिक जान पड़ने वाला पापाचरण करते हैं पर घटनाओं के घात-प्रतिघात या वर्णन वैशिष्ट्य से पाठक या दर्शक के मन में यह विश्वास पैदा हो जाता है कि वास्तव में यह अनीति नहीं है। इसी स्थिति से जहाँ "शिव" और "सुन्दर" का द्वन्द्व प्रश्न प्रारम्भ हो जाता है। सत्यं, शिवं, सुन्दरम् हमारी भारतीय संस्कृति के शाश्वत मूल्य हैं।

कुछ विचारकों का यह विचार है कि सत्य, शिव, सुन्दर तीनों मूल्य ही, सत्ता के तीन पहलू हैं। सौन्दर्यवादी विचारक सौन्दर्य को ही अन्तिम मूल्य मानकर चलते हैं। नीति शास्त्री "शिव" को ही सबसे अधिक महत्व देते हैं।

यथार्थवादी या वैज्ञानिक निरे "सत्य" का समर्थन करते हैं। इस प्रकार किसी न किसी रूप में तीनों की सत्ता को समग्र या अलग अलग रूप में स्वीकार

अवश्य किया गया है।

धर्मशास्त्र में मूल्यों की अपनी विशिष्ट सत्ता है। वस्तुत: मूल्यों पर ही धर्म का ढाँचा टिका हुआ है। मूल्यों के अभाव में धर्म की सत्ता गौण हो जायेगी। यही कारण है कि भारत जैसे आध्यात्मिक देश में मूल्यों की सत्ता सदैव सर्वोपरि रही है और उसे धार्मिक और दार्शनिक क्षेत्र से बाहर नहीं माना जाता है।

मूल्यों का तात्त्विक विवेचन:

"मूल्य" शब्द "मूल" से निष्पन्न है, जिसका अभिप्राय है किसी वस्तु के विनिमय में दिया जाने वाला धन,दाम, बाजार भाव आदि। परन्तु आज "मूल्य" शब्द का अर्थ विस्तृत हो गया है और अब यह मानदण्ड के अर्थ की भी अभिव्यक्ति करने लगा है।

चिंतन से विचार उत्पन्न होते हैं। विचारों में धारणा का जन्म होता है तथा धारणा से मानव मूल्यों का निर्माण। प्रत्येक समाज में जीवन और पारस्परिक व्यवहार के सम्बन्ध में कतिपय धारणाएँ होती हैं। यही धारणाएँ स्थिर होकर मानव मूल्य पद पर प्रतिष्ठित होती हैं। किसी वस्तु या विचार के प्रति अनुकूल धारणा तद् विषयक मानव-मूल्यों को जन्म देती है।

भारतीय समाज में विवाह के प्रति अच्छी (अनुकूल) धारणा रही है, अत: समाज की दृष्टि में यह महत्वपूर्ण मानव मूल्य है। जब तक तलाक के प्रति जन

सामान्य की प्रतिकूल धारणा भी तब समाज में तलाक मानव मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित नहीं हो सका, किन्तु पति-पत्नी के पारस्परिक मन-मुटाव की स्थिति में तलाक के महत्व के कारण तलाक के प्रति लोगों के मन में अनुकूल धारणा के बनने से तलाक के मानव मूल्य का प्रादुर्भाव हुआ।

बहुत से व्यक्तियों की एक वस्तु के प्रति एक सी धारणा होती है जो उनके पारस्परिक संगठन का प्रतीक है। दो विरोधी धारणाओं का आविर्भाव संघर्ष को जन्म देता है जिससे विघटन की स्थिति उत्पन्न होती है। क्योंकि परस्पर विरोधी धारणाओं से समाज का मतैक्य खण्डित हो जाता है। स्वातन्त्र्योत्तर समाज में मतैक्य के स्थान पर मतभेद है। यही कारण है कि वह प्रगतिशील होते हुए भी विघटित हो रहा है। आधुनिक युग में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, राजनीति आदि के प्रति नवीन धारणाएँ जन्म ले रही हैं। परिणामस्वरूप नये मानव मूल्य विकसित हो रहे हैं।

वातावरण के शनैः शनैः परिवर्तन के अनुरूप जन सामान्य के कार्यक्षेत्र में भी परिवर्तन हो जाता है। पर सहसा स्थिति के बदलाव को स्वीकार करना कठिन हो जाता है। जैसे स्वातन्त्र्योत्तर काल में स्त्री के कार्य क्षेत्र में परिवर्तन हो गया है, अब वह पुरुषों के साथ कंधे से कंधा मिला, कल-कारखानों, औषधालयों, विद्यालयों में कार्य करने लगी है, तथा अर्थोपार्जन में पुरुष का सहयोग कर रही है। इस परिवर्तन के अनुसार उसके स्तर में भी परिवर्तन होना चाहिए था। स्तर का निर्धारण मानवमूल्यों के आधार पर होता है और मानव मूल्य इतने जल्दी बदलते नहीं। यही कारण है कि, इस दिशा में अब तक नारी को उतना सम्मान नहीं

मिल सका है जितना मिलना चाहिए।

मानव मूल्य समाज की वह आधारशिला है जिस पर सभ्यता और संस्कृति का भव्य प्रासाद निर्मित होता है समाज में मानव मूल्य सदैव बनते बिगड़ते आये हैं। आदिम समाज में भी कतिपय मानव मूल्य रहे होंगे।

समाज के निर्माण में मानव मूल्यों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। समाज का सम्बन्ध मानव जगत से है, अतः मानव मूल्यों का सम्बन्ध भी मानव से है।

इस सम्बन्ध में सच्चिदानन्द वात्स्यायन के विचार बहुत महत्त्वपूर्ण हैं- " मूल्यों का क्षेत्र बहुत व्यापक है मूल्यांवेषण की जिज्ञासा युग युगान्तर से रही है। दार्शनिक एवं साधकों ने सदियों से यह जानने का प्रयास किया है कि, वह अन्तिम कसौटी कौन सी है जिस पर कसकर हम किसी भी वस्तु की धातु को पहचान सकते हैं। हम मानते हैं कि सब प्रतिमानों का सब मूल्यों का स्रोत मानव का विवेक है।"[1] विवेक से मनुष्य को सद् असद् का ज्ञान होता है तथा मानव मूल्यों का निर्माण भी होता है।

<u>मूल्यों में अकाल:</u>

"मूल्यों का संघर्ष और विसंगतियाँ समाज के संदर्भ में भारतीय दर्शन के मर्मज्ञ और देश के पूर्व राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन् का यह सामाजिक सूत्र है--

---

1- सच्चिदानन्द हीरानंद वात्स्यायन "अज्ञेय" हिन्दी साहित्य एक आधुनिक परिदृश्य-पृ० 10

"नाट द इवेंटर्स ऑफ न्यू मशीनरी, बट द इवेंसटर्स ऑफ न्यू वैल्युज मूव द वर्ल्ड" नयी मशीनों का आविष्कार करने वाले नहीं, नये मूल्यों की स्थापना करने वाले ही संसार को आगे बढ़ाते हैं इसका विकास करते हैं।

चिंतन की यह ऋचा अपने में बहुत गहरे अर्थ समेटे बैठी है, और हमारा ध्यान इस बात की ओर खींचती है कि हम जिस काल में जी रहे हैं उसने टेप-रिकार्डर से उस अन्तरिक्ष यान तक का आविष्कार किया है, जो मनुष्य को चाँद पर ले गया और वापस भी ले आया।

सच्चे अर्थों में यह मानव-बुद्धि का सबसे बड़ा चमत्कार है। उचित है कि हम उसका अभिनन्दन करें और हमारे भीतर इस सबके लिए आत्मगौरव का बोध पैदा हो, पर क्या यह भुलाया जा सकता है कि, इन आविष्कारों के काल में मनुष्य का सबसे बड़ा मूल्य मानवता इस सीमा तक नष्ट हो गई है कि, विश्व की मनुष्यता इस काम में जुटी हुई है कि, हजारों लाखों वर्षों की मेहनत तपस्या से फली फूली मानव सभ्यता कैसे कुछ दिनों, कुछ घंटों में पूरी तरह नष्ट की जा सकती है।

राम ने एक नये मूल्य की स्थापना की थी इसे "मर्यादा" कहा गया और उसकी स्थापना के कारण राम मर्यादा पुरूषोत्तम कहलाए। राम के उन सामाजिक मूल्यों का "स्वातन्त्र्योत्तर समाज में बहुत तेजी से विघटन हो रहा है। जो वर्तमान समाज की परिस्थितियों को और समाज को बदले, उसे नयी व्यवस्था का रूप दे, यह एक विश्व व्यापी नये मूल्य का जन्म होगा।

<u>मूल्यों के संघर्ष की प्रक्रिया:-</u> भारत में उन्नीसवीं सदी के मध्य तक मानवमन

की मर्यादा का बन्धन आचरण बन कर बाँधे रहा। धर्म के कुछ आदेश मूल्यों की अंधश्रद्धा में पग कर उनके जीवन में रच पग गये थे। प्रत्येक जनपद में कुछ आदमी धनी होते थे, जिन्हें बड़ा आदमी कहा जाता था, बाकी सब जन सामान्य।

जनसाधारण को बड़े आदमियों से कोई ईर्ष्या न थी, क्योंकि उन्हें भाग्य पर विश्वास था, वे यह मानकर चलते थे कि हमारे भाग्य में सुख-सुविधा होती तो, हम झोंपड़ियों में जन्म ही क्यों लेते? उन महलों में न लेते? जनसाधारण का मनोविज्ञान है कि जिस विवशता पर वह प्रयत्नों से पार नहीं पा सकता, उसे पूरे मन से स्वीकार कर लेता है। यही कारण है कि यह स्वीकृति न उसके मन में शिकायत पैदा करती है, न कुंठा।

स्वतन्त्रता के बाद जहाँ तक नये मूल्यों की स्थापना का सवाल है? हम कह सकते हैं कि गांधी के बाद देश में नए मूल्यों की स्थापना ही नहीं हुई। बल्कि हम इन पुराने मूल्यों को तोड़ने में लग गए, इस टूटन में पद और प्रतिष्ठा ने हथियार का कार्य किया। परिणामत: ट्यूशनों के शिकारी अध्यापक, कुर्सियों के शिकारी राजनीतिज्ञ, पैसे के शिकारी व्यापारी और कर्महीन कर्मचारी देश में भर गये। कुछ न कर, सब कुछ पाने की लालसा ही हमारा राष्ट्रीय चरित्र हो गया।

खड़े होकर मूल्यों के संघर्ष की काल्पनिक बहस कर रहे हैं। इसी लिए हमारे समाज में आज विसंगतियाँ नहीं, असंगतियों का दमघोंटू धुआँ व्याप्त है। राजाराम मोहनराय से स्वामी दयानन्द तक जागरण काल आया। उसने अंध-श्रद्धा के अंधे मूल्यों के सामने कुछ जीते जागते मूल्यों को खड़ा किया।

अब पुराने प्रतिक्रियावादी और नए प्रगतिवादी में सामाजिक संघर्ष छिड़ गया। जैसा कि स्वाभाविक है, नए मूल्य अपेक्षाकृत शक्तिशाली सिद्ध भी हुए। शिक्षा से दूर-दूर तक रिश्ता न रखने वाली बेटियाँ विद्यालयों तक पहुँची, परदे में घुटती बहुएं घूँघट से बाहर खुली हवा में आयीं, पशु से भी खराब जीवन यापन करने वाले अछूत आर्य समाज के हवन कुंडतक जा पहुँचे।

मूल्य के विभिन्न स्रोत

मानव जीवन मूल्यों के कारण ही सार्थक होता है। डा0 महावीर दाधीच ने कहा है- "मनुष्य की आध्यात्मिक धारणा के अनुसार मानव मूल्यों का आदि स्रोत ईश्वर ही है। उसने माना था कि, विश्व की विशालता , जटिलता और स्पष्टता से मानवीय चेतना की सर्जना नहीं हो सकती है, इसीलिए कोई ऐसी चेतना होनी चाहिए जो विश्व सृष्टि का निर्माण कर सके, जो उसका सोद्देश्य क्रम निर्धारित कर सके और जो विश्व के ही समान अनादि अनंत हो, असीम अबद्ध हो, सर्वशक्तिमान हो।"[1]

इसी विचार से मनुष्य की धार्मिक दृष्टि निर्मित हुई तथा उसने ईश्वरीय अस्तित्व एवं सत्ता को स्वीकार किया। धर्मवीर भारती का विचार है-- "समस्त मध्यकाल में इस निखिल सृष्टि और इतिहास क्रम का नियंता किसी मानवोपरि अलौकिक सत्ता को माना जाता था। समस्त मूल्यों का स्रोत वही था और मनुष्य की एकमात्र सार्थकता यही थी कि, वह अधिक से अधिक उस सत्ता से तादात्म्य स्थापित करने की चेष्टा करे। इतिहास या काल प्रभाव उसी मानवोपरि सत्ता की सृष्टि था ..... माया रूप में या लीला रूप में।"[2]

1- डा0 महावीर दाधीच आधुनिकता और भारतीय परम्परा,पृ013, 14

2- डा0 धर्मवीर भारती मानव मूल्य और साहित्य,पृ09

उपर्युक्त कथन में ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए उसे मानव मूल्य के प्रणेता के रूप में माना गया है। वस्तुत: प्राचीन एवं मध्यकाल तक ईश्वर ही मात्र मूल्यों का नियामक रहा है, क्योंकि उसे "पुरुषोत्तम" के रूप में स्वीकार किया गया है।

विष्णु स्वरूप का मत है कि -"अवतारवाद की जो बात शास्त्रों में देखी जाती है, वह उस लोकोत्तर अस्तित्व को मूल्यों का आधार बनाने से भी संबंधित है, जिससे व्यक्ति के सामने एक निश्चित राह दीख सके।"[1] राम, कृष्ण, बुद्ध आदि के रूप में विभिन्न युगों में मनुष्य चेतना द्वारा अपने विकास के आदर्शों को ही मूर्त किया जा रहा है।

मनुष्य की आध्यात्मिक चेतना ही है कि जो उसे इस मार्ग की ओर प्रेरित करती है। वैसे पंत जी का यह मत महत्वपूर्ण है कि-" मानव मूल्यों का अन्वेषक चाहे वह स्रष्टा हो या द्रष्टा .... उसे महत्तर आनन्द, प्रेम सौन्दर्य तथा श्रेय के सूक्ष्म संवेदनों का जाह्नवी के अवतरण के लिए भगीरथ प्रयत्न करना पड़ता है। इसे वैभिन्य की बहिर्गत विषमता तथा कटुता के अन्तरतम ऐक्य की एकनिष्ठ साधना के बल पर जीवन वैचित्र्य की समता तथा संगति में परिणत करना है, जिसके लिए आत्म संस्कार आवश्यक है।"[2]

1- विष्णु स्वरूप-नया साहित्य कुछ पहलू-पृ0 13

2- आलोचना- जनवरी 1954 - पृ0 61,62

किन्तु ऐसा देखा जा रहा है कि स्वातन्त्र्योत्तर युग (वर्तमान) में ऐसे विश्वास निरर्थक सिद्ध होते चले जा रहे हैं। विज्ञान के विभिन्न चमत्कारों से विश्वास बहुत परिवर्तित हो गया है। धीरे-धीरे ईश्वर को आध्यात्मिक अर्थ में ग्रहण न करके मानवता की परिणति के रूप में मान्य किया जाने लगा।

मूल्यों के स्रोत में समय-समय पर विशिष्ट महापुरुषों ने भी योग दिया है। इनके आदर्श, इनके विचार कुछ समयोपरान्त मूल्य बन गये हैं। आधुनिक संसार को मार्क्स, फ्रायड, डार्विन और गांधी ने बहुत प्रभावित किया है। इन महानुभावों ने आर्थिक क्षेत्र, मनोविज्ञान, विज्ञान और अध्यात्म में एक क्रांति उत्पन्न कर दी। इनके विचार सिद्धान्त बन गये और अब मूल्यों का रूप धारण कर चुके हैं।

डा० रघुवंश का विचार है कि " कुछ विचारकों ने आधुनिक जीवन के आसन्न संकट तथा मूल्यों के विघटन का कारण मानवीय नैतिकता के परम स्रोत के रूप में ईश्वर की अस्वीकृति को माना है और नवीन मूल्यों तथा मानव प्रतिष्ठा की पुन: स्थापना के लिए ईश्वर की स्वीकृति अनिवार्य मानी गयी है, परन्तु अब ईश्वर की कल्पना मानवता की आदर्श परिणति के रूप में ही की गयी है जिससे व्यक्ति अपनी मूल्य मर्यादा को ग्रहण करता है। संघबद्ध धर्म और उसके नियामक ईश्वर की स्थिति भाग्यवादी परम्परा के नाम पर नैतिक निष्क्रियता को ही पोषित करती है जो आधुनिक भाग्यवाद से कम खतरनाक नहीं है।"[1]

1- डा० रघुवंश- साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य- पृ० 30

इस क्रान्तिकारी परिवर्तन का जनक विज्ञान ही है। इससे व्यक्ति के स्वभाव में बहुत परिवर्तन हुआ तथा इसके नजरिए में अन्तर आया। वर्तमान युग में मूल्य को ईश्वरीय स्रोत न मानकर मानव को ही उसका स्रोत माना गया है। यह मानव ईश्वर का लौकिक रूप ही है। किन्तु धीरे-धीरे मनुष्य का हृदय अनास्था से भरने लगा और उसने अपने अस्तित्व की रक्षा तथा उसकी स्थापना की ओर ध्यान दिया। ईश्वर के प्रति उसकी आस्था टूटने लगी।

मूल्यों के स्रोत के विषय में आज तक कोई स्पष्ट धारणा नहीं बन पाई है। मूल्यों का स्रोत जानने के लिए आज का मानव बड़ा बेचैन है। यह तो निश्चित है कि, मूल्यों का स्रोत कोई आदि दैविक नहीं है व कोई काल्पनिक या प्रतीक पुरूष। इस सम्बन्ध में अज्ञेय जी का विचार महत्वपूर्ण है- " मानव मूल्यों का उद्गम साधारण मानव को मानना ठीक है।"[1] अज्ञेय का यह विचार तथ्यपूर्ण है क्योंकि साधारण मानव से ही स्वाभिमान की रक्षा होती है; और उसके व्यक्तित्व को उन्नति के लिए अवसर मिलता है। इसीलिए मूल्यों का स्रोत सहज मानव को मानना ही उपयुक्त है।

मानव मूल्यों की परम्परा:-

मूल्यों की सृष्टि और उनका गठन अचानक या दैविक चमत्कार की भांति अचानक नहीं होता। मूल्यों का आविर्भाव और विकास समाज के साथ साथ हुआ है। जितना पुराना समाज है मूल्य भी उतने ही पुराने हैं।

1- अज्ञेय-{संपादक} आज का भारतीय साहित्य - पृ0 403

आरम्भ में मनुष्य ने किसी अवसर विशेष पर विशिष्ट व्यवहार किया और जब बार बार उसे दुहराया तो वही रूढ़ हो गया। इस प्रकार विशेष वर्ग में रूढ़ियों और प्रथाओं का निर्माण हुआ। अन्य वर्गों में इनका स्वरूप कुछ और था। वैदिक मन्त्रों और कथाओं में इन्हीं मूल्यों की स्थापना की गई है। ब्राह्मण ग्रन्थों में भी मूल्यों का वर्णन है जैसे ......" अयज्ञो हि एष यो अपत्नीक:" । इसके अतिरिक्त ईश्वराधना की, देव पूजन की अनेक मान्यताओं का वर्णन है, जिनको स्वीकार किया गया है। इन्हीं के आधार पर कालान्तर में विधि-विधान की रचना हुई है।

समाज ने इन्हीं विधि विधानों के आधार पर अपने सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं भावात्मक सम्बन्धों की स्थापना किया, किन्तु कालान्तर में मनुष्य स्वयं निर्मित नियमों का अपने स्वार्थवश उल्लंघन करने लगा, जिससे सम्पूर्ण मानवता हिल गयी। जिससे सामाजिक स्थिति लगातार अधोमुखी होती गयी, और मानव मूल्यों में परिवर्तन होने लगा।

प्राचीन समय में इनका उल्लंघन अपराध माना गया और यह स्थिति स्वतन्त्रतापूर्व तक कायम रही है। अपराध के लिए दण्ड विधान की व्यवस्था की गयी थी। मानव ने इस विधान को स्वीकार किया और नियमित रूप से समाज में इसका पालन होने लगा।

समय व्यतीत होने के साथ साथ यह धारणा कमजोर होने लगी। जब मानव ने अपनी स्वतन्त्र सत्ता का अनुभव किया और उसमें स्वच्छन्द चेतना का विकास हुआ। तब "मानवतावाद" का स्फुरण हुआ। इस प्रकार धीरे-धीरे मानव मूल्यों

में परिवर्तन होने लगा।

मानव का "अहं" जागा। अलौकिक शक्ति के प्रति विद्रोह भड़का। तर्क वितर्क हुए, निष्कर्ष निकले, नवीन मान्यताएं स्थापित हुईं। इस प्रकार मानव को अपने बारे में ज्ञान हुआ। उसने अपनी शक्ति और सीमाओं को आंका, और अपने प्रभुत्व की स्थापना की। अलौकिक से लौकिक, असाधारण से साधारण की ओर उन्मुख होकर मनुष्य ने यथार्थ को स्वीकृति दी।

मनुष्य बनता है, बिगड़ता है और बिखरता है। समाज में भी इसके साथ परिवर्तन आता है। समय-समय पर अनेक परिवर्तन आए हैं। सामाजिक विघटन के साथ मूल्य टूटे हैं और टूटते रहते हैं। यह "मूल्य संक्रमण" की क्रिया अनवरत है। इतिहास में जब भी परिवर्तन आया तो मूल्यों में भी अन्तर उपस्थित हुआ। समय व परिवर्तन के अनुसार मूल्यों ने भी अपना श्रृंगार किया। मूल्यों का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। मानव के उत्थान के साथ मूल्यों में भी यही होता है।

हम यह दावा नहीं कर सकते कि, मानव मूल्यों की एक बार स्थापना हो चुकी है। वस्तुत: यह सृजन-चिंतन का कार्य तो प्रत्येक क्षण चलता रहता है। इस सम्बन्ध में धर्मवीर भारती के विचार इस प्रकार हैं-" सम्पूर्ण सभ्यता जिन मूल्यों पर आधारित थी, वे झूठे पड़ गये हैं, परिणाम यह है कि एक भयानक विघटन उपस्थित है।"[1]

1- डा० धर्मवीर भारती मानव मूल्य और साहित्य पृ० 65

वर्तमान समय में हमारी वाणी और कर्म, आचरण और धारणा के बीच अन्तर आ गया है। हम जिन मूल्यों का उद्घोष करते हैं, उसके उल्टे आचरण करते हैं। यह हमारी अन्तरात्मा के विध्वंस की स्थिति है। इस संक्रमण काल में हमारा विशिष्ट दायित्व है।

मानव मूल्यों में परिवर्तन के कारण

संसार परिवर्तन शील है। मनुष्य की भी ऐसी ही गति है। मनुष्य से ही सम्बन्धित मानव मूल्य होते हैं। मानव को समाज की आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक व्यवस्था प्रभावित करती है। जब मनुष्य इन परिस्थितियों से प्रभावित होता है तो निश्चय ही उससे सम्बन्धित मानवमूल्य में परिवर्तन होता है।

स्वातन्त्र्योत्तर समाज में अर्थ व्यवस्था में अभूतपूर्व परिवर्तन देखने में आया। परिणाम स्वरूप सामाजिक मूल्यों में विघटन की समस्या उपस्थित हुई। अर्थ तो समाज का मेरुदण्ड है। आर्थिक परिस्थितियाँ समाज की शिरायें हैं जिनमें अर्थ रूपी रक्त प्रवाहित होता हुआ समाज के अन्य अंगों को जीवन प्रदान करता है।

वर्तमान युग अर्थ प्रधान युग कहा जा सकता है। मजदूर एवं पूँजीपति वर्ग परस्पर स्वार्थों की रक्षा के निमित्त संघर्ष की ओर अग्रसर हुए और मूल्य संक्रमण की स्थिति उत्पन्न कर दी। आये दिन मजदूर वर्ग और पूँजीपति वर्ग में

रस्साकसी चलती रहती है। भारत की परम्परागत प्रधान कृषि अर्थव्यवस्था औद्योगीकरण के रूप में निखार पा रही है। परिणामस्वरूप ग्राम एवं ग्रामीण अर्थव्यवस्था को धक्का लगा है और नगरों को प्रोत्साहन मिला एवं तज्जनित मूल्यों का प्रादुर्भाव हुआ है। स्वातन्त्र्योत्तर भारत में आर्थिकविकास के निमित्त पंच वर्षीय योजनाओं का निर्माण किया गया एवं योजना बद्ध आर्थिक प्रगति की आवश्यकता अनुभव की गयी है। देश में औद्योगीकरण की संभावनाएँ बढ़ी हैं, किन्तु साथ ही देश में बेरोजगारी, भुखमरी एवं गरीबी की वृद्धि हुई है।

गावों में विकासात्मक परिवर्तन की गति तीव्र हुई है। विकास की इस गति ने ग्रामीण जनता के सम्मुख एक चमत्कारिक प्रभाव पैदा किया है और परम्परागत मूल्यों के आगे एक प्रश्न चिन्ह खड़ा कर दिया है। पूँजीवाद और समाजवाद की दो विचारधाराओं के मध्य वर्तमान आर्थिक जगत पैन्डलुम की तरह अस्थिर है। जनतांत्रिक पृष्ठभूमि के परिणाम स्वरूप समाजवाद अधिक शक्तिशाली साबित होता जा रहा है। ऐसा लगता है कि मार्क्स का स्वप्न साकार होने जा रहा है। परम्परागत पूँजीवाद ध्वस्त होता जा रहा है और समाजवादी परिस्थितियों के साथ ही नवीन विचारधाराएं पैदा हो रही हैं।

बैंको का राष्ट्रीयकरण, लघु उद्योगों को प्रोत्साहन, किसानों को सरकार द्वारा ऋण प्रदान करने की योजनाएँ आदि मूल्य संक्रमण के सशक्त माध्यम बन रहे हैं।

परिवर्तित धार्मिक परिस्थितियों ने भी सामाजिक मूल्यों को पर्याप्त आलोड़ित किया है। साम्प्रदायिकता का जो विध्वंसकारी स्वरूप हमारे सम्मुख उपस्थित हुआ है। उससे राष्ट्रीयता की भावना को खतरा पैदा होने की

संभावनाएं निरन्तर बनी रहती हैं। किन्तु 1971 में हुए भारत-पाक युद्ध ने यह स्पष्ट कर दिया है कि, भारत निवासियों का प्रमुख धर्म एक ही है [राष्ट्रीयता]।

परम्परागत नैतिकता व्यक्ति स्वातन्त्र्य एवं व्यक्ति विकास में बाधक सिद्ध हुई अत: शनै: शनै: वह ध्वस्त हो गई। आदर्शों का स्थान यथार्थ ने ग्रहण कर लिया है।

इस युग की सबसे महत्वपूर्ण घटना, विज्ञान और दर्शन के रूप में उपस्थित हुई है। परम्परागत धारणाओं से व्यक्ति का विश्वास उठता गया और शक्ति रूप में ईश्वर के सापेक्ष स्वरूप को स्वीकृति प्रदान की गई। इसी प्रकार पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक, सुख -दु:ख, जन्म-मृत्यु एवं नियति सम्बन्धी परम्परागत मान्यताओं में भी पर्याप्त अन्तर दृष्टिगोचर होता है।

स्वातन्त्र्योत्तर संघर्षमय युग में मानव धर्म की आवश्यकता को अनुभव किया जा रहा है। इसीलिए गांधीवाद एवं सर्वोदयवाद जैसी विचारधाराओं को प्रतिष्ठा मिली है।

चारों ओर विश्व शांति के लिए प्रयत्न किये जा रहे हैं। नेहरू जैसे महापुरूषों ने विश्व राज्य का स्वप्न भी इसी युग में संजाया था। "सर्वे भवन्तु सुखिन: सर्वे सन्तु निरामया" एवं वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त हो और इसी के अनुसार आचरण किया जाय। इस बात की आवश्यकता अनुभव की गई।

सामाजिक परिस्थितियाँ भी पर्याप्त रूप से परिवर्तित हुई है। और

उनसे भी मूल्य संक्रमण की अनवरत प्रक्रिया को बल मिला।

समाज में नवीनीकरण की चेतना के प्रादुर्भाव से नवीन मूल्यों को बल मिला। पाश्चात्यीकरण, शहरीकरण औद्योगीकरण एवं मशीनीकरण जैसी प्रक्रियाओं ने परम्परागत सामाजिक मूल्यों के मेरुदण्ड को ही विशृंखलित कर दिया।

समाज में अर्थ संघर्ष को बल मिला, इसी के साथ ही अन्य विसंगतियों को भी प्रश्रय मिला और सामाजिक विघटन की समस्या उत्पन्न हुई।

नैतिक मान्यताओं की दृष्टि से आश्चर्यजनक परिवर्तन देखा गया। बढ़ती हुई जनसंख्या पर नियन्त्रण पाने के प्रयत्नों ने नैतिक मूल्यों को क्षत-विक्षत अवस्था में ला पटका है। यौन सम्बन्धों में स्वेच्छाचारिता का आग्रह बढ़ा है। सेक्स को प्राकृतिक आवश्यकता मानकर मात्र आनन्द की प्राप्ति ही इसका अंतिम मूल्य माना जाने लगा है। परिस्थितियों के उस चपेट से दाम्पत्य जीवन के मधुर सम्बन्ध भी कड़वाहट से भर गए।

मार्क्स, फ्रायड, डार्विन, रसेल, आइंसटाइन, टैगोर, गांधी, अरविन्द इत्यादि सामाजिक चिन्तकों के विचारों से भी समाज में नवीन मान्यताएं पैदा हुई, जिसकारण मानवमूल्य परिवर्तित होने लगे है। स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद प्रत्येक व्यक्ति में "स्व" की भावना का विकास हुआ है। वयस्क मताधिकार से उसे और भी बल मिला है।

स्वातन्त्र्योत्तर काल में समाज के स्थान पर व्यक्ति को प्रतिष्ठा मिली है। परिणाम स्वरूप परम्परागत सामाजिक बन्धन स्वतः ही शिथिल हो गए हैं।

पुरुषवर्ग के साथ ही नारी वर्ग में भी व्यक्ति स्वातन्त्र्य की चेतना का पर्याप्त विकास हुआ है। आधुनिक नारी परम्परागत सामाजिक बन्धनों से मुक्त हो चुकी है। उसी के साथ ही नारी सम्बन्धी परम्परागत मूल्य भी ध्वस्त हो गये हैं। अब से उसे अर्धांगिनी न कहना ही उचित जान पड़ता है क्योंकि उसका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है। नारी स्वातन्त्र्य की इस चेतना ने संयुक्त परिवार को तो विश्रृंखलित करने में आंशिक योग दिया ही किन्तु दाम्पत्य जीवन की एक सूत्रता पर भी कुठाराघात किया है।

परम्परागत पारिवारिक मूल्यों में भी इस परिस्थिति में परिवर्तन अवश्यम्भावी है। विवाह के परम्परित बन्धन ढीले हो गये हैं। विवाह अब दो आत्माओं का पुनीत मिलन, जन्म जन्मान्तर का सम्बन्ध एवं एक धार्मिक संस्था न रहकर एक मित्रता अथवा समझौता का रूप ले लिया है जो टूट भी सकता है।

प्रेम का परम्परागत स्वरूप भी क्षत-विक्षत हो गया है। आज स्त्री एवं पुरुष के सम्बन्धों के नवीन आयाम परिलक्षित हुए हैं। वर्तमान युग में पति पत्नी के सम्बन्ध अब स्वच्छन्दता पर आधारित हैं न कि पवित्र बन्धन पर। सतीत्व और पतिव्रतत्व की धारणाएं अब पुराने जमाने की बातें सी हो गई हैं। गर्भपात की वैधानिक स्वीकृति ने तो परम्परागत नैतिकता को खुली चुनौती दे दिया है।

उपर्युक्त कारणों से मानवमूल्यों में परिवर्तन हो रहा है। इन्हीं परिस्थितियों में वर्तमान समय में सामाजिक व्यवस्था मानव मूल्यों की दृष्टि से बदल रही है।

पारिवारिक विघटन-

स्वतन्त्रता पश्चात् गाँवों में बहुत तीव्रगति से विघटन ने एक नव सामाजिक मूल्य का रूप धारण कर लिया है। इसके प्रथम प्रहार में संयुक्त परिवार के बंधन टूट गए हैं। गोपाल उपाध्याय की कहानी "दरार दर दरार"[1] तक आते आते पूर्णाहुति की स्थिति तक पहुँच जाता है, जब आभास होता है कि, पिता, भाई, बहिन और अन्य रिश्ते खोखली संज्ञा मात्र रह गये हैं। पिता के जीवित रहते ही तीन भाइयों में अलगौझा हो रहा है और वह अत्यन्त निरीह स्थिति में सारी पीड़ा सहकर मौन रहने के लिए लाचार है।

स्वतन्त्रतापूर्व सन के दशक से उभरी यह प्रवृत्ति स्वतन्त्रता के बाद वाले प्रथम दशक तक कुछ-कुछ समझौते की आशा से पूर्ण रहती है। किन्तु छठे दशक के पश्चात् यह एक नये सामाजिक मूल्य के रूप में अनायास ही प्रतिष्ठित हो जाती है।

शैलेश मटियानी की कहानी "पुरखा"[2] में परिवार बिखर रहा है और इस बिखराव की पीड़ा परिवार के प्रधान आनन्द सिंह थोकदार को व्यथित कर रही है। ओ परिवार होने को तो देवदार वृक्ष की तरह है। सात सात बहुएँ, छः छः बेटे। दो बीसी तक पोते नातियों की गिनती। पर कलयुग में कहाँ कुटुम्ब एक रहता है? सब भाई न्यारे हो गये। थोकदार ने बहुत समझाया कि सब भाई का एक में रहना (साथ रहना) ही ठीक है। दुश्मनों की सिर

1- धर्मयुग 9 फरवरी 1970 -पृ०१

उठाने की हिम्मत नहीं पड़ती । परिवार की प्रतिष्ठा भी रहती है। पर आज के युग में किसकी कौन सुनता है?

नगर के मध्यमवर्ग में यह विखराव मर्मान्तक ऊब, नीरसता, संत्रास, अविश्वास और तिक्तता भर देता है। ज्ञानरंजन की कहानी "शेष होते हुए"[1] में इसकी रोमांचक स्थितियाँ स्पष्ट हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि गाँव से लेकर नगर तक सब ओर विघटित होते पारिवारिक मूल्य कथा साहित्य में मूल्यांकन बनकर चित्रित हुए हैं।

<u>सामाजिक विघटन</u>

स्वातन्त्र्योत्तर कथा साहित्य में जो सामाजिक जीवन दृष्टिगोचर होता है वह अत्यन्त उजाड़ और विखराव का रूप लिए हुए है। उसकी समरसता खंड खंड हो गई है। पुराने जीवन मूल्य टूटते जा रहे हैं। नये मूल्य निर्मित नहीं हो रहे हैं। समाज में नए नए परोपजीवी वर्ग पैदा होते जा रहे हैं।

अंधकारमय गाँवों को विकास के प्रकाश से जगमगाने के लिए मोटी धनराशि खर्च हो रही है। फिर भी अन्धकार की मोटी परतें टूटती हुई नहीं दिख रही हैं। खण्ड का विकास क्षेत्रों की उत्पत्ति से विनाश-खण्ड के रूप में बदल गया। विकास कहीं हो रहा है, कहीं नहीं हो रहा है। वह जहाँ नहीं हो रहा है वह क्षेत्र है गाँव।

1- ज्ञान रंजन - मेरी प्रिय कहानियाँ- पृ0 46

गाँव और नगर का असंतुलन दिनों दिन बढ़ता जा रहा है। जिस विकसित समाज की अपेक्षा थी वह दिनोदिन एक स्वप्न सा होता जा रहा है। सामूहिक सामाजिक जीवन में यदि ऊब और उदासी है तो नव विकास के किस आयाम के प्रति आभार प्रदर्शित किया जाय? कहानीकार किससे प्रभावित हो ललित शुक्ल की कहानी "धुंधलका"[1] में स्वातन्त्र्योत्तर ग्रामीण समाज का यह धुंधलका स्पष्ट दिखाई पड़ रहा है।

वर्तमान समाज में अंध विश्वास और तस्कर व्यापार अर्थात् अति प्राचीन और आधुनिक प्रवृत्तियाँ एक रंगमंच पर उपस्थित हैं। यह विसंगति अप्रत्याशित नहीं परन्तु विकास के नाम पर नए शोषकों का जाल समाज की उस अधोगामी स्थिति का द्योतक है, जिसका चरित्र अत्यंत हीन और विघटित है।

स्वतन्त्रता के बाद इसकी प्रतिक्रिया में विद्रोह विस्फोट भी हुआ। परन्तु सब मिलाकर वह सामाजिक विघटन को और प्रोत्साहित करने वाला ही सिद्ध हुआ।

<u>ग्राम विघटन</u>

गाँव के विघटन की कथा रामदरश मिश्र की कहानी "खण्डहर की आवाज" में बहुत मार्मिकता के साथ उद्घाटित की गई है। बहुत दिनों के बाद कथावाचक एक पूर्व परिचित गाँव में जाता है, तो वहाँ वह देखता है, कि वह स्कूल जिसमें एक त्याग मूर्ति विद्वान पण्डित जी के सानिध्य में वह कभी साहित्य रत्न का

1- नई कहानियाँ अक्टूबर 1969 पृ0 6।

अध्ययन सम्पन्न करता था , खण्डहर की तरह रो रहा है । उसकी आँखों के सामने अतीत आइने की तरह घूम जाता है और प्रशस्त काय वाले पण्डित जी की सुध में वह डूब जाता है।

स्वतन्त्रता आन्दोलन के लोकप्रिय सेनानी पंडित जी ने तब वहाँ गुलाब लगाए थे वहाँ अब बबूल उग रहे हैं। उन्होंने जो कुआँ बनवाया था वह कूड़े से भर गया है। कुत्ते, सियार, साँप, बिच्छू और गिरगिट उसे अपना निवास स्थान बना लिए है। श्रावयिता और गम्भीर चिन्तन में डूब जाता है। उसे लगता है कि, स्वराज्य के बाद राजनीति की बयार चली तो "साहित्य रत्न" के साथ पण्डित जी की भी मान्यता समाप्त हो गई। विषम मानसिक प्रतिघातों में पंडित जी राजनीति में उतर आये और स्कूल छूट गया। वास्तव में शिक्षा के क्षेत्र में उनकी पूंछ नहीं होती है।

स्वतन्त्रता के बाद की हवा उनके अनुकूल नहीं है। विवश होकर उसी के अनुकूल स्वयं को ढालने के लिए वे राजनीति में विरोधी दल में शामिल हो जाते हैं। विद्यालय क्षेत्र से चुनाव में उतरते हैं। वे गन्दी प्रतिद्वन्द्विता में फँस जाते हैं। उनका सेवक भोलू जो कभी उनके चरणों में सेवारत था, वह सरकारी पार्टी की ओर से उन्हें चुनौती देता है ।

विद्याविनोदी पंडित जी वोट के चक्कर में अनपढ़ गवाँरों की अभ्यर्थना करते फिरते हैं और सब कुछ खोने के बावजूद चुनाव में पराजित होते हैं तो पुनः खेती करने लौटआते हैं। परिस्थितियाँ ऐसी आ गयी है कि वे आधा पेट खाकर सोते हैं। पुनः युगीन परिवेश उन्हें सरकारी दल में झोंक देता है। तब उन्हें दुकान

फिर धनी हो जाते हैं और विवाह करने के उपरान्त एक दिन मर जाते हैं। शाश्वयिता कहता है कि वे मरे नहीं, इन्होंने आत्म हत्या कर ली। शरीर और आत्मा के संघर्ष ने उन्हें तोड़ दिया। वास्तव में पंडित जी की आत्महत्या मूल्य की हत्या है और सामाजिक विघटन बिखराव का सूचक है।

नयी नैतिकता

स्वातन्त्र्योत्तर कथा साहित्य में एक नयी नैतिकता का प्रवेश हुआ है जिसका स्रोत मनोविश्लेषण है। इसने अवचेतन का वह दर्शन उपस्थित किया कि समस्त परम्परागत धारणाएं ही उलट गईं। सौन्दर्य, प्रेम, आकर्षण, पूजा, शक्ति और सम्बन्धों के संदर्भ में अब नयी दृष्टि से सोचा जाने लगा। मनुष्य मनुष्य न रहकर अपने मूल रूप में जानवर अब हुआ है। बाहर से सदाचारी दिखने वाले लोग अवचेतन में कामकुण्ठाओं का विषम जाल पाले वास्तव में परम दुराचारी हैं।

बाहर की काम वर्जनाएं अन्दर उथल- पुथल पैदा करती हैं। मनोविश्लेषण के जीवन की समस्त क्रियाओं के केन्द्र में भी वह आ गया। कुंठाओं, विकृतियों और ग्रंथियों के ऐसे जकड़न जाल खुलने लगे कि उसकी भयंकरता देखकर परंपरावादी काँप उठे। पाप-पुण्य जैसी कोई भावना नहीं रह गई। अवचेतन अनावृत्त होने लगा और व्यक्ति अपनी पूरी सत्यता के साथ अपने ही सामने खड़ा होने लगा।

यह आत्मान्वेषण आधुनिकता का एक महत्वपूर्ण आयाम है। एक ओर जहाँ विज्ञान ने बाहरी दुनियां से सम्बन्धित समस्त गोपनीयता अथवा रहस्य की गाँठों को खोल दिया वहीं पर दूसरी ओर मनोविज्ञान ने व्यक्ति के अन्तर जगत-यथार्थ को उजागर कर दिया। विश्व साहित्य ने बड़ी तीव्रता से इस वैयक्तिक स्तर

पर अपने को मोड़ा है। स्वतन्त्रता के पश्चात् हिन्दी कथा साहित्य ने उसी तीव्रता से विकास करके विश्व कथा साहित्य के समान्तर अपने को खड़ा कर लिया है।

इस तीव्र विकास की प्रवृत्ति का ही प्रभाव है कि स्वतन्त्रता के बाद ग्रामोन्मुख होकर भी हिन्दी कथा साहित्य तीव्रता से नगरोन्मुख हो गया क्योंकि विश्व साहित्य आज वैज्ञानिक उपलब्धियों और युद्धोत्तर परिवर्तनों के दौर से गुजरा। आज नगरीय ही नहीं बल्कि महानगरीय बोध की अन्तरिक्ष युगीन अनुभूतियों के बीच से गुजरता कथा साहित्य बड़ी निर्ममता से प्राचीन मान्यताओं को रौंदता हुआ गतिशील है। नयी नैतिक मान्यताओं की प्रतिष्ठा इसी महानगरीय बोध पर आधारित है।

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कथा साहित्य में इसे कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव, और ज्ञानरंजन आदि ने प्रतिष्ठित किया है। ग्राम स्तर पर नैतिक मान्यताओं का विध्वंस ही एक खुले विद्रोह के रूप में उपस्थित हुआ है। अभी नयी नैतिक मान्यताओं की प्रतिष्ठा योग्य बौद्धिकता से परिपूर्ण भूमि वहाँ तैयार नहीं हो सकी है।

राजेन्द्र यादव की कहानी "प्रैंच लेदर"[1] और "अनुपस्थित सम्बोधन"[2] में यही नैतिकता है। "प्रैंच लेदर" में मध्य वर्ग का केसरी क्लर्क है। कम्पनी के केबिन में बैठा बॉस सिर पर सवार है केसरी एक ही पाकेट में रामायण का गुटका और

1- राजेन्द्र यादव - अपने पार - पृ0 55

2- वही - वही - पृ0 71

फ्रेंच लेदर रखे है। रामायण का फ्रेंच लेदर के साथ पाकेट में पड़ा रहना स्वयं एक बहुत बड़ा विद्रोह है और सशक्त संकेत है। "अनुपस्थिति संबोधन" में लड़की सीमा अपने प्रेमी से कहती है कि माँ के सामने ही तेज अंकल जोर से भींचकर ठीक उसी प्रकार चूमते हैं जैसे तुम चूमते हो...... देखकर माँ का चेहरा ऐसा खिला गुलाबी हो जाता है जैसे उन्हीं को चूमा जा रहा हो। अंकल जब विदेश से आये थे तो मुझे देखकर बुरी तरह चौंक जाते थे। अक्सर माँ से कहते थे, इस लड़की को देखकर मैं एकदम डर जाता हूँ। हू ब हू तुम्हारी शक्ल है.... जब हम मिले थे तो तुम बिल्कुल ऐसी ही थी। रत्ती भर तो फर्क नहीं है। शरीर गठन, ऊँचाई, चेहरा-मोहरा, बोलने का ढंग सभी कुछ वही है। माँ तब घण्टों मुझे ही देखा करती थी। लगता था, माँ माँ नहीं, तेज अंकल है और मैं खुद मैं नहीं, जवानी के दिनों की जो हूँ। एक दिन अंकल ने हिचक कर कहा - मुझे यही डर है कि, कहीं सीमा को तुम समझकर कुछ कर न बैठूँ।" माँ ने बुरा नहीं माना। इस प्रकार इस कहानी में जीवन स्थिति सम्पूर्ण रीति से सेक्स को समर्पित है और कथाकार के आगे व्यक्ति जैसे सम्मोहित होकर अपने नग्न अवचेतन की बखिया उधेड़ रहा है।

तनावपूर्ण सम्बन्ध:

सम्बन्धों का तनाव ,नये सम्बन्धों की खोज और पीढ़ियों का संघर्ष नये सामाजिक मूल्यों के रूप में स्वतन्त्रता के बाद हिन्दी कथा साहित्य में उभरा है और ग्राम कथानकों में भी इसका विकास दृष्टिगोचर होता है। पीढ़ियों का संघर्ष और पिता पुत्र आदि के द्वन्द्व/तनाव तो सनातन हैं परन्तु इधर इनके जो चित्र उभरे हैं उनमें पिताओं के प्रति युगीन अस्वीकृति एक सर्वथा नए धरातल पर उभरी है।

ज्ञान रंजन की "पिता"[1] कहानी में पिता के गँवारपन को लेकर पुत्र से शीत युद्ध ठन जाता है और स्थिति पर्याप्त तनावपूर्ण हो जाती है।

पुत्र के मन में नागरिक सुख सुविधाओं को लेकर पूरा अहंकार है, और वह पुरातन जीवन की कठोरताओं से ऊबा सा लगता है। इसमें नयी पीढ़ी का अहं मुखरित है।वह पिता को ढोंगी और "वज्र अहंकारी" कहकर चिल्लाना चाहता है। स्थिति की गम्भीरता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि, वह पिता के अस्तित्व को भी सहन करने को तैयार नहीं है।

रामदरश मिश्र की "पिता" शीर्षक कहानी में विद्रोही पुत्र की मनःस्थिति को विश्लेषित किया गया है। कथाकार आरम्भ में चिरन्तन जीवन मूल्यों के अवमूल्यन का प्रश्न उठाता है।पिता के प्रति पुत्र का श्रद्धा भाव एक चिरन्तन मूल्य है, एक सामाजिक और धीरे धीरे टूटकर यह टूटना ही एक नया मूल्य होता जा रहा है। आज के युग में पुत्र अब अपनी पैदाइश के लिए पिता का आभारी नहीं रह गया है बल्कि उसे इस बात का जिम्मेदार समझता है कि , उसने अपने आनन्द के लिए एक जीवन को दुनिया के नरक में जीने के लिए मजबूर कर दिया है।

पिता पुत्र की ही भाँति पति पत्नी का तनाव स्वातन्त्र्योत्तर कथा साहित्य की एक मुख्य प्रवृत्ति है। यह प्रवृत्ति नारी के उभरते नए स्वतन्त्र व्यक्तित्व की माँग का परिणाम है स्वातन्त्र्योत्तर कथा साहित्य में पति पत्नी का तनाव इनके बीच तीसरे के प्रवेश की स्थिति में भी जुड़ा हुआ है।

1- ज्ञान रंजन - मेरी प्रिय कहानियाँ - पृ0 37

"वर्जनामुक्त स्वतंत्र नारी"

स्वातन्त्र्योत्तर नारी, परम्परागत वर्जनाओं से येन केन प्रकारेण मुक्त हो रही है और वह नयीनयी समस्याओं का सामना करने लगी है। आर्थिक स्वावलम्बिता और मानसिक स्वतन्त्रता के कारण वह अपने जीवन को अच्छा या बुरा बनाने के लिए स्वतन्त्र है। फिर भी पुरुष के साथ रहना उसकी प्राकृतिक आवश्यकता है चाहे वह परम्परागत पत्नी धर्म का निर्वाह न करती हो। स्वातन्त्र्योत्तर नारी चाहे कितनी ही स्वतन्त्र हो अब भी पुरुष संस्कार से आक्रान्त है।

वर्तमान नारी को केन्द्र बनाकर उसके जीवन की विभिन्न समस्याओं का अंकन करने वाली कहानियों में- मोहन राकेश की "जानवर और जानवर", "ग्लास टैंक", फौलाद का आकाश" मन्नू भण्डारी की "ईश्वर के घर इन्सान" ,"यही सच है", "बन्द दरवाजे का साथ", तीन निगाहों की एक तस्वीर", कमलेश्वर की तलाश", महीप सिंह की "कील", नरेश मेहता की "तथापि", रामकुमार की "समुद्र", ज्ञानरंजन की "कलह", सुधा आरोड़ा की "बगैर तराशे हुए" उषा प्रियम्बदा की "सागर पार"का संगीत" प्रमुख है।

संक्रान्ति के संकट बोध से घिरा हुआ व्यक्ति:

स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय मनुष्य चिंतातुर मुद्रा लिए संकट बोध के अन्तिम किनारे पर खड़ा है। क्षोभ और उदासीनता के द्वन्द्व की यातनाओं से गुजरता भारतीय मनुष्य हर स्थान पर अपने आप को अयोग्य एवं मिसफिट पा रहा है। पुराने मूल्यों से चिपका रहना वह नहीं चाहता और नए मूल्यों को वह निर्मित नहीं कर सकता। इस द्विविधापूर्ण स्थिति का सामना करता हुआ वह कहीं कहीं अपनी

सहनशीलता को भी खो बैठा है। उसका स्वर है "अब और नहीं..........
वह उसको कदापि नहीं सहेगा, जो असंगत और व्यर्थ है।

आज स्वातन्त्र्योत्तर कहानी का नायक संकटबोध की आखिरी सीमा को छू रहा है। जहाँ वह मृत्यु, संत्रास और भयावहता से डरा हुआ है।

प्राकृतिक मृत्यु तो ध्रुवसत्य है जिसका डर प्राय: किसी को नहीं होता क्योंकि डरने से कोई लाभ नहीं । दूसरे प्रकार की मौत जो प्राकृतिक मौत से भी कहीं भयानक होती है वह है जीवन मूल्यों के टूट जाने की मौत। आज की पीढ़ी अपने लिए किसी भी मूल्य को चुनने का अधिकार नहीं रखती, उसकी स्वाधीनता खत्म हो चुकी है। इस मौत के कारण आधुनिक पीढ़ी संत्रास और यातना का अनुभव कर रही है। और निम्न स्तरीय जिंदगी व्यतीत करने के लिए मजबूर है।

अस्तित्व की मजबूरी का तात्पर्य निष्क्रियता नहीं है। अस्तित्व न तो निष्क्रिय है और न स्थिर । अस्तित्व के संकटबोध को झेलने का दूसरा अर्थ होता है अपने बाहरी भीतरी यातनाओं को स्वीकार करना। इसी स्वीकृति में ही जिन्दगी व चेतन तत्व छिपा हुआ होता है। सही अर्थ में मृत्युबोध मृत्यु को झेलने की क्षमता पैदा करता है। संत्रास, क्षणवादिता, भयावहता, अकेलापन आदि वर्तमान मानव की उस अनिवार्य नियति का फल है जहाँ अस्तित्व की दारूण यातना सार्व-कालिक बन जाती है।

यथार्थ के इस पहलू का अंकन स्वातन्त्र्योत्तर कहानीकारों में मोहन राकेश की "जख्म", बस स्टैण्ड की रात", राजेन्द्र यादव की "दायरा", कृष्ण बलदेव की "मेरा दुश्मन" "दूसरे किनारे से", "अजनबी", दूधनाथ सिंह की "आइसबर्ग" और

"सपाट चेहरे वाला आदमी", निर्मल वर्मा की "लंदन की एक रात", "जलती झाड़ी" रवीन्द्र कालिया की "अकहानी", "काला रजिस्टर", सुरेश सिन्हा की कई "आवाजों के बीच", गिरिराज किशोर का "अलग अलग कद के दो आदमी", श्रीकान्त वर्मा की "संवाद" अथवा प्रियंवदा की "नींद", काशीनाथ सिंह की "सुख" आदि कहानियाँ भूत और भविष्य से कटे वर्तमान क्षणों को भोगने वाले मनुष्य की कहानियाँ हैं।

जीवन का शाश्वत यथार्थ:

जिन्दगी का शाश्वत यथार्थ किसी भी बाहरी तत्व से जुड़ा हुआ नहीं होता। वह न तो धार्मिक सांस्कृतिक श्रद्धा में होता है, न गृहस्थी के आकर्षणों में होता है, न सेक्स में होता है।

ये सब उस यथार्थ के बाहरी वेश हैं। जहाँ जिन्दगी की सारी कृत्रिम सामग्री की तह में एक प्रकृत बोध होता है जिसके साथ जुड़कर मनुष्य की अन्तरात्मा मचल उठती है और इस समय जीवन की शाश्वत भूमि पर वह खड़ा रहकर जीने की कामना का आनन्द लेता रहता है।

रहस्यवादियों ने आत्मा परमात्मा की बात (एकाकार होने सम्बन्धी) कुछ इसी प्रकार कही है। मनुष्य के जीने का रहस्य उसकी इस आस्था में है जिसे मृत्यु बोध भी खत्म नहीं कर सकता, इसके विपरीत मृत्यु का अनुभव उसे जिन्दगी के अधिक पास खींचता है।

अमरकान्त की "दोपहर का भोजन", जिन्दगी और जोंक", धर्मवीर की "गुल की बन्नों, भीष्म साहनी की "खून का रिश्ता", मार्कण्डेय की "दूध और

दवा", रमेश बक्षी की "कुछ गायें" कुछ बच्चे," कमलेश्वर की "नीली झील", रेणु की "तीसरी कसम", निर्मल वर्मा की "परिन्दे", राजेन्द्र यादव की "सम्बन्ध" और "एक कटी हुई कहानी", रवीन्द्र कालिया की "क ख ग", ज्ञानरंजन की "आत्म हत्या" आदि कहानियाँ जीवन के शाश्वत यथार्थ की ओर आकृष्ट करती हैं।

नये सामाजिक मानव मूल्य, परिवर्तन और गाँव

आधुनिकता के संक्रमण से परिवर्तित भारतीय सामाजिक परिस्थितियाँ जो स्वातन्त्र्योत्तर आकांक्षाओं और मोहभंग के अन्तर्विरोधों की टकराहट में अत्यन्त जटिल हो गई हैं, एक ऐतिहासिक मोड़ आया है। आधुनिकता पश्चिम से आई और उसकी गति जो स्वतन्त्रतापूर्व अतीत वैभव की सांस्कृतिक अस्मिता युक्त राष्ट्रवादी प्रतिक्रियाओं के कारण मन्द पड़ गयी थी, स्वतन्त्रताप्राप्ति के पश्चात् नूतन अनुभूतियों के साथ संकुचितता विसर्जित करके असाधारण तीव्र हो गई।

परम्परित सामाजिक मूल्य, पारिवारिक जिम्मेदारी और प्रतिबद्धता अभी आदि जैसी सामाजिक संरचना की आधार भूमियों को खिसकने में जनसंख्या वृद्धि, नौकरी की समस्यायें, मनुष्य की आधुनिक नियति तो कारण है ही, विशेष रूप से इसके मूल में विज्ञान और प्रविधि की वे सार्वभौम उपलब्धियाँ हैं, जिन्होंने मनुष्य को अकेला कर दिया तथा समाज के प्रति कोई रागात्मक लगाव न होने के कारण वह उसके लिए मात्र "भीड़" की सत्ता बन कर शेष रह गया।

इस पुरानी पीढ़ी के अतिरिक्त दूसरी और युगधर्मासन पर विराजित विद्रोह के चरणों में पूर्ण अर्पित नया खून है जो कुंठित भी है क्रुद्ध भी। समस्त मूल्यों, सम्बन्धों और परम्पराओं की अस्वीकृति मुद्रा में समाज की यह नयी

पीढ़ी साहित्य के माध्यम से व्यक्त होने लगी है। स्थितियों के दबाव से नये मूल्य भी रेखांकित होने लगे हैं। ग्रामीण समाज में सहकार और बन्धुत्व का जो मर्यादित स्थान था वह ढह गया है। आज गाँव की आन-मान का मूल्य पूर्णतः चुक गया है। आर्थिक निकाय, उद्योग और यन्त्र प्रसार होने से गाँवों में सुरक्षित मानव मूल्यों का भविष्य अंधकारमय हो जाना संभावित प्रतीत होता है।

स्वातन्त्र्योत्तर कथा साहित्य में इन नवीन बदलती हुई परिस्थितियों और नए सामाजिक मूल्यों का आलेखन रचनात्मक स्तर पर फणीश्वर नाथ रेणु, शिव प्रसाद सिंह, नागार्जुन और भैरव प्रसाद गुप्त आदि ने सफलता पूर्वक किया है।

प्राचीन सामाजिक मूल्यों की स्थिति

स्वातन्त्र्योत्तर कथा साहित्य में जहाँ भी ग्राम बोध अपने पूरे निखार के साथ उभरा है वहाँ पुराने मूल्यों को स्वाभाविक रूप से महत्व मिल गया है। पानू खोलिया की "शीश कटी" पति-पत्नी के सम्बन्धों की कहानी है। इसमें पहले पत्नी स्वयं ही एक दूसरे पुरुष अमीन की ओर आकृष्ट होती है और अपने पति से हमेशा आशंकित रहती है कि यदि भेद खुल जायेगा तो हम दोनों की खैर नहीं। एक दिन जब रहस्य सिगरेट के टुकड़े के कारण खुल ही जाता है तो पति स्वयं पत्नी तुलसी कुँवर को अमीन के यहाँ भेजने लगता है तो उसकी निर्लज्जता पर पत्नी को बहुत क्षोभ होता है और वह उससे क्षुब्ध होकर कहती है, "बता दूँ कौन है तू मेरा?... मैं वेश्या और तू मेरा दलाल।"

तुलसी कुँअर का अमीन के चंगुल से सुरक्षित निकलना और पति को उलट कर तड़ाका उत्तर देना पुराने सामाजिक मूल्य सतीत्व का आक्रोशपूर्ण हुंकार है। पानू

चोलिया ने तुलसी कुँवर के रूप में परम्परित हिन्दू कुलवधू के दर्पस्फीत पतिव्रता बोध और आदर्श नारीत्व को अंकित किया है।

शैलेश मटियानी के पर्वतीय कथांचल में आधुनिकता के प्रति विरल प्रवेश होने के कारण प्राचीन सामाजिक, नैतिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों के प्रति आग्रह की कसी मुट्ठियाँ ढीली पड़ती नहीं दिख रही हैं। मटियानी की कहानी "रूका हुआ रास्ता " में लाचार पति रघीम सिंह को गोमती क्षण क्षण की परेशानियों के कारण छोड़कर एक दिन किशन के घर छिपी-छिपी आ तो जाती है परन्तु सामाजिक नैतिक मूल्यों का संस्कारित पलड़ा भारी पड़ता है और भाग खड़ी होती है। यद्यपि गोमती के मन में पुराने मूल्यों का बन्धन, कसाव और कसमसाहट सभी कुछ है परन्तु नयी मूल्यधारणता का विद्रोह नहीं है। फिर भी नये मूल्यों के प्रति एक अशान्त भय और आतंक का भाव है। वह नारी नियति की दोहरी जकड़न परलोक भय और समाज भय के कारण यथास्थितिवादी हो जाती है।

शैलेश मटियानी की एक अन्य कहानी "असमर्थ" में भी यही केन्द्रीय भाव अंकित है। उसमें भी पति लूला और अपंग है और उसकी भागी हुई पत्नी नैतिक मूल्यों के प्रबल अन्तराग्रह पर पुन: वापस जाती है। ज्ञानी की कहानी "वर्षा की प्रतीक्षा" में भी यही भाव है जिससे स्पष्ट है कि मूल्यों की यही यथास्थिति अविकसित आदिवासी क्षेत्रों में भी है। कहानी का नायक अपनी काकी को असहाय छोड़कर अपनी बाल प्रेमिका मल्को का जवाई बनने को तैयार नहीं है, वह उसके पास नहीं जाता है। इस प्रकार वह देहसुखवाद पर संयम और मानवता को प्रधानता देकर प्राचीन सामाजिक नैतिक मूल्यों की जीत प्रदर्शित करता है।

शिव प्रसाद सिंह और रामदरश मिश्र में भी कहीं कहीं प्राचीन मूल्यों की प्रतिष्ठा है। रामदरश मिश्र की कहानी "लाल हथेलियाँ" में सुभाष की पहली विवाहिता पत्नी ममता, पतिव्रता और सेवा परायणा के साथ गृह कार्य में लगी रहती है जिस कारण उसके नाखून गन्दे और हथेलियाँ खुरदुरी हो गई हैं। दूसरी, नौकरी में आने के बाद की प्रेमिका पत्नी है जो फैशन प्रिय, स्वछन्द, गृहकार्य विरत, विलासजीवी और लाल नाखूनों के साथ लाल हथेलियों वाली है। काल चक्र से एक समय रुग्णावस्था में सुभाष को नया बोध इस रूप में होता है कि, लाल हथेलियां पथ्य बनाने, दवा पिलाने और बीमार गालों को सहलाने के लिए नहीं है और वह ममता की उन खुरदरी हथेलियों की सुध में डूब जाता है जो बर्तनों की कालिख से झँवराई अँगुलियों वाली है और उसके हर आँसू को कागज के मोटे खुरदरे सोख्ते की भाँति सोख लेने वाली है। इसी प्रकार शिव प्रसाद सिंह की कहानी "बीच की दीवार" में एक नया मूल्य विघटन के रूप में उभरता तो अवश्य है परन्तु वह प्राचीन भ्रातृ प्रेम के आगे प्रभाव हीन हो जाता है।

प्राचीन आदर्शवादी मूल्यों का आग्रह जहाँ कहीं अति के रूप में चित्रित है, अवश्य ही असंगत लगता है। परम्परित सामाजिक मूल्य तो निस्सन्देह टूट चुके हैं और अतीत की वापसी असंभव लगती है।

स्वातन्त्र्योत्तर कथा साहित्य में जहाँ मूल्य भाजक मुद्रा का उभार ही मुख्यत: चर्चित है ग्राम्य स्तर पर प्राचीन सामाजिक मूल्य पूर्णत: समाप्त नहीं हुए हैं और न ऐसा सम्भव ही है। वास्तव में ग्राम्य भाव का आन्तरिक संगठन ही पारम्परित मूल्यों के सूक्ष्म परमाणुओं से हुआ है। जिनका विखंडन भयानक विस्फोटक स्थितियों से जुड़ा है।

गाँवों के आधुनिक विकास के साथ उक्त विस्फोटक स्थिति का साक्षात्कार आज का एक सत्य है। यह विकास जिस क्षेत्र में जितनी ही तीव्रगति से हो रहा है सामाजिक मूल्यों में बदलाव भी वहाँ उतनी ही तीव्रता से हो रहा है तथा पिछली इकाइयाँ पुरातनता से अमुक्त नवीनता की आहट से आशंकित है।

नैतिक मूल्यों की गिरावट:

नैतिक मूल्यों की गिरावट समाज-संदर्भ में केवल विस्फोट के रूप में आई है और स्वातन्त्र्योत्तर कथा साहित्य में मनोविज्ञान की उपलब्धियों के सहारे आन्तरिक स्तर पर मूल्य विद्रोह के रूप में उसकी अभिव्यक्ति हुई है। ग्रामीण अंचल में यह अराजकता सहमी सी आयी है। कहीं शंका है, कहीं आश्चर्य है तो कहीं प्रश्न शीलता है। गाँव के लोगों का परम्परागत नैतिकता बोध धक्के पर धक्के खाकर भी अभी रुका हुआ है। जैनेन्द्र कुमार की कहानी "विज्ञान " में यह अंकित है कि नैतिकता के खम्भे हिल उठे है, शिखिर उखड़ने लगे हैं, रस्सियाँ अभी नहीं कटी हैं।

भारतीयता और भारतीय संस्कृति की उपेक्षा:

हमारा सांस्कृतिक संकट, संस्कृति का ह्रास वस्तुत: आर्थिक और राजनीतिक संकट के नाम से लोगों में अस्थिरता की भावना आ गयी जिस कारण सांस्कृतिक मूल्य भी अस्थिर माने जाने लगे। अपनी संस्कृति से हमारा विश्वास उठता गया। आधुनिक सुख सुविधा जैसे हमें अपनी ओर खींचने लगी वैसे ही विदेशी संस्कृतिभी हमें लुभाने लगी और उसकी चमक दमक तथा चकाचौंध से अभिभूत होकर हमने उसे अपनी संस्कृति के साथ मिला लिया। टेलीविजन, फ्रिज, कार और मिनी स्कर्ट के साथ साथ हम युंग, फ्रायड, का , सार्त्र और कामूकोभी अपना लिया।

भारतीय और पाश्चात्य संस्कृति में टकराहट आज से नहीं बल्कि स्वतन्त्रता के पहले से ही है। भारत योग पर और यूरोप भोग पर विश्वास करता था। भारत यूरोप की चमक दमक से प्रभावित हुआ और उसने योग के साथ साथ भोग को भी अपना लिया। यथार्थवाद, अति यथार्थवाद अथवा क्षणवाद जैसी प्रवृत्तियां इसी भोगवादी प्रवृत्ति के कारण ही हमारे यहाँ आई हैं। योग और भोग को मिला कर हमारी संस्कृति पूर्व और पश्चिम की खिचड़ी सी बन गई है।

सेक्स से उत्पन्न दृष्टिकोण और नये मूल्यों की आवश्यकता फेकनर के मनोविज्ञान तथा डार्विन के जीव विज्ञान से प्रभावित होकर सिगमन फ्रायड ने मनोविज्ञान को वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर खड़ा किया। फ्रायड के अनुसार व्यक्ति और समाज की समस्याओं का मूल कारण है-- काम वासना की अतृप्ति। वस्तुत: मनोविज्ञान भी बाह्य दृश्य जगत को ही चिन्तन का मूल तत्व मानता है लेकिन बाह्य दृश्य जगत का अध्ययन न करके वह मन पर पड़ी हुई उसकी प्रतिच्छाया का वर्णन करता है। यह अध्ययन का मूल केन्द्र है, जो आदिम सहज प्रवृत्तियों का केन्द्र है। अत: मनोविज्ञान सभ्यता और संस्कृति के विकास, संस्कारों के परिष्कार तथा बुद्धि की अवहेलना करके आदिम संस्कृति का आदर्श प्रस्तुत करता है।

फ्रायड ने स्वयं स्वीकार किया था कि , मनोविज्ञान केवल पिछली घटनाओं की समीक्षा कर सकता है लेकिन भविष्य का अध्ययन नहीं कर सकता। यह मनोवैज्ञानिक चिंतन पद्धति की सबसे बड़ी सीमा है।अचेतन मन सहज प्रवृत्तियों का आगार है। सहज वृत्तियों की संख्या शारीरिक आवश्यकताओं की मानसिक अभिव्यक्ति है। फ्रायड मुख्यत: दो प्रकार की सहज वृत्तियाँ मानता है-- पहली जीवन सम्बन्धी तथा दूसरी मृत्यु सम्बन्धी ।

फ्रायड ने मृत्यु सम्बन्धी सहज प्रवृत्तियों को प्रमुखता दी है। इनकी दृष्टि में जीवन एक मात्र बाह्य जगत की अशान्ति पर आधारित है। विध्वंस तथा युद्ध मृत्यु सम्बन्धी सहज प्रवृत्तियों के ही रूप है। अतः फ्रायड मनोविज्ञान, राष्ट्रीयता तथा सामाजिक प्रश्नों को भी सुलझाना चाहता है लेकिन यह संदेहास्पद है कि उसका चरणोन्मुखी दर्शन तथा व्यक्तिवादी चिंतन पद्धति वैज्ञानिक होते हुए भी सामाजिक एवं राष्ट्रीय समस्याओं को भी सुलझा सकने में समर्थ होगी या नहीं। यदि उसे दर्शन तथा विचारधारा के रूप में स्वीकार लिया जाए तो उसका प्रभाव केवल कुछ बुद्धिजीवियों तक ही सीमित रहा ।

आदर्शवादी मानदण्ड और दुराग्रह का उत्कर्ष:

स्वातंत्र्योत्तर काल में हम पूरी तरह से न तो रूढ़िवादी ही रह गये हैं और न पूरी तरह से आधुनिक ही बन पाये हैं। रूढ़िवादिता और आधुनिकता इन दोनों के मध्य भारतीय समाज की स्थिति बिल्कुल अधर में लटके "त्रिशंकु" हो गई है।

इस सम्बन्ध में एम0एन0 श्रीनिवास का विचार महत्वपूर्ण है-"अंग्रेजी शासन के कारण काफी सीमा तक हमारा पश्चिमीकरण हो चुका है। भारतीय समाज और संस्कृति में बहुत से बुनियादी और स्थायी परिवर्तन हुए हैं। अंग्रेज अपने साथ नई औद्योगिक संस्थाएँ, ज्ञान, विश्वास और मूल्य लेकर आये थे। उन्होंने भूमि का सर्वेक्षण कर राजस्व निर्धारित किया। आधुनिक शासनतन्त्र, सेना पुलिस की स्थापना की, अदालतें स्थापित करके कानून की संहिताएँ बनायी, संचार साधनों का विकास किया। स्कूलों और कालेजों की स्थापना की और इन सबके द्वारा आधुनिक भारत की नींव डाली।"[1]

एक विचारक का मत है कि "पश्चिमीकरण में कुछ मूल्यगत अधिमान्यताएं भी निहित थी। एक सबसे महत्वपूर्ण मूल्य है जिसे मोटे तौर पर मानवतावाद कहा जा सकता है। इसमें कई अन्य मूल्य सम्मिलित हैं। मानवतावाद में समानतावाद और भौतिकीकरण दोनों ही निहित हैं।"

खेद की बात तो यह है कि, मानवतावाद के नाम पर हमारे बुद्धिजीवी वर्ग ने सभी परम्परागत आदर्शवादी मानदण्डों की हत्या कर डाली और दुराग्रह का उत्कर्ष इतना अधिक हुआ कि प्रत्येक कहानीकार सार्त्र, काम्यू या काफ्का की शब्दावली में बात करना ही कहानी की सार्थकता समझने लगा।

निराशा की स्थिति से गुजर रहा बुद्धिजीवी मध्यवर्ग फ्रायड के विचारों से अत्यधिक प्रभावित हुआ । कट्टर और नैतिकतावादी दृष्टिकोण मध्यम वर्ग की स्वयं अपनी ही उपज थी। अब वह मनोविज्ञान का आश्रय लेकर स्वयं द्वारा निर्मित नैतिक मान्यताओं की पूर्ण उपेक्षा करने लगा। फ्रायडवादी विचारों के प्रसार प्रचार के लिए यह उपयुक्त समय था। क्योंकि निराशा एवं कुंठित मध्यमवर्ग कट्टर नैतिक मान्यताओं के बन्धन से मुक्त होने के लिए छटपटा रहा था। निराशावादी होने के कारण वह बाह्य परिस्थितियों में अराजक की स्थिति का अनुभव कर रहा था। फ्रायड ने अवचेतन मन में सहज वृत्तियों की अराजकता का सिद्धान्त प्रस्तुत किया । मध्यम वर्ग इस सिद्धान्त में अपनी परिस्थितियों में अराजक स्थिति का अनुभव कर रहा था।

मध्यमवर्ग को इस सिद्धान्त में अपनी परिस्थितियों का साक्ष्य दिखाई पड़ा। निराशा के कारण मध्यमवर्ग यों भी अन्तर्मुखी हो गया था। अत: अपने अवचेतन मन में अराजक स्थिति का तीव्र अनुभव करने लगा।

मध्यमवर्ग की परिस्थितियों से फ्रायड दर्शन का गहरा साम्य बैठ गया। यही कारण है कि मध्यम वर्गीय चिन्तकों ने ही इस दर्शन को सबसे अधिक अपनाया और स्वागत किया।

इस दर्शन ने न केवल मध्यमवर्गीय जीवन दृष्टिकोण को ही प्रभावित किया बल्कि सेक्स सम्बन्धी मान्यताओं का प्रचार भी किया। परिणामस्वरूप अपनी नैतिक सांस्कृतिक विरासत की भी अपेक्षा होने लगी। फ्रायड के पश्चात् युंग, एडलर तथा मैक्डुगल आदि मनोवैज्ञानिकों ने इस दर्शन एवं विज्ञान का और अधिक विकास किया। फिर बाद में फ्रोम, सलीवन, कार्डीनर, मार्गरेट, मीड, व्हाइटहेड, आदि मनोवैज्ञानिकों ने भी जीवन के विविध क्षेत्रों में फ्रायडवादी दर्शन को लेकर नये नये प्रयोग किये और नई परिभाषायें दीं।

फ्रायड के अनुसार दमित इच्छाएं ही स्वप्न में आती थीं। अतः लोगों ने इच्छाओं का दमन छोड़ दिया। इच्छाओं की पूर्ति को खुली छूट दे दी गयी। इससे समाज में हिंसात्मक प्रवृत्ति फैल गयी और साथ ही सेक्स तथा मांसल आकर्षण जैसी अनैतिकताएं भी।

फ्रायड ने स्वयं अपने सिद्धान्तों को परा मनोविज्ञान (मेटा साइकोलाजी) कहा है और वह उनकी अवैज्ञानिकता तथा कल्पनाशीलता के प्रति अपने अनुयायी की तुलना में कहीं अधिक सचेत भी था। और जहाँ तक बाहरी दुनियाँ के साथ सम्बन्ध का सवाल था, फ्रायड ने मनुष्य को, उसके लाखों वर्षों के विकास को झुठलाकर, फिर उसी आदिम जीव द्रव्यीय प्राणियों के स्तर पर ला बैठाया था।

आधुनिकता के नाम पर पुराने नैतिक मूल्य तो समाप्त कर दिए गए,

आश्चर्य तो यह है कि मानव मूल्यों के नाम पर मनुष्य को भी पंगु और विकलांग बना कर उसे सेक्स, शराब तथा सुन्दरी की सीमाओं में जकड़ दिया गया। हमारे कलाकारों के लिए मानवीय मूल्य मर्यादा तथा कला की सार्थकता वहीं तक सीमित हो गयी और स्वातन्त्र्योत्तर कहानी इस छलके में भटकती नजर आई।

जो लेखक यह समझते हैं कि आज आदर्शवादी मानदण्डों को अपनाना आधुनिकता के विरुद्ध है और परम्परागत साहित्य लिखना है, वे यह भूल जाते हैं कि साहित्य का सर्वप्रथम प्रमुख उद्देश्य मानवीय मर्यादा की विधिवत स्थापना करना है। साहित्य आज के भयावह संकट में मनुष्य के खोये हुए विश्वास को लौटा-कर उसे आस्था एवं संकल्प का सम्बल देता है।

वर्तमान युग में टूटते मूल्य

वर्तमान युग में ज्यों-ज्यों व्यक्ति की मौलिक चिन्तन शक्ति बढ़ती जा रही है त्यों-त्यों परम्परा और संस्कृति क्षीण होती जा रही है और व्यक्ति पुराने मूल्यों को छोड़ता जा रहा है और उनके स्थान पर नये मूल्यों का लगातार निर्माण कर रहा है।

आधुनिक युग में विज्ञान के विकास के परिणाम स्वरूप मनुष्य में तार्किक बुद्धि का उदय हुआ उसने पीढ़ियों से चले आ रहे जीवन मूल्यों का अन्धानुकरण करने के स्थान पर उन्हें तर्क की कसौटी पर खरा उतारना प्रारम्भ किया मूल्य विघटन का यह स्वर आज के युग की हर एक विधा में सुनाई पड़ता है।

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कहानी में भी परम्परागत जीवन मूल्यों के विघटन एवं नए जीवन मूल्यों के उदय के कारण टकराहट की गूँज सुनायी देती है। युग में घटित परिवर्तनों के साथ ही हमारी आस्थाएँ बदल रही हैं अतः परिवर्तित होती आस्थाओं के साथ मूल्यों में भी इसी गति से परिवर्तन होना स्वाभाविक ही नहीं बल्कि आवश्यक-सा है, जब इन आस्थाओं, विचारों एवं मूल्यों के परिवर्तन की प्रक्रिया में तारतम्य नहीं रहता है तो समाज में विघटन की स्थिति उत्पन्न होती है। स्वतन्त्रता पश्चात् इस युग में इस परिवर्तन की प्रक्रिया में असंतुलन दृष्टिगोचर हो रहा है। आज जिसको हम लक्ष्य बनाकर चलते हैं वह कालान्तर में प्रारम्भ का बिन्दु बनकर रह जाता है। स्थिति की विचित्रता विचारणीय है।

"एक युग मर रहा है पर दूसरा जन्म लेने में असमर्थ है।" पुराने मूल्य जितनी तीव्रता से टूट रहे हैं उतनी तीव्रता से उनका स्थान नए मूल्य नहीं ले पा

रहे हैं। यह दिशाभ्रम की दशा है। इससे बचने के लिए हम भविष्य में जिन मानवीय मूल्यों के विकास का स्वप्न देखते है, उन्हें तत्क्षण आचरण और जीवन पद्धति में प्रतिष्ठित करना होगा।

जीवन के विभिन्न क्षेत्र उतार-चढ़ाव से युक्त हो रहे हैं। सभ्यता और संस्कृति के आयाम परिवर्तित हो रहे हैं। आर्थिक क्षेत्र में विज्ञान के प्रभाव के कारण क्रान्ति हो रही है। यंत्र युग के कारण मनुष्य की स्थिति गौण हो गई है। जीवन में यांत्रिक जड़ता आ रही है। मानव का स्थान यान्त्रिक मानव ले रहा है।

सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में परम्पराएं टूट रही हैं। अंध विश्वासों का अन्त हो रहा है। वैज्ञानिक विश्वास पनप रहा है। सामाजिक सम्बन्धों में विश्रृंखलता की स्थिति उत्पन्न हो गई है। घर-परिवार, माता पिता आदि का महत्व दिन-दिन घटता जा रहा है।

इस भौतिक युग में धर्म की सत्ता समाप्त हो गई है। इससे पूर्व जो जीवन में धर्म का आतंक था, वह अब नहीं रहा। धार्मिक आडम्बरों एवं कर्मकाण्डों का अन्त हो रहा है। यहाँ तक कि, जीवन में धर्म को अफीम के लिब की संज्ञा दी जा चुकी है। धार्मिक विघटन की इस पृष्ठभूमि में मानव धर्म पनप रहा है। धर्म की परिभाषा बदल रही है। भौतिक युग में तृष्णाओं के पीछे छटपटाते मानव के लिए किसी न किसी रूप में धर्म का अवलम्ब आवश्यक है।

दर्शन के क्षेत्र में वैज्ञानिक आधार पर नए नए सिद्धान्तों का प्रतिपादन हो रहा है। प्राचीन वादों की नवीन व्याख्याएँ प्रस्तुत की जा रही हैं। आज ईश्वर के स्थान पर ग्रहों की खोज की जा रही है। एक ज़माना था जब कि प्रकृति महान

थी। नियति की सत्ता के सामने मानव बौना लगता था। पर इसके विपरीत आज मानव प्रकृति पर विजय प्राप्त कर रहा है। प्रकृति तो महान है ही पर मानव उससे भी महान है।" वह प्रकृति पर शासन कर सकता है, कर रहा है।

आज राजनीति में अनेक वादों ने जन्म ले लिया है। आज की राजनीति वादों के घेरे में बंध गई है। विविध वादों में संघर्ष चल रहा है। एक वाद को दूसरे से श्रेष्ठ प्रतिपादित करने की स्पर्धा लगी हुई है।

वर्तमान विश्व राजनीति के भीषण आतंक से ग्रसित है। जब राजनीति में थोड़ा परिवर्तन आता है तो जीवन के अन्य क्षेत्रों में भारी हल चल मच जाती है। आज मंत्रिमण्डल में परिवर्तन के कारण बाजार दरों में उतार चढ़ाव आ रहा है। इस प्रकार आज राजनीति ने मानवमूल्यों को पूर्ण रूप से प्रभावित कर रखा है। राजनीति की (स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय राजनीति) विस्तृत चर्चा हम अगले अध्याय में करेंगे।

विश्व की वर्तमान परिस्थितियों से यह भलीभाँति स्पष्ट है कि, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में ह्रास अथवा विकास प्रारम्भ हो गया है। विज्ञान, धर्म, नैतिकता, मूल्य, समाज-गठन, जातीय श्रेष्ठता साहित्यिक स्तर सभी तीव्रगति से अस्त-व्यस्त हो रहे हैं।

यह ह्रास की स्थिति केवल बौद्धिक स्तर तक ही सीमित नहीं वरन मनुष्य अपने आप से भी भयभीत है। आज वह सत्-असत् का निर्णय करने में अक्षम है लगता है मानव ने अपना नैतिक बोध ही खो दिया है। आज मनुष्य यान्त्रिक विकास का उपयोग अधिक से अधिक विध्वंसकारी अस्त्रों की खोज में कर रहा है जो कि मानव सभ्यता के लिए एक गम्भीर खतरा है। इस प्रकार सम्पूर्ण मानव जाति पर

संकट आ गया है। मानव मूल्यों में विघटन की स्थिति उत्पन्न हो गई है। प्रगति और विकास की दशा में भटकाव आ चुका है।

आज की परिस्थिति में हमारा हृदय हमसे अलग हो गया है और हमारा मस्तिष्क प्याज की छिलकों की तरह परत दर परत उतर गया है क्योंकि हम एक अज्ञात भय से व्याकुल हैं जिससे हम आँख नहीं मिला सकते ।

वर्तमान स्थिति में मूल्यों की सत्ता को नकारा नहीं जा सकता। समाज में कोई न कोई मूल्य सभी स्थितियों में अवश्य ही विद्यमान रहेंगे। प्राचीन मूल्य आज निरूप हो रहे हैं इस लक्षण को कुछ विचारकों ने प्रगति का परिचायक माना है। मूल्य विहीन समाज समाज नहीं कहा जा सकता। मूल्य तो वे अदृश्य आदेश हैं जिनका पालन अपने आप होता रहता है, इग्लैण्ड के संविधान की भाँति अलिखित है जिन्हें परम्परागत मान्यता मिलती रहती है।

मूल्यों के विघटन काल में भारतीय जन-जीवन विकास का प्रयत्न कर रहा है। आजादी के पश्चात् भारतीय सामाजिक व्यवस्था में पूर्ण रूप से परिवर्तन हुआ है। स्वातन्त्र्योत्तर परिस्थितियों में मौलिक अन्तर आया है। इसका कारण सामन्ती और पूँजीवादी व्यवस्था के स्थान पर समाजवादी समाज व्यवस्था को स्थापित करने की सोच है। अतः समाजवादी अर्थव्यवस्था का संघर्ष चल रहा है। समाज में नवीन जीवन दर्शन एवं तत्सम्बन्धी मूल्यों को अपनाने के लिए सदियों पुरानी मान्यताओं से दो-दो हाथ करना पड़ रहा है।

रैल्फ फाक्स ने लिखा है- "भौतिक शक्तियाँ मानव चेतना की मौलिक शक्तियों को बदलती है। इस प्रकार भौतिक परिस्थितियों को बदलता हुआ मानव

स्वयं को भी बदलता है।"[1]

मनुष्य के बदलने की प्रक्रिया के साथ समाज में भी बदलाव आता है और तब मूल्यों में भी परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। मूल्य समाज सापेक्ष होते हैं। जब समाज विघटन के दौर से गुजरता है तो मूल्यों पर संकट छा जाते हैं। आज के समाज में विघटन की प्रक्रिया चल रही है, मानव मूल्यों में भी विघटन आ रहा है। फिर भी इतना तो स्पष्ट ही है कि -"ऐसा कोई परिवर्तन आमूल नहीं होता और पिछले युग के सांस्कृतिक उपादान पूर्णतया विलुप्त या परिवर्तित नहीं हो जाते, एक प्रकार की प्रवहमानता के कारण पिछले युग से सम्पूर्ण सम्बन्ध विच्छेद कभी नहीं होता। इतना अवश्य अनुभव होने लगता है कि कुछ मानव मूल्य घिस कर पुराने पड़ गये हैं और उनका स्थान किन्हीं नवीन प्रेरणाओं ने लिया है।"[2]

वैज्ञानिक उन्नति ने मूल्यों के परखने का परिवेश ही बदल दिया है। विज्ञान जनित मूल्य संकट विषयक विभिन्न धारणायें हैं। " कुछ का विश्वास है कि, विज्ञान के कारण हमारी आस्थाओं पर निर्मम प्रहार हुआ है। धर्म, ईश्वर, इहलोक, परलोक आदि से हम जिन आध्यात्मिक मूल्यों से बंधे रहते थे, वे आज च्युत हो गए हैं।"[3] हमारे विचार से यह कथन उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि विज्ञान तो साधन है

1- रेल्फ फाक्स-नावेल एण्ड दी पीपुल-पृ0 105

2- नेमिचन्द जैन- बदलते परिप्रेक्ष्य- पृ0 14

3- डा0 बच्चन सिंह- समकालीन हिन्दी साहित्य आलोचना को चुनौती-पृ0 13।

वह स्वयं न तो नए मूल्यों का निर्माता होता है और न ही पुराने का विघटक ही । वह तो मानव को वास्तविकता का ज्ञान कराता है। वर्तमान समाज में संघर्ष की स्थिति चल रही है। विरोधी विचारधारायें आधुनिक मूल्य संकट का कारण बन गई है।

एक ओर रोयनवी, नेव्यहर, मनहेम, ईलयट आदि विचारक विज्ञान से उत्पन्न उदारतावादी दृष्टिकोण के विपरीत पूर्व कालीन धार्मिक दृष्टिकोण और तदजन्य मूल्यों की प्रतिष्ठा करना चाहते हैं। दूसरी ओर रसेल, हक्सले, सार्त्रे आदि प्रबुद्ध विचारक ईश्वर के अस्तित्व को नकारते हुए, वैज्ञानिक दृष्टिकोण को अपनाते हुए समाज की नवीन व्यवस्था की संभावना को लेकर अविवेकी और तुच्छ मनुष्य को विवेकी, स्वतन्त्र और महान बनाना चाहते हैं।

तृतीय वर्ग लारेन्स, हेमिंग्वे, कामू आदि का है जो अपेक्षाकृत जो अधिक निराश और क्रुद्ध है। इन्होंने वर्तमान परम्परागत सम्पूर्ण संस्कृति वैज्ञानिक उन्नति और वैचारिक प्रगति का विरोध करते हुए प्रारम्भिक विशृंखल स्थिति, कार्य और असंगति का समर्थन किया। इनकी धारणा है कि दुख हमारा बन्धन है और असफल कार्य हमारी नियति।

इस प्रकार पहला वर्ग विज्ञान को अस्वीकार कर धर्म अथवा प्रत्ययवादी दर्शन की प्रतिष्ठा का समर्थक है। दूसरा धर्म को अस्वीकार कर वैज्ञानिक चेतना से ही मानव मूल्यों को प्राणवान बनाने का उत्सुक है। मूलत: यह मानवतावादी है। तीसरा मत एक प्रकार से वस्तु स्थिति को भावात्मक रूप में स्वीकार कर आदिम अर्थात् प्राकृतिक जीवन का पक्षपाती है। ऐसी स्थिति में मनुष्य का उत्तरदायित्व

है कि वह सही परीक्षण कर, उचित को अपनाये।

आज हमारा जीवन पुरानी सामाजिक व्यवस्था से नई सामाजिक व्यवस्था की ओर उन्मुख है और आज हम एक परिवर्तन प्रक्रिया के अंतरिम काल से गुजर रहे हैं। इस प्रक्रिया में हमें बहुत से कारण सापेक्ष जीवन मूल्यों को छोड़ना होगा। उन जीवन मूल्यों को भी त्यागना होगा जो पुरानी सामाजिक व्यवस्था की उपज हैं और इस परिवर्तन के साथ ही अपनी महत्ता को खो बैठे हैं। लेकिन वे जीवन मूल्य जो काल निरपेक्ष मानव मूल्य बन गये हैं, निश्चित रूप से वे नये जीवन मूल्यों का आधार बनेंगे। दया, ममता, प्रेम, करूणा, सहानुभूति ये सब मानव के काल निरपेक्ष मूल्य हैं जो निःसन्देह समाजवादी सामाजिक व्यवस्था के नये जीवन मूल्य भी होंगे।

अध्याय 4

स्वातन्त्र्योत्तर राजनीतिक स्थिति तथा कुछ हिन्दी कहानियों का कथ्य

-स्वातन्त्र्योत्तर जनाकांक्षाएँ

-राजनीति के परिवर्तित होते पैमाने

-तानाशाही की ओर बढ़ता प्रजातन्त्र

-भ्रष्टाचार और मूल्यों का संक्रमण

-अन्धकारमय भविष्य और विघटन की भूमिका

-चीनी पाकिस्तानी आक्रमण तथा नई पीढ़ी की निष्क्रियता

-देश की अनिश्चित धुँधली तस्वीर

-भ्रामक एकता और स्वार्थ परता

स्वातन्त्र्योत्तर जनाकांक्षाएँ

स्वतन्त्रता के बाद का भारतीय चित्र आशा और अपेक्षाओं से लबालब भरा था। नये नये उत्थान के सपने उसकी आँखों में थे। भारतीय प्रतिष्ठा के अध्याय में नये पृष्ठ जुड़ रहे थे। प्रतिभाओं का बोलबाला था। आत्म विश्वास, स्वावलम्बन की शक्ति लेकर दृढ़ता की खोज में भारतीय समाज संलग्न था। स्वतन्त्रता ने भारतीय समाज की निराशा हर ली थी- उसे एक नयी रोशनी दी थी और उसमें एक नई आशान्वित और अति उत्साही आत्मा भर दी थी। गुलामी की जंजीरें टूट गयीं और भारतीय समाज ने उन्मुक्त आकाश के नीचे आजादी की साँस ली थी। इस दौरान उसमें क्या-क्या परिवर्तन आये, अब हम इस पर विचार करेंगे।

स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय समाज को न हम राजनीति से अलग कर सकते हैं, न संस्कृति से। अतः भारतीय समाज के संदर्भ में राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक तीनों ही परिस्थितियों पर विचार किया गया है।

इस काल की राजनीतिक परिस्थितियों के मूल में भी आधुनिकता का पदार्पण हो चुका था, आधुनिकता के नाम पर हमने विदेशों की ओर बिना अपने देश की परिस्थितियों को सोचे-समझे हमने ब्रिटिश और अमेरिकन संविधान को ध्यान में रखकर अपना संविधान बना डाला। यही कारण है कि आज तक जब कि विदेशों के संविधानों का कोई परिवर्तन नहीं हुआ हमारे संविधान में अनेक सुधार हो चुके हैं

और होने की सम्भावना है। यह इसी कारण हुआ कि हमारी दृष्टि दास होने के कारण बहुत सीमित थी और इसी से स्वतन्त्रता के बाद भी हम अंग्रेजों के प्रभाव से मुक्त नहीं हो सके। फिर भी हमने अपनी आँखें खोल ली थीं और नये उत्साह से अपने स्वतन्त्र देश की प्रगति के बारे में सोचने लगे थे। भारत-पाक विभाजन से हम थोड़े विक्षुब्ध तो थे किन्तु साथ ही एक "नये भारत" का सुखद मानचित्र भी हमारे पास था।

आर्थिक कठिनाइयों के बावजूद भी लोगों में अपूर्व उत्साह था। लोग देश-प्रेम से ओत प्रोत थे और नए-नए उद्योग-धन्धे खोल कर प्रगति के रास्ते पर पूरे विश्वास के साथ चलना चाहते थे। परम्परा से हटकर कुछ नया और कल्याणकारी लाने की भावना लोगों की शिराओं में तैर रही थी। जनमानस की दृष्टि ही बदल गयी थी। समाचार पत्रों में आए दिन रचनात्मक कार्यों के उल्लेख होने लगे भाखड़ा नांगल बांध, सिकन्दरी का कारखाना, सामुदायिक विकास योजनाएं, पंचशील और सह अस्तित्व के नारे देश में गूंजने लगे। राष्ट्रीय पर्वों की धूम मच गयी थी।

यह सम्भव नहीं था कि अनेक समस्याओं से ग्रस्त किसान वर्ग सर्वतोमुखी जागरण काल में नयी करवट न लेता। जमींदारों के विरुद्ध किसानों ने भी अपना आन्दोलन संगठित किया। लेकिन किसानों की इस राजनीतिक चेतना का श्रेय उन्हीं को है, किसी भी पार्टी तथा प्रमुख नेता को नहीं। स्वतन्त्र प्रयास से ही इन्होंने यह आन्दोलन संगठित किया तथा राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेते रहे।

मजदूर वर्ग एवं उनकी समस्याएं औद्योगिक प्रवृत्ति की उपज थीं। औद्योगिक मजदूर वर्ग का शोषण ही मार्क्स के दर्शन का आधार था जिसे "द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद"

कहा गया। भारत में औद्योगिक विकास के समानान्तर मजदूर वर्ग तथा उसकी समस्याओं की भी बढ़ोतरी होती गयी। मार्क्सवाद का प्रचार होने लगा। साम्यवादी दल ने अखिल भारतीय मजदूर संघ पर आधिपत्य जमा लिया था। मजदूर वर्ग पूँजीपति वर्ग का शोषण समाप्त करने के लिए कटिबद्ध हो गया। साम्यवादी रूस इसके लिए प्रेरणा स्रोत था, जहाँ मजदूरों का राज्य स्थापित हो चुका था। इस प्रकार पूँजीपतियों के विरुद्ध हड़ताल मजदूरों का मुख्य कार्यक्रम बन गया था। मजदूरों में भी स्वाभिमान जागा था और वह भी अपने अपने उद्देश्य पूरा करना चाहते थे।

इस प्रकार अपने गणतन्त्र से भारत में नया आत्मविश्वास जागा। और वह पूरी तत्परता से भविष्य में इस गणतन्त्र को सफल करने में लग गया। भारत की जनता को इससे ऊपर उठने का पर्याप्त अवसर मिल रहा था। अत: लोगों ने सहर्ष इसका स्वागत किया और गणतन्त्र दिवस को अपने सांस्कृतिक त्यौहारों में से एक मान लिया। किन्तु स्वतन्त्रता के उपरान्त जो आशा और अपेक्षाएं पनपी थीं सब की सब ढह गयीं। कथनी और करनी दो विभिन्न दिशाओं की ओर हो गईं। आदर्शों का विघटन होता गया और लोगों में निराशा और तटस्थता आती गयी। सामाजिक क्रांति के कुछ नारे लगे किन्तु अन्तत: वह भी स्वार्थ के दलदल में धँस गए। समूह का कल्याण न देखा जा कर अब "व्यक्ति"-"व्यक्ति" का स्वार्थ ही सामने आ रहा था। व्यक्ति "समूह" से किनारा लेकर मात्र अपनी ही प्रगति, अपने सुख और स्वार्थ में लिप्त होता गया था। अपने प्रति लिप्त और दूसरों के प्रति निर्लिप्त की यह भावना ही राष्ट्रीय एवं सामाजिक भ्रष्टाचार के रूप में परिणत हो गयी।

राजनीति के परिवर्तित होते पैमाने

स्वाधीनता के उग्र आन्दोलन के बाद भी कांग्रेस सरकार की नीतियों को अब संदेह से देखा जाने लगा। कांग्रेस एक राष्ट्रीय साम्राज्य विरोधी मोर्चा था, इसलिए वामपंथी दल भी उसमें शामिल थे। वे सब क्रमशः कांग्रेस से अलग होते गए। "कांग्रेस ने जो जन आन्दोलन छेड़ा, उसे लगानबंदी से जोड़कर, किसानों की माँगे शामिल करके, सामंत विरोधी मार्ग पर आगे बढ़ाकर उसने क्रांतिकारी रूप नहीं दिया वरन् उसे क्रान्तिकारी बनने से बराबर रोका कांग्रेस की नीति दो मुखी थी। एक ओर वह अंग्रेजी राज्य और उसके सामन्ती समर्थकों की जड़ काटने में विश्वास न करती थी और दूसरी ओर उनपर दबाव भी डालती थी। दबाव न पड़ने पर यह कांग्रेस समझौते के लिए हाथ बढ़ा देती थी। कांग्रेसी नेताओं ने सन् 46 के क्रांतिकारी उभार का विरोध किया, सन् 1947 में अंग्रेजों की विभाजन -योजना स्वीकार की। भारत में ब्रिटिश आर्थिक हितों को सुरक्षित रहने दिया। राजनीतिक रूप से भारत को कामन वेल्थ का सदस्य बनाया तब क्या आश्चर्य कि कश्मीर का मामला राष्ट्रसंघ में गया। कश्मीर को लेकर ही भारत-पाक युद्ध हुआ और इस युद्ध में ब्रिटेन और अमेरिका ने चीन समेत पाकिस्तान की सहायता की। हथियारों से लेकर गेहूँ तक के लिए भारत अमरीकियों का मोहताज बना रहा और दिन पर दिन कांग्रेसी सरकार अमरीकी साम्राज्यवादियों के दबाव में आकर कभी अवमूल्यन, कभी और कुछ जनता के लिए हानिकर कदम उठाती रही।

सन् 47 से पहले कांग्रेसी नेताओं ने साम्राज्यवादियों से जो समझौते किए थे, उनसे जो सम्बन्ध कायम किए थे, उन्हीं का फल है, भारत पर साम्राज्यवाद का

वर्तमान आर्थिक और राजनीतिक दबाव । कांग्रेस ने साम्प्रदायिकता का विरोध किया, किन्तु साम्प्रदायिकता को सबसे ज्यादा बढ़ावा भी इसी से मिला। साम्प्रदायिकता को वोट के लिए स्वीकार किया गया। फलत: साम्प्रदायिकता अब एक राजनीतिक शक्ति बन गयी।"[1] इसी प्रकार जातीय समस्या भी ज्यों की त्यों बनी ही नहीं रही बल्कि और गम्भर हो गयी इस समस्या को और जटिल बनाने में "आग में घी" का काम मण्डल कमीशन ने किया। पंच वर्षीय योजनाओं और इसी प्रकार की अन्य योजनाओं से भी एक सीमित वर्ग को ही लाभ हुआ। आर्थिक पुनर्निमाण के प्रयास भी असफल रहे।

चुनावों में कांग्रेस असफल होने लगी। अहिंसा को व्यर्थता और खादी को "बगुला-भगत" की सफेदी के रूप में देखा जाने लगा। "गांधी टोपी" को तरह तरह के भ्रष्टाचारों और कुकर्मों का प्रतीक मानकर उसे हवा में उछाल दिया गया और गैर कांग्रेसवाद लोगों में आपाद भर गया। कांग्रेस की असफलता से जनता में घोर निराशा फैल गयी। नयी नयी पार्टियाँ सामने आ रही थी किन्तु जनता ने उन पर भी विश्वास क्षणिक रूप से ही किया, कांग्रेस की भाँति जनता को उन पर भी भरोसा नहीं था। कांग्रेस द्वारा दिखाए गए सारे स्वप्न धराशायी हो गए थे। और कांग्रेस से बस एक सीमित वर्ग को ही लाभ हुआ था। फलस्वरूप जनता का विश्वास खोकर कांग्रेस क्रमश: क्षीण होती गयी।

1- डा० रामविलास शर्मा आलोचना (अप्रैल-जून 1967-पृ० 6

कांग्रेस को हराकर जो गैर कांग्रेसी सरकारें बनी, उनसे देश को पहले बड़ी आशाएं थी कांग्रेस की लूट-खसोट से जनता इतनी तंग आ गयी थी कि उसने केन्द्र सहित देश के अधिकांश भागों में कांग्रेस को वोट नहीं दिए। परिणाम केन्द्र में दो बार और प्रदेशों में कई बार गैर कांग्रेसी सरकारें बनी। किन्तु कांग्रेस को हराना यह क्रांतिकारी परिवर्तन भी निराशाजनक रहा। नयी सरकारें भी उसी मिट्टी की बनी थी, क्या जनसंघी, क्या जनता पार्टी, क्या जनता दल, क्या समाजवादी और क्या कम्युनिस्ट सभी में दो चरित्रवान या बलिदानी थे तो शेष बेईमान और स्वार्थी। दल बदले जाने लगे, ईमान बदले जाने लगे। नतीजा यह हुआ कि केन्द्र को दल बदल विरोधी कानून बनाना पड़ा फिर भी स्वार्थी नेताओं ने इसे भी धता बताया। गैर कांग्रेसी सरकारों ने तो कांग्रेस को भी मात कर दिया- जिम्मेदारी और ईमानदारी की बात ही व्यर्थ। बस कुर्सी, लाइसेंस, परमिट, पैसा, चुनाव, टिकट, एक-दूसरे की धुक्का फजीहत और आपाधापी। अर्थात् जैसे नागनाथ, वैसे साँप नाथ। लोगों की मनोभावना कुछ ऐसी ही हो गयी- "कोईनृपहोहमैंका हानी, चेरी छाँड़िअब होब कि रानी।" यानि कि हमारी स्थिति में कोई परिवर्तन होने वाला नहीं है। लाभान्वित तो हर दशा में सरकार को स्वयं होना है, यह धारणा जनता के मन में धीरे धीरे घर कर गयी।

तानाशाही की ओर बढ़ता प्रजातन्त्र

देशव्यापी निराशा, अनेक पार्टियाँ और मत वैभिन्य के कारण सैद्धान्तिक रूप से लोकतन्त्र का अर्थ था कोई किसी भी स्थान (पोस्ट) पर कार्य कर सकता है पर ऐसा नहीं हुआ। नेताओं के भाई भतीजे ही ऊँचे स्थानों पर लगाए गए। लोकतन्त्र का अर्थ था जनता ही सर्वशक्तिमान है उसी का मत अन्तिम है। किन्तु

इसके विपरीत लोकतन्त्र के सिद्धान्त यहाँ भी फेल हुए और सत्ता द्वारा पैसों से वोट खरीदे गए, कुर्सियाँ हथियायी गयी। सबसे निर्धन, निरीह और दयनीय यदि कोई बना रहा तो बस जनता यानि कि लोकतन्त्र। लोकतन्त्र के नाम पर नेताओं ने जनता को धोखा दिया, अपना घर भरा और भूखी और निर्धन जनता को मात्र आश्वासन ही देते रहे।

समाज में भी जनतन्त्र अपने वास्तविक रूप में नहीं आ सका। "व्यक्ति" को कोई अधिकार नहीं था। वह आज भी इतना ही अशक्त और निर्बल रहा। बस शक्तिवान कोई था तो सत्ताधारी। समर्थ, धनिक और सत्ताधारियों की ही आपाधापी थी। सत्ता हीन वर्ग वैसा ही सत्ताहीन बना रहा। इसकी कोई खास प्रगति नहीं हो सकी। वरन् उसे दबाया ही गया। छुआछूत का भेदभाव भी बना रहा। सामाजिक मूल्यों की दृष्टि से नारी भी जहाँ की तहाँ बनी रही- आज भी उसे मात्र घर की शोभा ही माना गया। उसके शील, संकोच और उदारता की दुहाई दी गई और इनके नाम पर उसे "घर" के "मीठे और स्वर्गिक कटघरे" में बन्द कर दिया गया किन्तु इस अवधि में स्त्रियों की दशा में परिवर्तन भी हुआ परन्तु वह अभी नगण्य है।

आर्थिक समानता की दृष्टि से भी लोकतन्त्र असफल रहा। अधिकारों के साथ साथ जनता में आर्थिक समानता भी नहीं आ सकी। पैसे की दृष्टि से आज भी यहाँ तीन वर्ग बने हुए है--

1- उच्च वर्ग

2- मध्य वर्ग

3- निम्नवर्ग

लोकतन्त्र के प्रति यह उदासीनता इस लिए है कि लोग अभी ठीक से इसके महत्त्व को नहीं समझ सके हैं। वे इसे राजनीतिक अधिकार हथियाने का साधन मात्र समझते हैं। जब चुनाव के दिन आते हैं, तो राजनीतिक पार्टियाँ जनता के सामने जाती हैं और उसे फुसलाकर वोट ले लेती हैं। इसके बाद वे चिन्ता नहीं करती कि जनता में लोकतन्त्र के प्रति सच्ची आस्था पैदा हो। परिणाम यह होता है कि जनता में लोक तन्त्र का पलड़ा मजबूती से नहीं जम पाता और क्रांति के सामने लोकतन्त्र घुटने टेक देता है।

भ्रष्टाचार और मूल्यों का संक्रमण

इन दिनों देश में मुख्य विषय भ्रष्टाचार का है भ्रष्टाचार आज सुरसा का मुख बन गया है, जिसमें पूरा समाज समा जाना चाहता है। स्वतन्त्रता के बाद अराजकता की स्थिति में दिन दूनी रात चौगुनी वृद्धि हुई, इसे देश का हर नागरिक स्वीकार करता है। देश कई खण्डों में विभाजित होता गया। हर दिशा में आपा धापी, भ्रष्टाचार, भाई-भतीजावाद और बेईमानी का राज्य होता गया। ईमानदार कर्मनिष्ठ, और देश में निष्ठा रखने वाले व्यक्तियों का जीवित रहना कठिन हो गया। यह सब सामाजिक और राजनीतिक चरित्र हीनता एवं अनैतिकता का ही परिणाम था। विक्षुब्ध जनता के क्रोध और आवेश के खुंखार पंजों ने चरित्र और नैतिकता को भी दबोच लिया। चारों ओर भयानक और संत्रासभरी स्थिति ही दृष्टिगोचर होती। अराजकता ही धर्म बन गयी और वही स्वभाव भी।

लड़के, विद्यार्थी, युवक अराजक हो बैठे। किसी तरह के नैतिक मूल्य नहीं रह गए। कहीं आस्था नहीं रह गयी। समाज और राजनीति में बस एक ही वस्तु

अनादर और अनुशासन ।

राष्ट्रीय जीवन पर भ्रष्टाचार का नागपाश दिनों दिन कसता ही जा रहा है लोग एक रूपये में सिर्फ 33 पैसे का काम ही करना चाहते हैं। और कुछ लोग तो कुछ भी नहीं करना चाहते। यह रोग इतना व्यापक हो गया है कि भ्रष्टाचार से अलग राजनीति या प्रशासन का चेहरा दिनोंदिन दुर्लभ होता जा रहा है। लगता है कि एक जैसे हरेक राजनीतिक ड्योढ़ी पर तराजू टंग गये हैं और आफिस की प्रत्येक फाइल पर मांगने वाले और लूटने वाले हाथ उग आए हैं। लगता है कि राष्ट्रीय घूसखोरी स्वयं एक पात्र बन गयी है और बड़े गर्व से कह रही है कि लोग मुझे नाहक बदनाम करते हैं। मैं तो शासन का "मोबिल-आयल" हूँ। मै न रहूँ तो इस देश में राजनीतिके और प्रशासन के सारे यन्त्र कड़कड़ा कर चूर-चूर हो जायें। कल का इतिहासकार वास्तव में इस युग को लोकतन्त्र नहीं, समाजवाद नहीं वरन् राष्ट्रीय भ्रष्टाचार -युग का ही नाम देगा।

इस प्रकार भारत के लोकतन्त्र जैसे हरे भरे, स्वस्थ वृक्ष पर भ्रष्टाचार की अमरबेल फैलती चली गयी। लोकतन्त्र के बलबूते पर ही भ्रष्टाचार पनपता रहा और लोकतन्त्र धीरे धीरे सूखने लगा। गाँधी को देश ने छोड़ दिया और अपनी कोई फिलासफी इसके पास थी नहीं। फलत: मूल्यहीनता का बढ़ना स्वाभाविक था। अफसर, सरकार, लाल-फीताशाही, यानि कि समर्थ और शक्तिवान की घूसखोरी से पूजा की जाने लगी। आर्थिक शोषण सामान्य कार्य बन गया। सत्ता-लोभ ने बेईमानी को जन्म दिया। राजनीति भी ढुलमुल रही और नेतृत्व भी। हिन्दू-मुस्लिम तथा अन्य जातियों के नाम पर राजनीति होने लगी। पिछड़े और साधनहीन लोगों ने भी समाज में उच्च वर्ग के समान ही रह सकने के लिए लूट-पाट और डकैती

यह भ्रष्टाचार उच्च स्तर से लेकर निम्न स्तर तक व्याप्त है। पूर्व में पंजाब व बिहार के मुख्यमन्त्रियों के विरुद्ध भ्रष्टाचार आयोग बैठाये जा चुके हैं।[1] महाराष्ट्र और मध्यप्रदेश के मुख्यमंत्रियों के खिलाफ तो विभिन्न मामले कोर्ट में भी गए हैं। "उत्तर प्रदेश के एक पूर्व मुख्यमंत्री के विरुद्ध भी भ्रष्टाचार के आरोप लगाए गए हैं।"[2] पिछले कुछ वर्षों में बोफोर्स दलाली कांड, शेयर घोटाला तथा चीनी घोटाले की चर्चा राष्ट्रीय स्तर पर रही। बोफोर्स दलाली कांड तो भ्रष्टाचार का ऐसा मुद्दा बना कि तत्कालीन कांग्रेस की सरकार को केन्द्रीय सत्ता से हाथ धोना पड़ा। चीनी घोटाला (वर्ष 1995) काण्ड में तो एक केन्द्रीय मन्त्री को अपने पद से त्याग पत्र देना पड़ा। अंधेर की इस स्थिति ने आज एक भयानक संत्रास का वातावरण बना दिया है। मूल्यों का संक्रमण जिस तेजी से इस युग में हो रहा है, उतना कदाचित किसी युग में नहीं हुआ था। यह भयंकर राजनीतिक अराजकता एवं अव्यवस्था की स्थिति है, जिसमें व्यक्ति अपना, आत्म विश्वास खो बैठा है। अब उसे कोई आश्वासन न तो प्रभावित करता है न अपने में बाँधता है। वह जड़ और निष्क्रिय हो गया है। उसकी आत्मा लुप्त हो गई है। कार्लमार्क्स के शब्दों में वह केवल मशीन का एक पुर्जा भर बन कर रह गया है।

भ्रष्टाचार, भाई-भतीजावाद और जातिवाद वाले लोकतन्त्र ने भविष्य के माथे पर ऐसी कालिख पोत दी है कि उसे मिटाने की शक्ति आज के मनुष्य में नहीं रह गई है। जीवन उसके लिए व्यर्थता की परिधि में बंधा हुआ है। मूल्य मर्यादा

1- नवभारत टाइम्स, दिल्ली, 30 अगस्त 1991-पृ0 ।

2- दैनिक जागरण- इलाहाबाद 7 अगस्त 1995

से समाज संचित होकर इस कदर सड़ गया है कि उससे दुर्गन्ध आने लगी है। अमरकान्त ने "इन्टरव्यू" और सुरेश सिनहा ने "नया जन्म" में इस भयावह स्थिति का अत्यन्त मार्मिक चित्रण किया है। हर आदमी योग्य होते हुए भी व्यर्थ और अयोग्य घोषित कर दिया गया है। हर आदमी दूसरे के लिए उपेक्षित और अनाम है। स्वयं के लिए भी उसकी कोई संज्ञा नहीं है। "नया जन्म" का नायक ठीक कहता है-- "लच्छेदार भाषणों के बजाय जब तक प्रैक्टिकल रूप से लोगों को जीने और आगे बढ़ने का समान अधिकार नहीं मिलता, आप देखते रहिए, एक दिन कोई शक्ति सिर उठाएगी और कहने को हमारी मजबूत और शानदार डेमोक्रेसी का सिर कुचल देगी। यह तास का महल आखिर कब तक खड़ा रहेगा?"[1] यह एक ऐसी स्थिति है जिसमें राजनीतिक शक्तियों, खोखली नैतिकताओं और व्यावसायिकता ने मनुष्य की स्वतन्त्रता को अपहृत कर उसे अनेक प्रकार के यन्त्रों-तन्त्रों का जड़ अंग बना दिया। संवेदनशील व्यक्ति समाज से टूटकर बेगाना और अजनबी हो गया। आज वह गहरी वेदना और अकेलेपन के एहसास के बीच मरकर जी रहा है। अधिक अच्छा होगा कि यह कहा जाय कि वह जीकर मर रहा है।"[2] लेकिन देश के नित्य नए बनने वाले स्वयंसिद्ध नेताओं और अफसरों के कानों पर जूं तक नहीं रेंगती। वे भ्रष्टाचार में कल की अपेक्षा आज कहीं अधिक लिप्त हैं। कल शायद आज से अधिक लिप्त होंगे और तब समाज की स्थिति क्या होगी? इसकी सहज कल्पना की जा सकती है।

1- सुरेश सिन्हा- कई आवाजों के बीच - पृ0 121-122

2- डा0 बच्चन सिंह - समकालीन हिन्दी साहित्य आलोचना को चुनौती-पृ0 111

भ्रष्टाचार का ग्राफ जितनी तेजी से उठा है उससे कम गति अपराध के ग्राफ की नहीं रही। भारतीय राजनीति का वर्तमान दौर अपराधों और षडयन्त्रों का पर्याय बन चुका है। "राजनीति" की आड़ में तमाम असामाजिक और अनैतिक कृत्य बड़े ही सामान्य ढंग से हमारे आधुनिक जनप्रतिनिधि संचालित करते हैं। गाहे बगाहे ऐसे उदाहरण हमें मिल ही जाते हैं जिससे राजनीति के अपराधीकरण का सिलसिला शुरू हो जाता है। बिहार विधान सभा का चुनाव हो या राजनीतिज्ञों से सम्बन्धित किसी आपराधिक घटना का पर्दाफाश, जनमानस राजनीति के अपराधीकरण पर चिंतन के लिए बाध्य हो जाता है। "नयी दिल्ली के "तंदूर कांड" ने अपराधियों द्वारा संचालित राजनीति की तस्वीर हमारे सामने प्रस्तुत की है। इस घटना के बारे में काफी कुछ अखबारों में छप चुका है। इतना ही जानना पर्याप्त है कि मौजूदा राजनीति में दूध के धुले विरले ही हैं।"[1]

वित्तीय अनियमितताओं के दलदल में फँसे राजनीतिकों पर चर्चा अब बेईमानी लगती है। क्योंकि करोड़ों रूपये डकार कर नैतिक मूल्यों की धज्जियाँ उड़ाते हमारे जनप्रतिनिधि, सदनों की शोभा बढ़ाते हैं। राजनीति के तथाकथित चिंतक और विश्लेषक वित्तीय अनियमितताओं की घटनाओं पर ऐसा रूख अपनाते हैं कि उनका कार्य महज राजनीतिक दलों के नफा-नुकसान का आकलन करने तक ही सीमित रह जाता है, जैसे ये राजनीतिक दलों के "मुनीब" हों। इसीप्रकार "राजनीति और अपराध" एक दूसरे के बल पर ही पुष्पित और पल्लवित होते रहे हैं। राजनीतिक दलों को टिकट हथियाने, बूथ कैपचरिंग, चुनाव जीत कर सत्ता

1- अमृत प्रभात- इलाहाबाद 19 अगस्त 95-पृ0 6

पाने, निर्दलीयों को अपने पक्ष में करने जैसे कई कार्यों में अपराध का सहारा लेना पड़ता है। "माफिया गिरोह" राजनीतिक दलों के दमखम पर ही टिके रहते हैं। इस तरह उनमें अटूट सम्बन्ध हो जाता है।

आपराधिक तत्वों का हौसला तो आज बहुत बढ़ चुका है पहले तो वे राजनीतिक दलों की रीति-नीति और कार्यक्रमों को "सदन" के बाहर से ही प्रभावित करने की क्षमता रखते थे, लेकिन अब बाकायदा "सदस्य"की हैसियत से हमारा प्रतिनिधित्व करते हैं। राजनीतिक दल जीत की संभावना का आकलन करके ऐसे ही व्यक्तियों को टिकट बांटते फिरते है, जिनके खिलाफ सैकड़ों मामले पहले से ही दर्ज होते हैं। चुनाव जीतने के बाद "सदन प्रतिनिधि" पर पूर्व में लगे सभी मामले "जनहित" के आधार पर वापस लिए जाने की सरकारी परम्परा ने भी ऐसे तत्वों को राजनीति की शरण में जाने के लिए मजबूर किया है। हम मतदाता भी अनाड़ी है यह पूछने तक की हिम्मत नहीं करते कि चुनावों के वक्तहमारे दरवाजे पर "वोट" की खातिर खड़ा प्रत्याशी किन-किन अपराधों में लिप्त है। हम तो उन्हें अपनी मौन सहमति प्रदान कर देते हैं और भारी मतों से विजयी भी बनवा देते हैं या अपनी आपराधिक प्रवीणता के आधार पर वे "विजय-श्री" हासिल कर लेते हैं।

अभी कुछ दिन पहले तंदूर में झुलसता "भारतीय राजनीति का चरित्र" हमारी लोकतान्त्रिक व्यवस्था का सफल आकलन प्रस्तुत कर रहा है, ऐसा प्रतीत होता है। व्यवस्था के संचालक बड़ी सफाई से अपने को बचा लेने की रणनीति अख्तियार कर लेते हैं।" लेकिन 92 करोड़ जनता उफ तक नहीं करती। हमारे राजनीति के खिलाड़ी इतने संवेदन हीन हो चुके हैं कि किसी आपराधिक प्रकरणों,

सेक्स-स्कैंडल अथवा वित्तीय अनियमितताओं की घटनाओं का उनके राजनैतिक चरित्र पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता । दुनिया के कई पश्चिमी राष्ट्रों में ऐसी घटनाएं व्यापक बहस का मुद्दा बनकर सम्बन्धित राजनीतिक दलों के भविष्य को ही दाँव पर लगा देती हैं, लेकिन हममें उतनी संवेदन शून्यता की स्थिति है कि बार-बार बड़े वित्तीय घोटाले और "तंदूर कांड" जैसी विभत्स घटनाएं हमारी मनोस्थिति को आहत नहीं करती। राजनीति के क्षेत्र में असामाजिक प्रवृत्तियों को प्रश्रय मिलने से राष्ट्रीयता प्रभावित हो रही है। अब तो यही तय करना मुश्किल हो गया है कि हमारे राजनीतिक दल राजनीति का अपराधीकरण कर रहे हैं अथवा अपराधों की राजनीति।

हमारी राजनीति में चरित्र का संकट गहराता जा रहा है। यह प्रक्रिया तब से प्रारम्भ हुई, जब से राजनीतिक दल "सत्ता" के मोह पाश में बँधने लगे। "सत्ता" पर काबिज होने के लिए ऐसी तमाम बुराइयां अपनायी जाने लगी जो सामाजिक स्तर पर त्याज्य समझी जाती हैं। इससे "लक्ष्मी पुत्रों" का भी वर्चस्व राजनीतिक क्षेत्र में बढ़ने लगा। जब सत्ता हथियाने के लिए धन कारगर सिद्ध नहीं हुआ तब आपराधिक तत्वों की आजमाइश होने लगी। आपराधिक तत्वों की सफलता से अभिभूत राजनीतिक दल, उन्हें अपना सिरमौर समझने लगे। इसके बाद शुरू हुआ राजनीति और अपराध का घालमेल। कहने का मतलब यह है कि "सत्ता" पर आधारित राजनीति ने अपराधिकतत्वों की जरूरत पर बल दिया और आपराधिक तत्व अपने काले कारनामों को छिपाने के लिए मजबूत सहारे की तलाश में थे ही, फिर क्या था बन गया "चोली-दामन का सम्बन्ध, राजनीतिक दलों और अपराधियों का । इसी सम्बन्ध ने हमारी राजनीति के नैतिक मूल्यों को तिरोहित

करने में प्रभावी भूमिका निभाई है।

यह हमारी व्यवस्था का ही कमाल है कि एक "शासकीय नौकरी" के अभ्यर्थी से उसका चरित्र प्रमाण पत्र माँगा जाता है, उसका सत्यापन कराया जाता है, मगर राजनीतिक दलों से चुनावों के वक्त उनके प्रत्याशियों का "चरित्र प्रमाण-पत्र" प्रस्तुत कराए जाने की औपचारिकता भी नहीं निभायी जाती । यह कार्य हम ही कर सकते हैं क्योंकि हम मतदाता यदि सम्बन्धित प्रत्याशी के चरित्र से अवगत होकर उन्हें अपनी सहमति प्रदान न करें तो वह भला "सदन" में कैसे प्रविष्ट हो पायेगा। राजनीतिक क्षेत्र में कोई आपराधिक घटना घटती है तो राजनीतिक दल यह एलान कर देते हैं कि इनकी पार्टी भावी चुनावों में आपराधिक चरित्र वाले व्यक्तियों को टिकट नहीं देगी, किन्तु चुनाव में सभी राजनीतिक दलों की असलियत उजागर हो जाती है। वर्तमान संदर्भों में जब कोई आपराधिक प्रवृत्ति वाला करिश्माई व्यक्ति जेल के भीतर से ही अपना नामांकन दाखिल कर चुनाव जीत सकता है, तब यह कहना भी गलत नहीं है कि राजनीतिक दल अपराधियों को टिकट न देकर अन्य को अपना प्रत्याशी बनाएंगे तो सत्ता हासिल करने के लिए अपेक्षित बहुमत कहाँ से जुटाएंगे। चुनाव आयोग और न्यायपालिका मिलकर राजनीति में आपराधिक प्रवृत्तियों के हस्तक्षेप पर रोक लगा सकते हैं।

हमने राजनीति में चरित्र के पतन के सवाल पर यदि और उदासीनता का परिचय दिया तो सम्भव है राजनीति के चतुर खिलाड़ी अपराधियों के माध्यम से कोई न कोई नया गुल खिलाते रहेंगे, ऐसी राजनीति में जनहित के लिए कोई जगह भी नहीं रहेगी, हम केवल एक दूसरे पर दोषारोपण करते रहेंगे व राजनीति के अपराधीकरण बनाम अपराधों की राजनीति का द्वन्द्व भी जारी रहेगा। इसके

पश्चात् नित नई घटनाओं के माध्यम से हमारा राजनीतिक और सामाजिक चरित्र और हमारी नैतिकता का ह्रास होता रहेगा। जो स्वयं वर्तमान और भविष्य के लिए खतरे की घंटी है।

अन्धकारमय भविष्य और विघटन की भूमिका

अभी हमने जिन परिस्थितियों का उल्लेख किया है। उसमें हमारा कोई भविष्य शेष नहीं रह गया है और समाज निरन्तर विघटित होता जा रहा है। राजनीति ने हमारे राष्ट्रीय चरित्र और विश्वास को इतना खण्डित कर दिया है कि हमारे जीवन में अब कोई आश्वासन महत्वपूर्ण नहीं रहगया है। राजनीतिक भ्रष्टाचार ने अर्थव्यवस्था को इतना क्षीण कर दिया है कि मानवीय सम्बन्ध अब केवल स्वार्थ पूर्ति की कसौटी पर या सिक्कों में आंके जाते हैं। मनुष्य समाज के लिए अपनी उपयोगिता पैसे खो चुका है, वह तो मात्र मशीन का एक पुर्जा भर रह गया है।

यदि यह कहा जाए कि आज देश और समाज के नाम पर उत्तरदायित्व हीनता, दिशा भ्रम, अस्थिरता, नीति-हीनता, निराशा, नीतिपलायन और असंतोष मात्र शेष रह गया है, तो कोई अत्युक्ति न होगी। व्यवस्था और सन्तुलन कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता- सामाजिक विघटन का उससे बड़ा प्रमाण और क्या प्रस्तुत किया जा सकता है। बड़े-बड़े नारों, आकर्षक भाषणों तथा झूठे आश्वासनों से किसी समाज की नई संरचना नहीं होती और न देश का नवनिर्माण होता है। देश को ऐसी स्थिति से कभी नए धरातल पर प्रतिष्ठित नहीं किया जा सकता।

यह मूल्यों के ह्रास का ही युग है।

साधारण वर्ग दिनोंदिन त्रस्त और दाने-दाने को मोहताज होता जा रहा है। फुटपाथों पर हमें व्यक्तियों की लाशें पलती हुई दिखती हैं। वोट मांगने के समय को छोड़कर गद्दीधारी नेता कभी बदबू सड़ांध और बीमारियों से भरे गाँव और बस्तियों में नहीं जाते। बढ़ती हुई निर्धनता से देश में अराजकता फैलने लगी है। लूट मार, डाकाजनी और आगजनी बढ़ रही है।

"निर्धनता मनुष्य की उस अवस्था का नाम है, जिसमें आमदनी की कमी या फिजूलखर्ची से वह अपनी तथा अपने आश्रितों की भौतिक तथा मानसिक आवश्यकताओं को पूरा करने के अपने उस स्तर को कायम नहीं रख सकता, जिसकी समाज के दूसरे लोग उससे आशा करते हैं।........निर्धनता की असली परख यह है कि दूसरे भी यह समझें कि जो स्तर इसका होना चाहिए, वह नहीं है।"[1] हमारी निर्धनता के कारण अनेक हैं:-

- वैयक्तिक असमर्थता
- भौतिक परिस्थिति" (क) प्राकृतिक पदार्थों की कमी, (ख) ऋतु की प्रतिकूलता, (ग) जीव-जन्तुओं का उत्पात, (घ) प्रकृति का कोप ।
- आर्थिक कारण- निर्धनता का सबसे बड़ा कारण यही है। धन का असामान्य वितरण आज के व्यक्ति की निर्धनता का सबसे बड़ा कारण है। इस असमानता को राज्य ही रोक सकता है।

1- प्रो0 सत्यव्रत सिद्धालंकार- समाजशास्त्र के मूल तत्त्व- पृ0 497

- सामाजिक कारण- (क) त्रुटिपूर्ण शिक्षा प्रणाली, (ख) त्रुटिपूर्ण स्वास्थ्य-रक्षा प्रणाली तथा (ग) त्रुटिपूर्ण मकानों की व्यवस्था । इन कारणों से निर्धनता बढ़ रही है।
- युद्ध-निर्धनता का सबसे बड़ा कारण है स्वतन्त्रता के बाद हम तीन बड़े युद्ध लड़ चुके हैं- चीन और पाकिस्तान (दो) से और अब बंगला देश से आये हुए शरणार्थियों की समस्या से जूझ रहे हैं।

वास्तव में कांग्रेस के स्खलन से राजनीतिक क्षेत्र में तो मोहभंग हुआ ही सामाजिक क्षेत्र में भी मोहभंग की स्थिति व्याप्त हो गयी थी। आशाएं टूट गयीं और सर्वत्र निराशा एवं कुंठा का साम्राज्य फैल गया।

लोगों को अब किसी भी वस्तु के प्रति कोई भी मोह नहीं रह गया। दरिद्रता और अभाव के कारण एक कटुता ही चारों तरफ समाज में फैल गयी।लोगों ने एक दूसरे के ऊपर भरोसा करना छोड़ दिया। और प्रत्येक प्रकार के मोह से मुक्त होकर व्यक्ति समाज के प्रति तटस्थ हो गया। समाज के प्रति उसने अपनी आस्था को खो दिया। उसने समझ लिया कि राष्ट्र, स्वतन्त्रता और समाज उसे कुछ भी नहीं दे सकते। बल्कि पास में जो था वह भी छीन कर उसने लोगों को भूखा, गरीब और नग्न बना दिया। ऐसी स्वतन्त्रता, ऐसे समाज के प्रति मोह कैसा?

मोह भंग के कारण लोगों ने अपना-अपना किनारा अलग कर लिया। सम्प्रदायवाद, जातिवाद, व्यक्तिवाद, स्वार्थपरता, उत्तरदायित्व हीनता और सामाजिक भ्रष्टाचार का ही चारों ओर बोलबाला हो गया। समाज में सर्वत्र नितान्त अव्यवस्था फैल गयी। लोगों ने अनुशासन तोड़ दिया- नैतिकता खो दी और आदर्शों को खोखला, सारहीन और मूल्यहीन माना। आदर्श, त्याग और

देशभक्ति लोगों का न तो अब पेट भर सकी थी। वरन् तुलना में स्वतन्त्रता के पूर्व की वह गुलामी ही लोगों को अच्छी लगी कि खाने, पीने, पहनने और रहने को तो कम से कम ठीक से मिलता था। कोई इस तरह टूटने वाला तो नहीं था। स्वतन्त्रता के पूर्व लोगों के जीवन की निश्चितता तो थी और अब तो ठोस चीज तो कहीं भी नहीं, बस चारों ओर कार्ल मार्क्स, प्रगतिवाद, प्रगतिशील, फ्रायड, युंग जैसे नामों और नारों की भरमार थी। लोगों को खाना और वस्त्र नहीं बस यही खोखली दिमागी चीजे ही बेमोल मिल रहीं थी। क्रांति के नाम पर स्ट्राइकें, सत्याग्रह, पथराव, तोड़ फोड़ होती और कुछ भी बनने के स्थान पर और नष्ट ही हो जाता ।

घर में पढ़ी लिखी नारी और पुरुष में अलग होड़ लगी हुई थी। शिक्षित एवं स्वयं सर्जिका नारी भी "घर" की गुलामी से मुक्त होकर "बाहर" के विराट कर्मक्षेत्र में पूरे आत्मविश्वास से कूद पड़ी थी और तेजी से प्रगति कर रही थी। बुद्धि, ज्ञान और शिक्षा की दृष्टि से उसने पुरुष को पीछे छोड़ दिया था और घर से बाहर आकर उसने हर क्षेत्र में (पुरुषों के क्षेत्र में) नौकरियां करनी शुरू कर दीं और पुरुषों के स्थान लेने लगी। स्त्रियों के बाहर आने और नौकरी के क्षेत्र में कूद पड़ने के कारण भी पुरुषों में बेकारी फैलने लगी और साथ ही आत्महीनता की भावना भी। वह स्त्री को आज भी सहगामिनी बनाकर नहीं, अनुगामिनी बनाकर रखना चाहता था। और सफल न होने पर कुंठित होता गया।

आर्थिक एकता के लिए मध्यम और निम्न वर्ग ने भी अब त्याग, संतोष और आदर्श का पल्ला छोड़ कर क्रांति का सहारा लिया और समाज पर धावा बोल दिया। सभी अपना अपना हित चाहने लगे। सभी को लगा कि आदर्श और

संतोष व्यर्थ है और उन्हें भी संसार की हर सुख सुविधा भोगने का अधिकार है।

जातिवाद का बोलबाला अलग था। भाई- भतीजावाद, अलगाववाद अलग चल निकला था। कुर्सी से चिपके रहने की भावना आत्म संकेन्द्रण, और आत्मश्लाघा के कारण पर कल्याण की भावना बिल्कुल ही समाप्त हो गयी और सबके अपने-अपने स्वार्थ सामने आ गये। समाज में चारों ओर अराजकता और असंतोष फैल गया।

चीनी पाकिस्तानी आक्रमण तथा नई पीढ़ी की निष्क्रियता

असंतोष अभाव ग्रस्त परिस्थितियों और नपुंसक वृत्ति ने विद्रोह कम झुंझलाहट ही अधिक पैदा की। विद्रोह हुआ भी तो अधिकांशतः मानसिक धरातल पर और बहुत ही निरर्थक सा। तेजी उसमें आ ही नहीं सकी। सत्ता का भय; विपरीत परिस्थितियों एवं समझौता वृत्ति के कारण ही शायद ऐसा हुआ। विद्रोह भी क्रोध के अभाव में क्षणिक, झुंझलाहट और अविद्रोह बनकर रह गया। अविद्रोह यानी की स्वभाव में विद्रोह और व्यवहार में समझौता।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व के सारे आदर्श अब ढह गये और अधिकाधिक नेता स्वार्थपूर्ति के चक्कर में पड़ गए। पंचवर्षीय योजनाओं सहित अत्यानेक योजनाएं बनाकर देश को समाजवादी लक्ष्य तक ले जाने के प्रयत्न विफल हुए। क्योंकि कागज पर उतारी गयी योजनाओं और उन्हें क्रियान्वित करने में अन्तर होता है। एयर-कंडीशंड बंगलों में रहते और कारों पर घूमते हुए नेताओं ने जनता को भाषणों से ही संतुष्ट करना चाहा। वह टैक्स बढ़ाते गये और जनता को उनका भार सहन करने का उपदेश देते गये। स्वार्थ-पूर्ति, कुनबापरस्ती, गुटबाजी तथा अनुभव हीनता

के कारण देश में शोषण का भी अधिक प्रसार होता गया। आपसी मतभेद इतना बढ़ गया है कि स्वयं एक दल के नेता ही एक मत नहीं हो पाते। आज की राजनीति पर लोकसभा में नेता विरोधीदल के विचार द्रष्टव्य है- "आज की राजनीति विवेक नहीं, वाक्-चातुर्य चाहती है, संयम नहीं असहिष्णुता को प्रोत्साहन देती है, श्रेय नहीं प्रेम के पीछे पागल है। मतभेद का समादर करना तो अलग रहा, उसको सहन करने की वृत्ति भी विलुप्त हो रही है। आदर्शवाद का स्थान अवसरवाद ले रहा है, "बायें" [लैफ्ट] और "दायें" [राइट] का भेद भी व्यक्तिगत अधिक है, विचारगत कम। सब अपनी अपनी गोटी लाल करने में लगे हैं- उत्तराधिकार की शतरंज पर मोहरे बैठाने की चिन्ता में लीन हैं। सत्ता का संघर्ष प्रतिपक्षियों से ही नहीं, स्वयं अपने ही दलवालों से हो रहा है। पद और प्रतिष्ठा को कायम रखने के लिए जोड़-तोड़, सांठ-गांठ और ठकुर सुहाती आवश्यक है। निर्भीकता और स्पष्टवादिता खतरे से खाली नहीं है। आत्मा को कुचलकर ही आगे बढ़ा जा सकता है।"[1]

युग आज राजनीति प्रधान है। जन-साधारण तक को इसका चस्का लग गया गया है। व्यक्तिगत राजनीति के कारण समाचार पत्र अब आत्म-विज्ञापन के काम में अधिक आ रहे हैं। यदि एकाध समाचार पत्र नेताओं और उनके दल की सही तस्वीर छाप दें तो उनका खैर नहीं। संस्कृति और समाज का विकास आज मनुष्य के द्वारा नहीं, सत्ता, शासन और राजनीति के द्वारा होता है। सरकार के आचरण में स्वयं सत्य, अहिंसा व शान्ति नहीं है। अहिंसा की माला हाथ में होते हुए भी शासक वर्ग की ओर से निहत्थी जनता पर गोली चल जाती है। अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में भी शान्ति मार्ग पर चलना और युद्ध न करना इस सरकार

की नीति नहीं। यहाँ भी प्रतिद्वन्दी अपेक्षाकृत दुर्बल हुआ प्रतीत हुआ, इस सरकार ने उसके साथ शान्ति का व्यवहार नहीं किया। गोवा पर चढ़ाई करना और उसे जीत कर स्वतन्त्र भारत में मिला लेना जरूरी था। लेकिन इतना तो मानना पड़ेगा कि यह कार्य शान्ति-पथ से भी सम्पन्न हो सकता था, जो नहीं किया गया। तो फिर चीन और पाकिस्तान के मुकाबले पर ही यह शान्ति की रामधुन क्यों? अणु बम बनाने के विषय में ही यह घबराहट और पलायन कैसा?

किन्तु वस्तुस्थिति अब कुछ सुधरी है। चीन ने जब दूसरा अणु बम विस्फोट किया तो भारत भी इस विषय में सोचने लगा। भारत को इस दिशा में प्रगति करनी ही चाहिए। वर्तमान में भी चीन और पाकिस्तान से भारत की सुरक्षा खतरे में है। चीन ने भारत पर 20 अक्टूबर 1962 को आक्रमण किया। यह आक्रमण विदेश नीति की गलती से हुआ। जिसमें भारत की पूर्ण पराजय हुई - नैतिक शक्ति का ह्रास तो हुआ ही प्रतिष्ठा, एकता और निर्माण की दृष्टि से भी हमने अपना सब कुछ खो दिया।

देश के विघटन के कारण ही बाहर वालों को लाभ पहुँचा। भारत पर चीन का आक्रमण मात्र सीमा-विवाद नहीं, चीन के प्रचार-प्रसार की सुनियोजित नीति थी। इसके परिणाम स्वरूप दक्षिण पूर्वी एशिया के राष्ट्रों को मिली स्वतन्त्रता डगमगाने लगी। किन्तु चीन जानता था कि अन्य देशों की अपेक्षा भारत से, विशेष कर एशिया ही नहीं समूचे संसार में तीव्र गति से उठते हुए उसके यान के संदर्भ में, उसे कभी न कभी टकराना होगा। क्योंकि बिना उससे टकराए एशिया की राजनीति की बागडोर उसके हाथ नहीं लगेगी और वह अवसर की ताक में बैठा रहा। अवसर

मिलते ही जब दक्षिण पूर्वी एशिया और अफ्रीका के नये आजाद हुए देश अपने-अपने राष्ट्र के विकास में फंसे, चीन को स्वयं विगत बीस वर्षों से अपनी शक्ति में अनवरत वृद्धि कर रहा था, भारत पर अचानक आक्रमण कर दिया। किन्तु भारत कभी इस संदर्भ में सोचा भी नहीं और चीन की सीमा को सुरक्षित समझा था। असम की स्थिति दो जबड़ों के बीच जैसी हो गयी थी। एक ओर से वह पूर्वी पाकिस्तान से घिरा था और दूसरी ओर से चीन से।

एशिया और अफ्रीका के लिए चीन का यह हमला एक चेतावनी था। भारत की राजनीति को इसी समय इस तथ्य का ज्ञान हुआ कि एशिया अफ्रीका की मानसिक एकता एकमात्र भ्रांति है और बांडुंग की शपथ धोखा। बांडुंग की दूसरी शक्तियाँ जहाँ आशा और विश्वास के धोखे में रहीं, वहीं सबसे बड़ी शक्ति चीन जो कि उस पंचशील की रीढ़ था, महज झूठी शपथ लेता रहा। सन् 1949 से ही चीन भारत में "कम्युनिज्म" ले आने का स्वप्न देख रहा था- भारत एशिया की महान् कौमों में एक प्रमुख स्थान रखता है। इसका एक लम्बा इतिहास है और यह एक बहुत विशाल आबादी का देश है। इस देश का अतीत और भविष्य बहुत कुछ चीन जैसा ही है। स्वतन्त्र चीन की तरह एक दिन भारत भी स्वतन्त्र होगा और वह स्वतंत्र साम्यवादी परिवार का अंग होगा।[1]

1- माओत्सेतुंग- माध्यम- जून 1966, पृ0 11

डा० लोहिया ने चीनी इरादों को बखूबी समझा था । उन्होंने लोक सभा में कहा- "मैं 17 साल से किसी प्रधानमन्त्री के पास नहीं गया, लेकिन इस बार मैं उनके पास गया और प्रधानमंत्री साहब से कहा कि एक मन्त्र सीखो, वह मन्त्र है, "जो घर जारे आपना........।" जिस गद्दी पर आप बैठना चाहते हैं उस गद्दी में आज यह ताकत होनी चाहिए कि अपनी नीति और तरीकों के के लिए अगर एक दफा गद्दी को जला भी देना पड़े तो उसके लिए तैयार रहें। मैं नहीं कहता कि जला दो। मैं कहता हूँ कि रास्ता निकालो, इस लिए कहता हूँ कि इस तोता रटन्त विदेश नीति को खतम करना चाहिए।"[1]

चीनी आक्रमण के बाद से भारत की स्थिति और भी अधिक शोचनीय हो गयी। लड़ने के लिए और उसके बाद भी देश की स्थिति को सम्हालने के लिए उसे विदेशों से बेहिसाब कर्ज़ लेना पड़ा। भीतर ही भीतर वह खोखला होता गया। विदेशी विनिमय-अन्न, शस्त्रादि के लिए स्वर्ण की इतनी कमी पड़ी कि जनसाधारण के लिए स्वर्ण की मात्रा 24 कैरेट से घटा दी गयी।

हिन्दू सम्प्रदायवादियों के कारण अथवा ग़लत राजनीति के कारण हिन्दुओं और भारत का बहुत नुकसान हुआ है। पाक विभाजन की जिम्मेदारी इन्हीं की

1- डा० राजेन्द्र मोहन भटनागर- डा० लोहिया व्यक्तित्व और कृतित्व-पृ० 278

अधिक मानी जाती है। कश्मीर को लेकर विलय सम्बन्धी भयंकरतम भूल आज भारत की प्रमुख समस्या बन गयी है। तत्काल ही स्वतन्त्रता प्राप्त हुई थी 1600 के लगभग छोटी रियासतें नासूर की तरह फैली हुई थीं।

आज की कश्मीर की समस्या हल करने के लिए भारत रास्ते खोज रहा है। कभी वह सोचता है कि कश्मीर के एक वर्ग की मांग को स्वीकार करके जनमत संग्रह करवाया जाए। पर यह भी उसे खतरनाक लगता है- "मगर ऐसा करके भारत न केवल कश्मीर की स्थिति को डावांडोल कर देगा बल्कि विभिन्न भागों में पृथकतावादी तत्वों के लिए भारत संघ से अलग हो जाने का एक स्वर्ण अवसर मिल जायेगा। विघटन का इससे अच्छा मौका और कोई नहीं हो सकता।"[1] इस प्रक्रिया में शेख अब्दुल्ला की भूमिका बड़ी भयावह रही है। उन्होंने एक छोटे से अर्से में अपने राजनीतिक जीवन में जितने मुखौटे लगाए। वह आश्चर्यजनक है।

शेख अब्दुल्ला की भूमिका दूसरे पाकिस्तानी आक्रमण में तो थी ही, उसके बाद भी वे कश्मीर को स्वतन्त्र बनाने का स्वप्न देखते रहे। फिर भी कुछ लोग उन्हें धर्म-निरपेक्ष राजनीतिक नेता स्वीकार करने में हिचकते नहीं। 1965 में पाकिस्तानी आक्रमण के पूर्व उनके उत्तेजनात्मक भाषणों को भुलाया नहीं जा सकता।

आज फारूक अब्दुल्ला भी उन्हीं के पद चिन्हों पर चल रहे हैं- "अगले मार्च (95) में राष्ट्रपति शासन के पाँच साल पूरे हो जायेंगे। बहरहाल बाधाएं महज प्रशासनिक नहीं हैं। फारूक अब्दुल्ला की "नेशनल कॉन्फ्रेंस" समेत कोई भी पार्टी

1- दिनमान: कश्मीर : सुलगती हुई समस्या, 16 फरवरी 69

चुनाव में हिस्सा लेने को राजी नहीं है, केन्द्र सरकार को उम्मीद थी कि फारूक चुनाव प्रक्रिया के अगुआ बनेंगे लेकिन सुलह समझौते का रुख छोड़ उन्होंने विद्रोही मुद्दा अपना ली है, चुनाव में हिस्सा लेने के लिए उन्होंने राज्य को "ज्यादा स्वायत्तता" देने की शर्त रखी है।"[1]

पाकिस्तानी शासकों के इरादे पहले जैसे ही घृणित बने रहे। "युद्ध-विराम स्वीकार करते समय पाकिस्तानी विदेश मन्त्री ने सुरक्षा परिषद् को एक जनवरी 1966 तक कश्मीर समस्या सुलझाने की धमकी दी, तभी युद्ध विराम स्वीकार कर लेने के बाद भी 22 सितम्बर को पाकिस्तान ने अमृतसर के बाजार पर अन्धाधुंध बमबारी की। जोधपुर के जेल अस्पताल के मरीजों तक पर पाकिस्तानी हवाबाजों ने अपनी बहादुरी दिखायी। पाकिस्तान की इन उत्तेजनापूर्ण हरकतों और करतूतों को देखकर ही उस समय के प्रधानमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री ने तत्कालीन स्थिति को "अस्थिरतापूर्ण" कहा।"[2] किन्तु भारतीय सेना ने भी हिम्मत नहीं हारी। दूसरे युद्ध में तो पाकिस्ता की कमर ही टूट गयी। पूर्वी पाकिस्तान अब बंगला देश हो गया।

पाकिस्तान ने जो कुछ भी किया वह चीन से प्रेरित होकर ही किया- लेकिन पाकिस्तान में जो कुछ हो रहा है उसका संचालन या तो पीकिंगवादी लोगों के हाथ में है या प्रतिक्रियावादी लोगों के हाथ में जिसमें भारत के प्रति घृणा ही फैलती जा रही है।

1- इण्डिया टुडे31अक्टूबर 1994, जम्मू-कश्मीर, चुनावी मंशाओं पर तर्फदारी-पृ0 32

2- लाल बहादुर शास्त्री -धर्मयुग - 10 अक्टूबर 1965 -पृ0 8

"हिन्दू गाय को पूजते हैं हम उसे खाते हैं"[1] - यह जिन्ना का विचार है। जिनकी राजनीति ने पाकिस्तान को जन्म दिया। पाकिस्तान हमारे लिए निरन्तर खतरे की चीज रहेगा। क्योंकि यह रूढ़िबद्ध और पुराने मूल्यों पर विश्वास करने वाला है। अपनी पिछड़ी वैचारिक स्थिति के कारण यह कभी भी आधुनिक मूल्यों में विश्वास करने वाला प्रगतिवादी राष्ट्र नहीं हो सकता। यह परस्पर विरोधी तत्वों का ही मिश्रण है क्योंकि यह जमाने की दौड़ में शामिल भी होना चाहता है साथ ही पुरानी रूढ़ियों को छोड़ना भी नहीं चाहता। लगता है कि पाकिस्तान को अन्तर राष्ट्रीय मंचों पर मुंह की खाने की आदत पड़ गयी है। कुछ दिनों पूर्व संयुक्त राष्ट्रकी आम सभा में पाकिस्तान कश्मीर का मुद्दा उठाना चाहता था। इसके लिए उसने भरपूर प्रचार भी किया और समर्थक जुटाने का प्रयास भी। लेकिन समर्थकों के अभाव में वह ऐसा नहीं कर पाया।

"बहरहाल, इस घटना से कोई सबक लिए बगैर पाकिस्तान की जिद्दी कश्मीर नीति ने फरवरी-मार्च 1994 में जिनेवा में हुए संयुक्त राष्ट्र की मानवाधिकार आयोग की बैठक में पंखे फड़फड़ाने के प्रयास किए। इस समय उसने कश्मीर में तथा कथित मानवाधिकार उल्लंघन की डुगडुगी बजायी।"[2] पर यहाँ भी पाकिस्तान को शिकस्त का मुँह देखना पड़ा।

1- दिनमान 30 मार्च 69, पाकिस्तान और हम, पृ0 35

2- माया 15 दिसम्बर 94; पाकिस्तान को एक और मात- पृ0 25

युद्ध के दौरान अहिंसा से अलग हटकर हमने निश्चय ही एक अमूल्य वस्तु-आत्मविश्वास प्राप्त की है। इन तीनों युद्धों में सुरक्षा की दृष्टि से भारत की सबसे बड़ी पूँजी भारत की राष्ट्रभावना, सिद्ध हुई है। इसका मूल आधार साधारण भारतीय जनता के मनों में हिमालय से समुद्र तक फैले हुए सारे देश के सम्बन्ध में वह मातृत्व और अपनत्व का भाव है जो भाषा सम्प्रदाय और जाति-पाँति के भेद से निरपेक्ष है और जिसे भारतीय संस्कृति के सतत् प्रवाह और सांस्कृतिक नेताओं और संगठनों ने शताब्दियों के विदेशी राज्य काल में भी जीवित रखा। दक्षिण के द्रविण मुन्नेत्र कषगमसे लेकर पंजाब के अकाली दल तक सभी भारतीय दलों ने अपने राज-नीतिक मतभेद भूलकर एक स्वर से राष्ट्ररक्षा के कार्य में अपना सहयोग दिया। राष्ट्र की भावना इसी प्रबलता से ही चीनी आक्रमण के समय चीन परस्त कम्युनिस्टों की राष्ट्रविरोधी गतिविधियों पर प्रभावी रोक लग गयी और 1965 एवं 1971 में कम पाकिस्तानी तत्व भी खुलकर पाकिस्तान का खेल नहीं खेल सके। इस प्रकार राष्ट्र चेतना का प्रदर्शन सुरक्षा की दृष्टि से भारतीय शासन और राजनीतिक तथा सांस्कृ-तिक संगठनों का प्रथम कर्तव्य होना चाहिए। इस राष्ट्र चेतना का एकमेव आधार देश भक्ति की भावना है, समाजवाद तथा धर्म निरपेक्षता जैसे थोथे नारों के प्रति आस्था नहीं है।

आत्म विश्वास के बावजूद इतने कम समय में ही तीन तीन युद्धों को झेलना हमारी आर्थिक व्यवस्था की नींव हिला दिया। मँहगाई बढ़ती ही जा रही है, साथ ही अव्यवस्था औरअसुरक्षा की भावना भी।

देश की अनिश्चित धुंधली तस्वीर

देश की राजनीति में आजकल जाति का तूफान हुलन्दियों पर है। अशोभा का ज्वार जाति का यह उभार चुनाव-दर चुनाव बढ़ता जा रहा है, जैसे सारे देश में वैसे मध्य देश में, विशेषकर उत्तर प्रदेश और बिहार में तो जाति की आँधी चल रही है और यह आँधी कब रुकेगी कहा नहीं जा सकता? ये दोनों प्रदेश देश की राजनीति के हृदयप्रदेश हैं। जाति का ज़हर देश की राजनीतिक काया की धमनियों में बहकर-हृदय प्रदेश में भिन्न रहा है।

वर्ण और जाति का बँटवारा द्विज और अद्विज की दो कोटियों में करने की चाल रही है। ऊँची जाति- नीची जाति के पीछे अगड़े-पिछड़े का बोध और व्यवहार ही अधिक रहा है। 1977 के चुनाव के बाद तथा मध्यावधि चुनाव में तथाकथित उच्च और निम्न वर्ण के बीच एक मध्यम वर्ण का उदय हुआ है और राजनीति में यह मध्यम वर्ग असरदार हुआ है। दक्षिण भारत में रेड्डी, कम्मा, मुदालियर, चेट्टी, मेनन, नायर और महाराष्ट्र में मराठों के 96 कुल की तरह उत्तर भारत में अहीर, कुर्मी, कोइरी जैसी मध्यम वर्ग की जातियों का राजनीतिक बोध और व्यवहार में जोर महसूस किया जा सकता है। उत्तर प्रदेश में समाजवादी पार्टी की हाल की सफलता के पीछे पैसे के बल के साथ मध्यम वर्ण की जातियों का बोध और योग स्पष्ट है। इस प्रकार जाति आज की राजनीति का सबसे बड़ा अकेला कारक है। संख्या के संचालन का, वोट संचालन का यह बना बनाया आधार है। मनु महराज की यह हजारों साल की पार्टी है और इनकी सदस्यता जन्म से ही निश्चित है। चुनाव का शंख बजते ही जातियां अपनी अपनी कतार में खड़ी हो जाती हैं।

असंतोष के अजदहे आज प्रत्येक भारतवासी के सीने पर लोट रहे हैं और आ आन्दोलनकारी प्रवृत्तियाँ उसमें घर कर गयी हैं। चाहे वह छोटा हो या बड़ा सभी आन्दोलन कारी के रूप में ही सामने आ रहे हैं। इन आन्दोलनों में सबसे बड़ा हाथ हमारे नवयुवकों अर्थात् छात्र वर्ग का है। सबसे अधिक उग्रता इन्हीं असंतुष्ट छात्रों में ही पायी जाती है। अत: पहले इन्हीं के बारे में विचार कर लेना आवश्यक है।

छात्रों की अलग से अपनी कोई समस्या नहीं है जो समस्या आज पूरे समाज की है लगभग वही समस्याएं सम्पूर्ण छात्रों की भी हैं। आज जो विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं, वह स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् जन्मा है। अपने भविष्य की आशा के प्रति उसे अनास्था, आशंका एवं अनिश्चितता दिखती है। देश की निष्प्रयोजन शिक्षा पद्धति की उपयोगिता पर विद्यार्थी का विश्वास टिकता ही नहीं। स्वतन्त्रता नवीनता के उन्मेष को लेकर नहीं आ सकी। राजनीतिक स्वतन्त्रता मानसिक मुक्ति की प्रतीक नहीं बन पायी है। अपनी भाषा को माध्यम स्वीकारने तथा उसे उपयोगी व समर्थ बनाने में भाई भतीजावाद के कोढ़ से ग्रसित अध्यापक वर्ग कराहता है। इसलिए इन तमाम विसंगतियों को दूर करने के लिए नयी गठित लोकतांत्रिक सरकार से हम चाहेंगे कि स्वस्थ शिक्षा के लिए स्वस्थ व निरपेक्ष वातावरण तैयार किया जाये।

लड़के, विद्यार्थी, युवक अराजक हो उठे हैं और इसका कारण है कि जैसा हम आये दिन चर्चा और बहस करते हैं, सारे समाज में अनेक तरह का भ्रष्टाचार फैला है और किसी तरह के नैतिक मूल्य नहीं रह गए हैं। विद्यार्थियों का आक्रोश समाज की इसी स्थिति की उपज है, प्रतिक्रिया है। ऐसा नहीं कि उनमें किन्हीं मूल्यों का आग्रह है, पर समाज की मूल्यहीनता की उनमें प्रतिक्रिया है। किसके प्रति आदर

किसका अनुशासन, किससे प्रेरणा- उनकी यह समस्या है। देश के बहु चर्चित भ्रष्टाचारों को देख कर उन्हें किसी पर भी आस्था नहीं रह गयी है और विद्यार्थियों ने सारी मर्यादाएं समाप्त कर दी हैं। इन्होंने नंगेपन, मर्यादाहीनता और उच्छृंखलता का ऐसा वातावरण पैदा कर दिया है, जिसमें समाज को बाँधने वाले अन्तवर्ती सूत्रों के छिन्न-भिन्न हो जाने का भय है। करीब करीब प्रत्येक वर्ष ही लड़कों के उपद्रव के कारण विश्वविद्यालय बन्द हो जाते हैं।

हर आन्दोलन की जड़ में "यथास्थिति" के प्रति असंतोष होता है, जब कि आज का विद्यार्थी अपने को बेईमानी, जड़ कानूनों से बंधा हुआ नहीं देखना चाहता, विद्यार्थी को अपने वातावरण से चिढ़ है। घर में अभाव और कालेज में शिक्षक और अपने बीच वह उचित रिश्ता नहीं पाता है। बस यहीं से सारी तोड़ फोड़, पार्टी-बाजी या आन्दोलन बाजी शुरू हो जाती है। इस प्रकार छात्र आन्दोलन न केवल देश व्यापी ही है बल्कि वह अब विश्व व्यापी हो गया है।

यह सत्य है कि साम्प्रदायिकता हमें रोजमर्रा के जीवन में नहीं दिखाई देती। फिर भी दंगे होते ही हैं। साम्प्रदायिकता का चोर सम्भवत: अवसर की तलाश में रहता है। अवसर पाने पर ही अपना कार्य करता है। इन आन्दोलनों का कारण व्यक्ति के चारों ओर लोटते असंतोष के अजगर और अजदहे ही हैं। इससे बचने के लिए वह इन आन्दोलनों की ओर भागता है कि शायद शरण मिल जाए। बहुत कुछ अनिश्चित भोगकर हमारी नई पीढ़ी विक्षुब्ध और क्रांतिकारी हो रही है। क्रांति के मूल में जाने पर पता चलता है कि क्रांति वही लोग करते हैं जो संतुष्ट नहीं हैं। जो जिंदगी को वैसे ही नहीं स्वीकार करते, जैसी वह आज है। क्रांति जीवन में एक गहरी आकांक्षा है- कुछ नया कर गुजरने की तीव्रेच्छा है। भारत की नयी पीढ़ी

को मुल्क एक अनगढ़ पत्थर की भाँति मिला है जिससे नयी पीढ़ी को तराशकर नयी-नयी मूर्तियाँ गढ़नी है। इसके लिए क्रांति आवश्यक है किन्तु इसके लिए कोई अच्छा उद्देश्य और निश्चित दिशा अत्यन्त आवश्यक है।

भ्रामक एकता और स्वार्थपरता

माइकों, सीटों, टिकटों, झण्डों और नारों के चक्कर के बाद भारतीय राजनीति में दल-बदल का चक्कर चला। देश के संसद सदस्यों और विधायकों में पार्टी परिवर्तन की प्रवृत्ति जोरों से बढ़ी। यह दल-बदल दो तरह का हुआ। एक सिद्धान्तों के आधार पर और दूसरा स्वार्थ के आधार पर। जहाँ तक सिद्धान्तों के कारण पार्टी बदलने का प्रश्न था वह अलग चीज थी, परन्तु मौसम के अनुसार जब जिसकी शक्ति बढ़ी उसके अनुकूल दल-परिवर्तन की प्रवृत्ति से देश को कोई फायदा न था और जनता के ऊपर भी इसका बुरा असर पड़ा। लोकतान्त्रिक नीति के लिए भी यह हानिकारक था। इसलिए यह सिक्का चल नहीं सकाऔर दल बदल की सरकारें आयी भी और गयी भी। आगे भी शायद ऐसा ही हो।

आज भारत जिस कगार पर खड़ा है और भारत की आर्थिक और राजनीतिक समस्याएं जिस तरह उलझती जा रही हैं, आवश्यकता इस बात की पहले से भी कहीं अधिक है कि काँग्रेस, जिसके ऊपर अभी भी केन्द्रीय नेतृत्व का उत्तरदायित्व है, सभी राजनैतिक दलों से आग्रह करें कि सब मिलकर देश के प्रजातन्त्र को स्वस्थ रूप से चलाने के लिए एक आचार संहिता बनायें। देश में राजनैतिक परम्पराओं को कायम करने के इस बुनियादी प्रश्न पर इस देश के नेतृत्व को चाहे वह किसी भी दल का

नेतृत्व हो, एक होकर फैसला करना चाहिए।

जब जनसाधारण में उत्थान के प्रति इतना उत्साह और आग्रह था तो बौद्धिकों का तो कहना ही क्या था? अपार उत्साह, अपार प्रगति की आकांक्षा। कुछ नया बोध लाने की तीव्रेच्छा। सन् 50 के कहानीकारों ने प्रचलित रीति त्यागकर नये सिरे से कहानी लेखन का आन्दोलन शुरू किया। साथ ही पुराने कहानी कारों ने इस नवीनता को अपनाने का प्रयत्न किया और समय के साथ चलना चाहा। किन्तु यह सत्य है कि वह अब शिथिल हो चुके थे और सन् 50 के स्वातन्त्र्योत्तर कहानीकारों जैसी ताज़गी और उत्साह उनके पास नहीं था। फिर भी यशपाल, अज्ञेय, जैनेन्द्र आदि बराबर सक्रिय रहे और स्वातन्त्र्योत्तर मूल्यों को उसी भाँति अपनाना चाहा जैसे इस काल के नये उत्साही कहानीकार अपना रहे थे। धर्मवीर भारती, राजेन्द्र यादव, शिव प्रसाद सिंह, मोहन राकेश, मार्कण्डेय, निर्मल वर्मा आदि ने पुरानी रीति से हटकर कहानी की ज़मीन तोड़ी और नये तरह की कहानियाँ लिखीं।

कहानियों के क्षेत्र में ग्रामों का, अंचलों का, हरिजनों का, अस्पृश्यों का और "तुच्छ" का उत्थान हुआ। इन लेखकों की दृष्टि मनुष्य को उसके परिवेश में ही अन्वेषित करने की तथा विश्व मानवतावादी एवं कल्याणकारी रही। शिल्प के क्षेत्र में भी नए-नए प्रयोग हुए। भाषा के नये नये रूप सामने आए।

देश के बौद्धिकों ने वर्तमान कालीन स्थिति को समझा और चाहे वह कविता के क्षेत्र में ही क्यों न थे उन्होंने कहा-" आज का संकट यह है कि जहाँ पुराने मूल्यों पर आस्था नहीं रह गयी है वहाँ नये मूल्यों का कल्याणकारी रूप - उभर कर सामने नहीं आया है। समाज को इस बात की अपेक्षा साहित्यकारों से है कि इन मूल्यों को निरूपित करें और जीवन में आस्था जागृत करें।"[1]

स्वतन्त्रता के पूर्व "भाग्यवाद" का सहारा लेकर सदियों तक भारत ने गुलामी शोषण और दमन की यातनाएं झेली थीं। अंग्रेजों के सामने अपने को "हीन" समझते रहे थे। उन्होंने अब अपने सांस्कृतिक वैशिष्ट्य को समझा और जातीय अस्तित्व और भविष्य में अपनी आस्था को मिटने से बचाया। अब अपना भाग्य बदलने का उल्लास पैदा हुआ था। आज़ादी ने इसकी संभावना उत्पन्न कर दी थी। राष्ट्र में एक नयी लहर उमड़ी थी- "परम्परा के द्रोह और अपने अतीत से विच्छेद का तात्पर्य अपने औपनिवेशिक अतीत से, जो केवल आर्थिक-सामाजिक सम्बन्धों में ही ताने- बाने की तरह बुना हुआ नहीं था, बल्कि बौद्धिक चेतना, भाव-बोध और संवेदना को भी अपने रंग में रंग चुका था, विच्छेद करके साहित्य, कला, दर्शन, समाज व्यवस्था, अर्थ तन्त्र अर्थात् जीवन के हर क्षेत्र में ऐसे विश्व-चेतस, किन्तु राष्ट्रीय, अफ्रीकी, भारतीय या अरब व्यक्तित्व की खोज और प्रतिफलन था, जिसकी जड़ें अपने जातीय इतिहास की ह्रासोन्मुखी सामंती परम्परा में नहीं बल्कि मानववादी परम्परा में हों लेकिन जो ज्ञान, विज्ञान और तक्नीक की आधुनिकतम उपलब्धियों को आत्मसात् करके प्रगतिशील मानवता के साथ भविष्योन्मुखी हो सके।"[1]

रवीन्द्रनाथ ठाकुर के समय से यह प्रश्न हमारे सामने था कि अंग्रेजी प्रभुत्व के बावजूद विश्व मानस के साथ, मौलिक चिन्तन और सृजन के स्तर पर, सम्पर्क कैसे स्थापित किया जाये? ऐसा सम्पर्क जिसमें दाता-भिक्षुक का सम्बन्ध न हो, बल्कि ऐसा बराबरी का सम्बन्ध हो, जिसमें हमारे सृजन और चिन्तन का नवनीत पश्चिम भी उसी मुक्त हृदय से ग्रहण करे जिस तरह हम पश्चिम के चिन्तन और सृजन को ग्रहण करते आये थे। अब हम समूची विश्वसंस्कृति को अपने विशिष्ट योगदान से समृद्ध करना चाहते थे।

हमारे यहाँ एक ओर गांधी और अहिंसा की धूम थी, एक ओर रक्त में राष्ट्रीयता और मानवतावादी चेतना बह रही थी, एक ओर समाजवाद का नारा लग रहा था, एक ओर विचारों में कामू और सार्त्र का अस्तित्ववादी दर्शन तैर रहा था- यास्पर्स, मार्सेल, नीत्से आदि के नाम भी वातावरण में गूंज रहे थे। मार्क्सवाद और प्रगतिवाद का आन्दोलन भी अपने चरमोत्कर्ष पर था। निरन्तर बदलता हुआ जीवन था। नयी नयी माँगे थीं- माँगे जो भौतिक भी थीं और आत्मिक भी। मनुष्य का गतिशील, आत्म-सजग, सक्रिय मनन-चिंतन और उद्भावना ही इनका उत्तर दे सकती थी।

भारत में 1936 में प्रगतिशील लेखक संघ का अधिवेशन हुआ। संघ के घोषणा पत्र में कहा गया था-- "हमारा समाज जो नया रूप धारण कर रहा है, उसको साहित्य में प्रतिबिम्बित करना और वैज्ञानिक युक्तिवाद को साहित्य में प्रतिष्ठा करना, प्रगतिशील चिन्ता धारा को साहित्य में लेगवती करना- यही हमारे लेखकों का कर्त्तव्य है।[1]

लोग परम्परा को बस उतनी ही सीमा तक अपनाना चाहते थे जहाँ तक वह रूढ़ि न बन जाए- "गति या प्रवाह परम्परा का आवश्यक गुण है। जहाँ गति नहीं है, प्रवाह नहीं है, वहाँ सड़न है। उसी को रूढ़ि कहते हैं।"[2] और लोग गतिरोध नहीं बस गति चाहते थे। शायद केवल प्रगति?

भारतीय मानस में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए। एक नया आशावाद, एक

1- डा० जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव (सं०) छायापथ-पृ० 24
2- अमृत राय आलोचना, जून 55, पृ० 23

नया उल्लास, एकता और विश्व बंधुत्व की भावना। हमारी संस्कृति के निर्माता लेखक, कलाकार, शिक्षक बिना किसी सरकारी आदेश या हस्तक्षेप के स्वयं अपने अनुभूत उल्लास के लोगों में इन परिवर्तनों और जीवन लक्ष्यों की कल्पना जगाना चाहते थे।

पुराने साहित्य की कोरी कल्पनाओं और मुक्त उड़ान को बकवास मानकर यह दावा किया गया कि आज का मनुष्य चरित्रहीन भी है, लघु भी। इसलिए साहित्य में मात्र, "हीरो", उदात्त, वीर अथवा आदर्श पुरुष का चित्रण व्यर्थ है। आज के हीरो अथवा "पात्र" केवल ऐसे निरीह मानव ही हो सकते हैं जो पैदा होते हैं केवल जीवन पर्यन्त पीड़ा झेलते हुए अन्ततः मर जाने को। हर व्यक्ति किसी महत्वपूर्ण लक्ष्य की पूर्ति के लिए नहीं जीता। ऐसे लक्ष्य हीन और पीड़ित, लघु मनुष्यों का कोई उदात्त जीवनादर्श नहीं हो सकता था। यह सब कुछ सहन करते हुए चुपचाप समाप्त हो जाते थे। ऐसे व्यक्तियों को पात्र बनाकर स्वातन्त्र्योत्तर कहानीकारों ने रूढ़िबद्ध समाज के समक्ष सचमुच अपने साहस का परिचय दिया।

स्वतन्त्रता के पूर्व प्रतिष्ठित कहानीकारों की रचना प्रक्रिया स्वातन्त्र्योत्तर काल मेंभी जारी रही है। इसी के समानान्तर स्वातन्त्र्योत्तर कहानीकारों की रचना प्रक्रिया भी प्रारम्भ हो चुकी थी और धर्मवीर भारती, राजेन्द्र यादव, निर्मल वर्मा, मोहन राकेश, फणीश्वर नाथ रेणु, अमरकान्त, शिवप्रसाद सिंह, मार्कण्डेय, शेखर जोशी, नरेश मेहता तथा रामकुमार आदि प्रकाश में आ चुके थे। उन्होंने स्वातन्त्र्योत्तर समाज के विभिन्न स्तरों का स्पर्श किया और अनेक प्रभावशाली कहानियां लिखीं।

कांग्रेस शासन असफल ही रहा था। गैर कांग्रेसी सरकारों से भी लोगों

को निराशा हुई थी। सभी ओर स्वार्थ था, लोलुपता थी। "गांधी" को मूल्यहीन समझकर उपेक्षित किया जा रहा था और लोकतन्त्र का विघटन होता गया। औद्योगीकरण की नीति ने व्यक्ति को मशीन और गांवों को फैशन परस्त बना दिया। बेकारी और निर्धनता से लोगों का पीछा नहीं छुटा। राष्ट्रीय भ्रष्टाचार खुले आम हो रहा था- ऐसे में समाज का अराजक हो जाना तथा मोहभंग की स्थिति बहुत ही स्वाभाविक थी। "अपने" और "स्वदेश" के प्रति लोगों का मोह समाप्त हो गया और लोग यूरोप की आधुनिकता में ही कल्याण देखने लगे थे। फ्रायडवाद व्यक्ति व्यक्ति में घुस आया था और मोहभंग के बाद व्यक्ति को अति यथार्थ परक बना रहा था। और "अति" हर चीज़ की बुरी होती है।

इन सारे संकटों का प्रभाव "व्यक्ति" के ऊपर काफी भारी पड़ा और वह अपनी जड़ों से उखड़ गया। स्वातन्त्र्योत्तर बुद्धिजीवी वर्ग का एक खासा बड़ा हिस्सा उखड़े हुए लोगों का ही है। ऐसे लोगों की जड़ें अब "भारतीय" जीवन में नहीं हैं। ऐसे ही लोग अब चिल्लाने लगे थे कि - "सामयिक संसार कहीं नहीं है। इसका कोई अस्तित्व नहीं है।"[1] अर्थात् यदि वर्तमान संसार नहीं है तो सामयिक मनुष्य के अस्तित्व की कल्पना ही हम कैसे कर सकते हैं? और वर्तमान कहीं कुछ भी नहीं है- जो कुछ है वह अतीत है और भविष्य है तो वर्तमान में जीते मनुष्य के बहुत निराश और उखड़ जाने की बात बहुत स्वाभाविक है। और कुछ न कुछ होना ; "उखड़ जाना" तथा अपने आप से पूछना - यह बहुत ही भयावह और दुस्तर सिद्ध हुआ।

प्रसिद्ध दार्शनिक सुकरात ने कहा है - "शास्त्र और धर्म ग्रन्थों का सहारा खोखले लोग लेते हैं, प्रबुद्ध व्यक्ति का एक मात्र सहारा विवेक है। छुटकारा यह

1- एजरा पाउण्ड-धर्मयुग 6 जून 1965-पृ0 10

मुक्ति कहीं है तो वह ज्ञान द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। जो लोग सत्ता के समक्ष मस्तक झुकाते हैं या राजनीति को व्यक्ति से अधिक महत्वपूर्ण समझते हैं; वे दयनीय हैं- मनुष्य को अपने आप को जानना होगा कि वह क्या है? क्यों है? और उसका हित किसमें है, कब और किस प्रकार वह अपना और औरों का भला सोच सकता है, कर सकता है। जिस में दार्शनिक, चिन्तक अथवा सत्यान्वेषी के लिए स्थान नहीं है, वह डूब जायेगा।[1] व्यक्ति अब ऐसी ऊँची आवाजें भूल गया था और बस अपने उखड़ जाने का दर्द सह रहा था। वह देख रहा था कि सब तरफ मोह भंग हो गया है और "घर के बाहर कुछ है, और घर के भीतर कुछ।" वह कहीं भी अपने को स्वतन्त्र नहीं पाता था-- "आदमी मानो "ब्रेक" का बंडल बन गया था।"

शिवप्रसाद सिंह की "बीच की दीवार" में लेखक की दृष्टि परिवार के भीतर के अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों की ओर विशेष रही है। पारिवारिक विघटन- दो भाइयों के पुश्तैनी आंगन के बीच एक दीवार उठ जाती है। इस दीवार के कारण लेखक को सम्बन्धगत जटिलताओं को पकड़ने में अधिक सतर्क रहना पड़ा है। यह "बीच की दीवार" "ट्रेजिक टैंसन" के तीखे दर्द से अनुप्राणित है, और इस बहुत तीखे दर्द, टैंशन को, बीच की दीवार को तोड़ने के लिए डा० शिवप्रसाद सिंह बराबर प्रयत्न शील रहते हैं, और अंततः यह दीवार टूट जाती है।

लहरी बाबू पारिवारिक अनुशासन भूलकर भावुकता में आकर सम्मिलित परिवार से अलग हो जाते हैं। यह सब भूल कर कि वह जो कुछ भी थे, उसी परिवार की बदौलत उसी के द्वारा निर्मित थे, यह लहरी बाबू स्वातन्त्र्योत्तर नयी पीढ़ी की भाँति ही उत्तरदायित्व हीन है, फिल्मी गाने गाते हैं, अपार

स्वतन्त्रता चाहते हैं और घर के भीतर माँ और पत्नी के दुःख से इनका कोई वास्ता नहीं होता। अब उत्तरदायित्व हीन विपुल स्वतन्त्रता लहरी बाबू के पास है- किन्तु न तो उनके पास खेती के लिए बैल हैं, न खाने को अनाज है और न ही बीमार पत्नी की दवा के लिए पैसे। ऐसे दुःख के समय फिर वही बड़े भाई, जिन्हें लहरी कसाई समझते थे काम आते हैं। इन्हीं बड़े भाई के अस्तित्व को लहरी अपनी स्वतन्त्रता में बाधा पाते थे और उसी अस्तित्व को नकारने के लिए वह इनसे अलग हो गये थे। और अंत में लहरी बाबू स्वयं ही अपने द्वारा उठायी गयी यह बीच की दीवार तोड़ देते हैं।

नयी पीढ़ी के उत्तरदायित्वहीन होने की बात तो कहानी में है ही, साथ ही यह भी ध्वनित होता है कि अपनी इस विपुल स्वतन्त्रता का "उपयोग" करना भी उसे नहीं आता। जब तब यह नयी- नासमझ पीढ़ी -अपने इर्द गिर्द एक दीवार खड़ी कर लेती है- और जिसे बरसों की अनुभवी पुरानी पीढ़ी ही गिरा पाती है। पुरानी पीढ़ी भी अपेक्षणीय नहीं है। पुरानी पीढ़ी के सार्थक अनुभवों को श्रद्धा की दृष्टि से देखा गया है और इस पुरानी पीढ़ी को भी डा० शिवप्रसाद सिंह की उतनी ही सहानुभूति मिली है, जितनी कि नयी पीढ़ी को। लहरी बाबू स्वातन्त्र्योत्तर उत्तरदायित्वहीन, फैशनपरस्त नयी पीढ़ी के जीवन्त प्रतीक हैं।

कहानी का वातावरण बहुत सजीव है। सारे उपकरण जीते हुए लगते हैं- तालाब, चाँचे के अण्डे, सांप, मेंढक, बैल, मदरसा, रेल, गाँव का प्लेटफार्म, पैली की फसलें, "हेंगवारी"- सभी कुछ कहानी को जीवन्त बनाते हैं। बचपन का चित्रण तो बहुत ही सजीव है, और उससे लेखक के अपने बचपन में लौट सकने की अपूर्व क्षमता का एहसास होता है।

"खेरा पीपल कभी न डोले" में यह बीच की दीवार टूट-टूट कर भी बनती रहती है। "वशीकरण" और "शाखामृग" में यह दीवार फिर टूट जाती है। "बरगद का पेड़" में दुहरी कहानी की शैली है।

"सुबह के बादल" कहानी चाहे रात में पढ़ी जाये किन्तु फिर भी उस वक्त भी मन पर देहाती सुबह का माहौल छा जायेगा। एक ऐसी सुबह जो घरों के कडुए धुएं, गलियों की चीख-पुकार, बैलों की दौड़-धूम, सौंधी माटी की महक और गरीबी की आहत भावनाओं में डूबी डूबी होती है। "सुबह के बादल" पराजित विद्रोह और धरती की गंध की कहानी है। देश तो आजाद हो गया। स्वतन्त्रता का सूरज तो निकला, पर भारत के करीब सात लाख गाँवों के ऊपर इस नयी भोर में भी काले काले बादलों के साये मंडराते रहे। दीनू का बाप उन लाखों किसानों में से एक था, जो रोजमर्रा की मामूली जिन्दगी की जरूरतों को जुटा पाने में असमर्थ होकर बीवी, बच्चे, माता-पिता और उसके ऊपर धरती की ममता छोड़कर शहर में जा रहे हैं।

दीनू की पीढ़ी जो स्वतन्त्र भारत में जन्मी है, अनजाने ही विद्रोही है। बड़े बूढ़ों, नामी गिरामी लोगों को लंघी मारना ही उनका सबसे दिलचस्प कारनामा है। वह भी यही करता है। वह घूरेलाल जैसे वयोवृद्ध वैद्य को बिलावजह कांग्रेस का दलाल कहकर चिढ़ाता है। सुदामी पासिन को खिजाता है कि "तुम्हारे लिए नए बांस की टिकटी बनेगी या पुराने की।" हरिया के मुँह में सुअर का थोथम देखता है, बैल की पूंछ मरोड़कर "रेस" कराता है, पर जब बैल दुलत्ती झाड़कर उसे गिरा देता देता है तो अपनी झेंप मिटाने के लिए - "बदरा बंगाले से आये" का तराना छेड़ देता है। उसका चुलबुलापन देखकर डाकिया कहता है कि "लड़का है कि चरखी है, कभी तो कल से रहता। जैसे कम्बख्त के पैर में कोई जोड़ ही नहीं है, बस कुलाचे मारा करता है।"

... पर ये ... परिस्थितियों की चपेट में ऐसा पिसता है

कि उसका खिलंदड़ापन मासूम आँसुओं में बिखर जाता है। पूरी कहानी उसकी शरारत, दरिद्रता की विवशता, परिस्थितियों की घुटन और कोमल मन की आर्द्र संवेदनाओं से घिरी हुई है। जिन क्षणों में दीनू पराजित होता है, अपने आप को इनकार करता है, उसका नन्हा सा विद्रोह परिस्थितियों में उलझकर विदीर्ण हो जाता है- ऐसे क्षण बड़े आर्द्र हैं और अनायास ही हमारी सारी सहानुभूति छीन लेते हैं। दरिद्रता के शिकंजे में तुड़-मुड़ जाने वाले ग्रामीणों को ही कहानीकार ने अपना लक्ष्य बनाया है। कहानी का हर पात्र निर्धन है। साथ ही वह सरल भी है और हृदय का धनी भी।

बड़ी बारीक सी संवेदनाएं पूरी कहानी में गुंथी हुई हैं- बाल मन की अधीरता और अस्थिरता। मुंशी जी को आम की गुठली पर फिसलते देख कर दीनू अपने मानसिक घात-प्रतिघातों, सारी उलझनों को भूलकर, जी खोलकर खिलखिला पड़ता है। क्योंकि यह उसी नटखट दीनू की ही "कुसली" थी जिसने मुंशी जी को "धोबियापाट, धड़ाम गिरा दिया था। डा० नामवर सिंह ने लिखा है कि "यहाँ आम की कुसली ही जिन्दगी की किसी कठिन गाँठ की प्रतीक बन जाती है।"[1] यह प्रतीक परिवेश की ऐसी स्वाभाविक उपज है कि इसके पीछे सायास प्रतीकीकरण बिल्कुल ही नहीं झलकता।

कहानी के अंत में बादल फट जाते हैं, और निखरी हुई सुबह चारों ओर छिटक जाती है। दीनू का खोया आत्मविश्वास पुन: लौट आता है वह "खिल-खिला कर कूदा- "कहो मुंशी जी ह: ह: ह:··· कहता था न कि पैर पड़ा नहीं कि बस लगा धोबियापाट और गिरे धड़ाम।"-- दीनू तालियां पीटकर ठहाका लगाये जा रहा था।" --"निश्चय प्रसन्नता यहाँ जबरदस्त आस्था से जुड़ी है।"[2]

1- डा० नामवर सिंह- कहानी: नयी कहानी-पृ० 43

2- डा० बच्चन सिंह -समकालीन हिन्दी साहित्य:आलोचना को चुनौती,पृ० 117

दीनू की हँसी मन में आस्था लाती है। वह जीवन के प्रति हमें आश्वस्त बनाती है कि मनुष्य -जीवन में कोई एक संजीवनी शक्ति भी है, जो निरन्तर प्रतिकूलताओं तथा अपार टूटन के बाद भी उसे जीने की प्रेरणा दिया करती है, और मनुष्य को अर्थहीन नहीं बनने देती। किन्तु इन सबके बावजूद दीनू की समस्याओं का कोई हल नहीं निकलता लेखक मिथ्या भविष्य के सुनहरे स्वप्नों के पैबन्द नहीं लगाता। इस तरह की उदास आस्था की भी अपनी एक अलग रंगत होती है।

....

"तीर्थोदक" (कुमरी" 1959) कहानी सामाजिक रूढ़ियों पर प्रहार की कहानी है। "पंचलाइट" और "सिरपंचमी का सगुन" दोनों कहानियों की "थीम" भी सशक्त है और शिल्प में तो खैर रेणु जी माहिर ही हैं। "ठेस" कहानी भावुकता से ओतप्रोत है और अन्त में वही आदर्शवादी परिणति है।

"रसप्रिया" में "विदापत" गाने वाले नर्तकों का जीवन पूरे सामाजिक संदर्भों में मार्मिक ढंग से अभिव्यक्त हुआ है। रेणु की "तीसरी कसम" और "टेबुल" में नारी जीवन के विभिन्न स्तरों का नवीन परिप्रेक्ष्य में चित्रण हुआ है। "पंचलाइट" तथा "तीसरी कसम" आधुनिक राजनीतिक संदर्भों के साथ मनुष्य जीवन के संघर्ष और समस्याओं को व्यक्त करने में पूर्णतया सफल है।

....

"सतह की बातें" कहानी में मार्कण्डेय ने सतहजीवी व्यक्तियों का चित्रण किया है, जो काफी हाउस में बैठकर प्रेम पर फर्राटे के साथ बड़े-बड़े फतवे देते हैं और प्रेम को एक प्याली काफी जैसा ही समझते हैं। इस कहानी के अन्दर एक और कहानी उभरती है, जिसका नायक स्वयं अपनी प्रेयसी की राय में हमेशा

जीता है। किन्तु थोड़े गहरे में जाकर हम पाते हैं कि इस तथाकथित सतह जीती व्यक्ति का आचरण भी कई सतहें लिए हुए है और काफी जटिल है। उस पर निर्णय नहीं लिया जा सकता। अत: लेखक भी कहानी को यथातथ्य रूप में रच करके बिना किसी टीका-टिप्पणी के बस, चुप रहता है।

"दूध और दवा" {1959} में जीवन के छोटे-छोटे पहलु और छोटी -छोटी अनुभूतियाँ ही आज के परिवार की "भीतरी स्थितियों को उजागर करने में पूर्ण सक्षम है। अनुभव निजी है ~~फिर भी कहानी में लेखक "निजता" से ऊपर निजी है~~ फिर भी कहानी में लेखक "निजता" से ऊपर उठ गया है। फलत: स्वातन्त्र्योत्तर भारत के हर मध्य वर्गीय परिवार के आर्थिक कठिनाइयों के बीच जूझते हुए स्वरूप को हम इस कहानी में देख सकते हैं। घर में बच्ची की आँखों की दवा के लिए और दूध के पैसे नहीं हैं, पत्नी असमय ही "बूढ़ी" हो चली है और नायक इन सब विषमताओं से बचने का एकमात्र उपाय यह निकाल लेता है कि प्रेमिका के सीने के बीच, मुलायम उजलेदेह-भाग में अपना मुंह डालकर सब कुछ भूल जाए। लेखक इस बात की तह में जाकर भी पूछता है कि -" मैं समझ नहीं पाता कि स्त्रियां और मजदूर मालिकों को क्यों ओढ़े हुए हैं, महज इतनी सी बात के लिए या मुन्नी की आँखों के मांड़े की दवा या उसके दूध के लिए।"[1] सबकुछ समझकर लेखक जब यह प्रश्न उछालता है तो लगता है कि बस "तूल" दे रहा है। हाँ, अनुभूति की प्रखरता अवश्य ही कहानी के कलात्मक रचत्व में एक निखार लाती है। मजदूर पेट के लिए मिल मालिकों को ओढ़ते हैं और स्त्रियों को अपने बच्चों के दूध और दवा के लिए पतियों को

1- मार्कण्डेय- दूध और दवा - एक दुनिया: समानान्तर- {सं0} राजेन्द्र यादव-पृ0 154

ओढ़ना पड़ता है। इसे ही तुलनात्मक रूप से कहकर लेखक ने अपनी बात के प्रभाव को गहराना चाहा है।

मार्कण्डेय की "माही" [1962] कहानी को उपेन्द्रनाथ अश्क बस, फैशन के अधीन मानते हैं।"[1] किन्तु कहानी में जीवन संघर्ष करते, परिस्थितियों से जूझते हुए पात्रों का विश्लेषण सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक संदर्भों में हुआ है।

"खून का रिश्ता" [1960] में निर्धन, विकलांग किन्तु सगे सम्बन्धी की सज्जा, आव-भगत फिर तलाशी और भर्त्सना। अर्थात् खून के रिश्ते के अपमान की करुण कथा रक्त सम्बन्ध पर व्यंग्य भी है और वेदनापूर्ण प्रहार भी। पारिवारिक मोहबंध, नारीत्व पतित्व का द्वन्द्व और राग वृद्धि सत्य इसमें सविशेष उजागर हुआ है।

"माता-विमाता" [1962] में रागात्मकता का उद्घाटन एक बच्चे और दो औरतों के बीच जिस ढंग से हुआ है, वह पुराना है लेकिन "सेंचुएशन" के निर्माण में सफल होने के कारण कहानी में गहन संस्पर्श है। जैसे "खून का रिश्ता" में संवेदना का केन्द्रीभूत पात्र मंगलसेन है, जो सम्बन्धों से छूटने की नियति भोगते हुए निस्संग नहीं होना चाहता। सम्बन्धों के प्रति वह समर्पित अवश्य है, किन्तु जिस बिन्दु पर जाकर वह टिकता है वहाँ समाज की विस्थापित स्थितियों का भय बहुत अधिक है

चाहे "पास-फेल" [1961] हो, चाहे "सिफारिशी चिट्ठी" अथवा "सुनहरी किरण" इन सबका मूल आग्रह यथार्थ पर ही है। भीष्म साहनी के चरित्र गढ़े हुए नहीं लगते। इनके व्यवहार में असलियत होती है और प्रतीतियों का संदर्भ तो वास्तविक

1- उपेन्द्रनाथ अश्क - हिन्दी कहानियाँ और फैशन - पृ0 49

है ही। किन्तु इनकी कहानियों में स्थूलता कथ्य और शिल्प दोनों ही क्षेत्रों में होती है। इसी से इनकी कहानियों में सहजता बराबर बनी रहती है- कहीं क्षीण नहीं होने पाती।

"इन्द्रजाल" इनकी सशक्त रचना है। इसे पढ़कर स्पष्ट लगता है कि भीष्म की मानव-प्रकृति निर्दय अध्येता है। "इन्द्रजाल" के मुख्य पात्र की जिजीविषा अविस्मरणीय है। इतना गम्भीर पात्रान्वेषण देखने में आता है। लगता है कि आवेग अनुभव की मिट्टी में तपकर खरा सोना बन गया है।

"इन्द्रजाल" मानवीय उद्दाम जीवनेच्छा की कहानी है। रामलाल का संत्रास, कोई अपरिचित अथवा व्यक्तिपरक संत्रास नहीं है। यह प्रत्येक बीमार व्यक्ति का संत्रास है। व्यक्ति-सम्पर्कों के भावात्मक परिवर्तन की ओर संकेत है। डाक्टर ने बताया है कि रामलाल एक माह से अधिक नहीं जियेगा तो उसकी पत्नी सोचती है-.........मुर्दे के मुँह में फूलों का रस उड़ेलने से क्या लाभ? क्यों नहीं मैं अपने बेटे को रस दिया करूँ जिसकी जवान हड्डियों को रस की जरूरत है।........"उसके घर के अन्य लोग अपना हिसाब-किताब अलग बैठाते हैं--- "अगर मरना इन तीन महीनों में हो जाए तो रामलाल पूरी तनख्वाह लेता हुआ मरेगा। अगर इन तीन महीनों के अन्दर मरता नहीं हो तो तनख्वाह आधी रह जायेगी, और सरकारी बंगला भी छोड़ना होगा।" यथार्थ जितना भयंकर है, निश्चित ही उसका उद्घाटन भी उतनने ही भयंकर ढंग से हुआ है।

....

"दहलीज" {1958} में कथ्य का स्वरूप रोमैंटिक है, जो दो बहनों के रिक्त जीवन से सम्बद्ध है। इसमें चित्र अस्पष्ट किन्तु तरल है और रोमैंटिक वातावरण

भली भाँति तैयार करते हैं। म्नी जैली और शम्मी भाई सभी एक विचित्र उदासी और करुणा उत्पन्न करते हैं। बहन-बहन का अजनबीपन इसमें चित्रित है। कहानी में बस स्पन्दन ही स्पन्दन है- "ग्रामोफोन के घूमते हुए तवे पर फूल पत्तियाँ उग आती हैं, एक आवाज़ उन्हें अपने नरम, नंगे हाथों से पकड़कर हवा में बिखेर देती है, संगीत के सुर झाड़ियों में हवा से खेलते हैं, घास के नीचे सोयीहुई भूरी मिट्टी पर तितली का नन्हा सा दिल धड़कता है......मिट्टी और घास के बीच हवा का घोंसला काँपता है.... काँपता है...।"[1] ऐसे सजीव चित्र मन में संवेदन जगा जाते हैं।

"माया-दर्पण"(1959) में पिता-पुत्री के बीच के अजनबीपन के चित्रण, उन्हीं आत्मपरक संदर्भों में ही हुआ है।

"लवर्स"(1959) भी अब पहले की भाँति भावुक, सरल और आसान नहीं रह गये हैं। इसमें बिंदी के विफल प्रेम की कथा है। इस कहानी में जीवन तो छूट गया है, रह गया है बस जीवन का अर्थ ही अर्थ है। किन्तु कमलेश्वर के अनुसार-" यह अपने परिवेश में सांसालेते आदमी की कहानी है अस्तित्व को झेलते और उसे प्रभावित करते और उसमें ही विघटित होते आदमी की कहानी है।"[2] "लवर्स" कैसे इतने निरपेक्ष-प्रेमियों में बदल गये- निर्मल वर्मा ने इसे बहुत ही गहरे जा कर समझा है

1- निर्मल वर्मा- जलती झाड़ी-पृ0 97

2- कमलेश्वर - नयी कहानी की भूमिका-पृ0 26

प्रेम के बीच भी निरपेक्षिता, तटस्थता, स्वातन्त्र्योत्तर शिक्षा-दीक्षा और टूटते हुए मूल्यों का ही परिणाम है।

"परिन्दे" (1960) बहुत ही "सेनिसटिव" चरित्र पेश करती है। इसमें ऐसे रेशमी ताने-बाने का वातावरण है जो मोहमय तो है ही, साथ ही उतना ही अर्थ प्रद भी है। "भाव विशेष" की "सूक्ष्मता" को इतनी सम्पूर्णता, सक्षमता और कलात्मक से चित्रित करने वाली यह पहली हिन्दी कहानी है। पूरी कहानी में जैसे एक संगीत ही संगीत बिखरा हुआ लगता है- पहाड़ के पीछे से आते हुए पक्षियों के झुण्ड को देखकर लतिका सोचती है- "क्या वे सब प्रतीक्षा कर रहे हैं? कहाँ के लिए, हम कहा जायेंगे? प्रश्न मामूली है किन्तु मात्र कहानी के माहौल में वह सिर्फ पक्षियों का या लतिका का व्यक्तिगत प्रश्न नहीं रह जाता। लतिका, डाक्टर मुकर्जी और मि0 ह्य ह्यूबर्ट से तो इसका सम्बन्ध है ही, साथ ही और सबसे भी है। और देखते ही देखते यह प्रेम कहानी मानव नियति की व्यापक कहानी बन जाती है। जलती

"जलती झाड़ी" पूरी की पूरी कहानी एक संकेत है। वैयक्तिक चेतना ही इ इसमें प्रतीकात्मक शैली में मूर्त हुई है। चिंतन के धरातल पर ही इसकी रचना हुई है।

"कुत्ते की मौत" (1961) और "लंदन की एक रात" (1962) इन दोनों ही कहानियों के "टेम्पो" पहली कहानियों अर्थात् "परिन्दे" जैसी कहानियों से पृथक है। सूक्ष्मता की दृष्टि से ये दोनों कहानियाँ कहीं अधिक गहरी और कहीं अधिक अर्थवान हैं।

निर्मल वर्मा की कहानियाँ दर असल चित्र का एक टुकड़ा हो सकती हैं, सम्पूर्ण चित्र नहीं । वह आधुनिकता के संत्रास को ही अधिक चित्रित करते हैं। "कुत्ते की मौत" इसी प्रकार की कहानी है।इसमें मृत्यु की पीड़ा का संत्रास बहुत

गहरे उतर कर चित्रित किया गया है। मृत्यु को आज का व्यक्ति "वस्त्रों का का बदलना मात्र" नहीं मान पाता और इसीलिए मृत्यु का इतना संत्रास उसे भोगना पड़ता है।

"कुत्ते की मौत" में लुसी की मृत्यु की संभावना शीर्षक से ही हो जाती है। लगता है कहानी नहीं किसी व्यक्ति की डायरी हमारे सामने खुल गयी है। हर पात्र ने कुछ न कुछ खोया है और उस खोने को वह ब्योरेवार भी रखना चाहता है, अर्थात् फिर वही अतीत से उलझने की समस्या आ जाती है- "·······बाबू के रजिस्टर में सब कुछ लिखा होता है, वह एक हल्की सी टीस छोड़ जाता है।" फिर नीतिन भाई का एक विचार- "लुसी की मृत्यु के बाद अचानक वे सोच बैठते हैं, मैं जो सबसे पहले यहाँ यानि इस परिवार में आया था, आखिर तक यहीं रहूँगा। एक ऐसा सजेशन है जो खुद पाठक को उस स्थिति में डाल देता है, जहाँ उसे गति और जीवन में व्यर्थता मालूम पड़ती है। सारी बात "मृत्यु" की थीम लेकर कही गयी है। ऐसा लगता है जैसे -"कुत्ते की मौत" मोनोलाग है।

"लंदन की एक रात" कहानी कुछ-कुछ भ्रमण और बाकी जैसे स्वप्न या बीती हुई वार्ता की एक धुंधली स्मृति-श्रृंखला रह जाती है। इसमें बेकार दोस्तों के मेल का अजीब किस्सा नहीं है, शायद यह बहुत कम है, लेकिन यह "बेकारी" बिल्कुल अर्थहीन भी नहीं है। बाकी कुछ ऐसा है जो "भूली हुई" स्थिति में किया गया लगता है। इस कहानी में एक रात की सीमा है, जिसमें हम संस्मरण के साथ बहते हैं और अंततः एक कहानी प्राप्त कर लेते हैं। इसके अनुभव विचित्र हैं।

"लंदन की एक रात " में आधुनिकता, उसकी चीख और टेरर चित्रित है। इसमें केवल "लीविंग" और रंगभेद की भावभूमि ही नहीं है, इसकी केन्द्रीय

भावभूमि-आधुनिक युग की विवशता, हार, लाचारी, और चीख को बहुत ही तीखे ढंग से व्यक्त किया गया है। जीवन की आन्तरिक लय और यह लय कब-कब टूट जाती है- इसे ही अभिव्यक्त करती है और निर्मल वर्मा के विषय में यह कहा जा सकता है कि "इनका तन्त्र अपवर्त्यात्मक प्रकाश-वृत्तों (मलटी पुल फोकसिंग) का तन्त्र है।"[1]

जीवन की अनिश्चितता, घुटन, चीख व्यर्थता, भेद-भाव, बेगानापन आदि अनेक सूत्र इस कहानी में पिरोये हुए हैं। "राटर" कोई एक व्यक्ति ही नहीं है, सबके सब लोग "राटर" हैं "ब्लडी-बास्टर्ड" हैं। जीवन के छोटे-छोटे टुकड़ों के जैसे स्नैप लिए गए हैं। अनेकानेक दृश्यों को, अनुभूत सत्यों को यहाँ एकत्र किया गया है, जिनमें से कुछ का अपना प्रतीकात्मक महत्व है। इस कहानी का परिवेश अभारतीय है।

"लंदन की एक रात" का संसार बहुत अधिक भयावह है। यहाँ भय साकार हो उठता है। यह भय अन्तर्राष्ट्रीय संकट और आतंक से उत्पन्न है। नीग्रो छात्र-जार्ज लंदन में रहना चाहता है। अन्तरराष्ट्रीय नागरिक बन सकने की उसमें क्षमता है। जब उसका साथी विली पूछता है- " क्या वापस घर जाओगे?" -"घर" ? नीग्रो छात्र जार्ज के स्वर में एक सूना-सा खोखलापन उभर आया, मानों "घर" शब्द बहुत विचित्र हो, जैसे उसने पहली बार उसे सुना हो, "मैं चाहता था यहीं रहूँ लेकिन वे हमें चाहते नहीं।"

1- डा0 बच्चन सिंह - समकालीन हिन्दी साहित्य: आलोचना को चुनौती-पृ0 113

"----वे······ आह।" - विली ने कहा।

रंगभेद, लीचिंग सामाजिक शक्तियों के इस अन्याय को रोक सकने की असमर्थता, फासिज्म के अंकुर आदि "अन्तरराष्ट्रीय टेरर" ही इस कहानी में मुर्तिमान हुआ है।

"लंदन की एक रात" हिन्दी में केवल यही एक विरल आधुनिक कहानी इस लिए लगी है कि- "इसमें बढ़ते हुए फासिस्ट खतरे को व्यक्त किया गया है, और इतिहास में नयी भूमिका अदा करने वाले नये आज़ाद मुल्कों की मूक चेतना को वाणी दी है।"[1] किन्तु यह कहानी का एक स्वर है, मूल स्वर कदापि नहीं है, मूल स्वर तो वही अन्तत: आधुनिक व्यक्ति की घुटन और उसकी उदासी, भीतरी चीख और भय ही है।

मात्र "पेट की भूख" और "सेक्स की भूख" भी इस कहानी के आधारभूत मूल्य नहीं हैं। जार्ज, विली, और "नेरेटर" ने अपना अपना देश इसलिए छोड़ा है कि वे देश के लोगों और अन्य चीजों से बच सकें। किन्तु लंदन में वह सुरक्षा की खोज में अपने को और अधिक अरक्षित पाते हैं। लंदन यहाँ स्थिति की विडम्बना और अरक्षा का प्रतीक बना हुआ है जो सारे विश्व के महानगरों की अरक्षा हमारे सामने स्पष्ट कर देता है।

इन व्यक्तियों के लिए लंदन में रहना कोई अर्थ नहीं रखता। ये एक दूसरे से टूटकर अपनी -अपनी राह लेने के लिए विवश हैं। जार्ज ट्यूब से चला जाता है। विली अलग हो जाता है। और नेरेटर प्लेटफार्म पर बैठा रह जाता है। इस दुनियाँ

1- डा० नामवर सिंह- नयी कहानियाँ, पृ० 118 (अप्रैल 1965)

में विली का पूरा नाम कोई महत्व नहीं रखता, नेरेटर जेल जाने से बच गया है और जार्ज एक और महायुद्ध इसलिए चाहता है कि इसके बाद वाले आदमी को गोरी औरतें मिलेंगी।

विली आज जीना चाहता है, कल पर उसका विश्वास नहीं है। यह अरक्षा का परिणाम है। नीग्रो को चुनकर लिंच करने का संकेत बहुत स्पष्ट है। और इतनी सारी चीजें लंदन की सिर्फ एक रात अपने में समेटे हुए है। यह कलागत संयम और कलात्मक रचाव तो निर्मल वर्मा का जन्मजात स्वभाव ही है। इस कहानी की अपनी एक अलग लय है जो आज के बिखराव को अपने में बांधे हुए है। मात्र लंदन का परिवेश चित्रित होते हुए भी इस कहानी ने हर देश के परिवेश को ध्वनित किया है। वहाँ की अरक्षा और "भय" को पकड़ा है। अत: इस कहानी पर अभारतीयता का आरोप लगाना अपनी आलोचना-दृष्टि को संकीर्ण ही करना है।

"तलवार पंच हजारी" (1959) में भी एक बेगाना-पन और फ्रस्ट्रेशन चित्रित है। सूक्ष्म राग-बोध (माइनरसेन्सिबिलिटीज) के प्रति एक सजगता के साथ साथ प्रतिहिंसालु दृष्टि भी आज के आत्मचेतन व्यक्ति में अधिक दिखायी देती है। अतीत के प्रति कटुता और भविष्य हीनता का एहसास व्यक्ति को तीव्रता के साथ मथता है............... और अंतत: व्यक्ति को लगता है कि अतीत की तलवार को कोई मूठ तक कलेजे में धंसा कर उसे बेमानी मरने के लिए छोड़ देता है।

"अभिमन्यु की आत्म हत्या" (1959) में एक निरीह अभिमन्यु है जो रोज आत्महत्या करके वापस लौट आता है। प्रतीक-संकेत पद्धति का ही कहानी में प्रयोग हुआ है। समीक्षक के अनुसार- "............. जिसमें आत्महत्या का वहम् लेखक को जाने किन किन लोकों की सैर कराता है। शहरजाद और अलिफलैला के मध्ययुगीन

रोमांस से यादव का दिमाग अक्सर ग्रस्त दिखाई पड़ता है। यह भी एक वहम् ही है- कहानी कला सम्बन्धी वहम्। कठिनाई सिर्फ इतनी है कि वहम् से पैदा होने वाली फैन्टेसी" कला नहीं बल्कि कला का वहम पैदा करती है।"[1]

इस कहानी में प्रतीक पद्धति का आश्रय लेकर एक व्यक्ति की वर्षगांठ पर आत्महत्या के उसके असफल संकल्प को चित्रित किया गया है। इस स्थिति को गहराने के लिए कैलाश सुभद्रा का प्रसंग तैयार किया गया है। इसके मूल में व्यक्ति-चिन्तन की ही जीवन-दृष्टि है जो पति-पत्नी के सम्बन्ध को वैयक्तिक स्तर पर उठाकर उसे सामाजिक दिशा में जाने से रोकती है। अभिमन्यु चक्रव्यूह से जीवित निकल तो आता है, किन्तु उसके इस प्रकार निकलने में स्वाभाविकता नहीं, विवशता ध्वनित होती है। यह विवशता द्वन्द्व की स्थिति की द्योतक है।

कथ्य यहाँ बोध गम्य नहीं रहा। जो लेखक कहना चाहता था शायद वह कहा नहीं जा सका। कहानी की अंतिम पंक्ति है- "वह मेरी आत्मा की लाश थी"। किन्तु इसके विपरीत कहानी के अन्त में हम आत्मा की लाश नहीं, अंत में हम पाते हैं कि नायक सजीव आत्मा को अपने कंधे पर रखे वापस लौट आता है।

"नये नये आने वाले" (1960) में जीवन के नये-नये मूल्य बड़े उत्साह, आस्था और विश्वास के साथ खड़े किये जाते हैं, किन्तु शीघ्र ही जिन्हें वातावरण का अजगर निगल लेता है।

1- डा० नामवर सिंह -कहानी: नयी कहानी-पृ0 106

"छोटे-छोटे ताजमहल" [1969] में - "वस्तुत: परम्परागत मुर्दा प्यार के बड़े ताजमहल के साये में जाने कितने "छोटे-छोटे ताजमहल" बिखर जाते हैं।"[1] यह जीवन की त्रासदी है, जो आज के संदर्भ में स्पष्ट हुई है। "अपनी "छोटे-छोटे ताजमहल" को अधिक आधुनिक कहना चाहूँगा, क्योंकि वह संवेदनाओं के महत्व को "धीरत" के विलक्षणत्व से मंडित नहीं करती। वह संवेदनाओं और वास्तविकता के अनेक स्तरों को ज्यों का त्यों स्वीकार करके, उनकी एक दूसरे के आर-पार जा सकने की प्रवृत्ति, प्रभावित कर सकने या परिवेष्ठित करने की स्थिति को प्रस्तुत करती है। ताजमहल का प्रतीक भी किसी तर्क के रूप में पेश नहीं किया गया।"[2] यह पुरूष और नारी में खिंचाव और दुराव के क्षण की कहानी है। मीरा और विजय में यह सब कुछ ताजमहल की छाया में होता है। जहाँ दोनों मिले थे और बिना कुछ कहे लौट आये थे। इस खिंचाव और दुराव को और अधिक पुष्ट करने के लिए इसी कहानी में दूसरी कहानी को बुना गया है। - मित्रदेव और राका की कहानी। इनकी कहानी भी प्रणय की मृत्यु की है। इसके विपरीत यादव ने प्रतीक के रूप में ताजमहल को लिया है जो कि एक रोमांटिक संकेत और भावुकता का प्रतीक है। इससे गंभीरता की स्थिति का एहसास नहीं होता।

1- राजेन्द्र यादव - एक दुनिया: समानान्तर- पृ0 35

2- वही, पृ0 53

यह आशंका सही ही है कि इसतरह का "मुरदा-भोगवाद" या अनुभूतिवादी दृष्टिकोण क्या हिन्दी कहानी को अमरीकी कथा साहित्य की राह पर तो नहीं ले जायेगा- और अंत में कहानी के बारे में "बाहर से सुन्दर और भीतर से प्राणहीन शव। छोटे-छोटे ताजमहल।"[1] कहानी की कमजोरी यह नहीं खोजी जा सकती कि विजय और मीरा में निर्णय लेने का साहस क्यों नहीं है? अथवा ताजमहल के वातावरण का चित्रण इतना विशद और काव्यात्मक क्यों किया गया? दरअसल हमें यह देखना है कि प्रतीक कहानी की रचना प्रक्रिया का अभिन्न अंग न होकर विपरीत अर्थ देता, आरोपित जान पड़ता है। इस प्रतीक का प्रयोग संवेदना के धरातल पर नहीं, चिन्तन के धरातल पर ही हुआ है। फलत: मन की बहुत अधिक उधेड़बुन को लेखक ठीक से नहीं अभिव्यक्त कर सका है जब कि लेखक का कहना है कि इसने --- "थीम को अधिक से अधिक यथार्थग्राही, प्रभावशाली बनाने के लिए कहानी ने कहीं कविता की वातावरण निर्माण क्षमता ली है, तो कहीं संगीत की सूक्ष्मलयात्मकता, कहीं चित्रकार के घुले मिले बिम्ब प्रतीक के लिए हैं तो कहीं स्थापत्य की संतुलित घनता।"[2]

किन्तु इसके बावजूद कहानी का कथानक इतना छोटा और सीमित है कि वह कहानी के पहले पैराग्राफ में ही समा जाता है--" यह बात न मीरा ने उठायी, न खुद उसने। मिलने से पहले जरूर दोनों को लगा था कि कोई बहुत जरूरी बात है

1- डा० नामवर सिंह -कहानी: नयी कहानी-पृ० 16।

2- राजेन्द्र यादव- एक दुनिया: समानान्तर-पृ० 156-157

जि पर दोनों को बातें कर लेनी है लेकिन हर क्षण उसी बात की आशंका में उसे टटोलते रहे। बात गले तक आ-आ कर रह गयी कि एक बार फिर वह मीरा से पूछे -क्या इस परिचय को स्थायी रूप नहीं दिया जा सकता? लेकिन कहीं पहले की तरह फिर उसे बुरा लगा तो? उसके बाद दोनों में कितना खिंचाव और दुराव आ गया था।"[1] बस कहानी इसी खिंचाव और दुराव के क्षण की ही है।

निश्चय करके आने पर भी विजय ने मीरा से इसलिए विवाह का प्रस्ताव नहीं किया कि उसने अपनी आँखों से एक सप्तवर्षीय वैवाहिक जीवन को विछन्न होते हुए देखा था। इस दूसरी कहानी से यादव पहली कहानी का कारण स्पष्ट कर देते हैं और इसतरह विजय और मीरा एक दोपहर को ताजमहल की छाया में मिले और अपनी-अपनी विकृत खाम ख्याली के कारण लगभग बिना बात किये ही वापस लौट आए। प्रेम की परिणति स्थायी सम्बन्ध में नहीं हो पाती। यह मात्र एक वैयक्तिक बात है और कोई भी स्वस्थ सामाजिक संदर्भ उजागर नहीं करती। सारे संदर्भ बस आत्मपरक ही है। मीरा और विजय भी "एण्टी हीरोइक" हैं और एक दूसरे के प्रति भलीभाँति समर्पित न होने के कारण धीरे धीरे एक दूसरे से अपरिचित ही होते जाते हैं। विवाह न कर सकने की बात मात्र वैयक्तिक स्तर पर चित्रित की गयी है।

"पुराने नाले पर बना नया फ्लैट" {1961} की यह चरमोत्कर्ष की पंक्तियाँ हैं-- "यह घुटन, यह बदबू, सब मेरे ही कारण है। अगर मैं "वह" होती तो सभी कुछ कितना साफ सुथरा होता। .... आज शायद हवा इधर की ही है, बड़ी बदबू आ रही है, यह बदबू भी बड़ी अजीब सी है, बड़ी सड़ी सी ....जैसे

1- राजेन्द्र यादव -एक दुनिया: समानान्तर-पृ0 157

संदूक के पीछे कभी चूहा मर जाता है तो बदबू आती है , वैसी ही गंध है।"[1] और यही आधुनिकता की सड़ान पूरी कहानी में भरी हुई है। इसी लिए लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने कहा है-- "इस कहानी में प्रेम और अस्तित्व के उन्मूलन की समस्या का आत्मपरक सम्बन्धों में चित्रण हुआ है"।[2] इसमें समष्टिपरक चेतना का अभाव है और लेखक कोई स्वस्थ चेतना देने में असमर्थ ही रहता है।

"प्रतीक्षा" [1962] कहानी को तीन-तीन स्तरों पर चलाने का प्रयत्न है- एक स्तर नंदा और गीता का, दूसरा स्तर नंदा और हर्ष का और तीसरा स्तर गीता और हर्ष का। लेखक के अनुसार इसका कारण है- "हर भाव और भावना के सूत्र और रेशे, व्यक्ति तथा परिवेश के भीतर बहुत दूरी और गहराई में समाये, एक दूसरे से बहुत अधिक गुंथे और उलझे हुए लगते हैं। इस जटिलता के कारण आज की कहानी लेखक के अनुसार उपन्यास के अधिक निकट पड़ती है। आज की अधिकांश कहानियाँ ऐसी हैं।"[3] यह कहानी काम कुण्ठा को जिस स्तर पर स्पष्ट करती है, वह व्यक्ति सीमित दृष्टिकोण के अनुकूल है। इसमें स्वस्थ चिंतन नहीं, कुंठित व्यक्ति की दिशाएं स्पष्ट होती हैं, जो जीवन के अंधेरे को और बढ़ाती हैं। यह भी व्यक्ति चेतना की कहानी है।

"प्रतीक्षा मित्रों" मरजानी की भाँति लघु उपन्यासों की श्रेणी में गिनी जाती है। जैसे--"एक पति के नोट्स" पहले कहानी के रूप में छपी तत्पश्चात्- इसे लघु

1- राजेन्द्र यादव-लहर-नयी कहानी विशेषांक, पृ0 22।

2- डा0 लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय-आधुनिक कहानी का परिपार्श्व, पृ0 113

3- राजेन्द्र यादव-किनारे से किनारे तक ,पृ0 17

उपन्यास के रूप में छापना पड़ा। प्रतीक्षा एक विशेष मनःस्थिति की कहानी है। इसका हर पात्र दुहरी जिन्दगी जीता है और अपने अवसर की प्रतीक्षा में रहता है। लेकिन सबकी यातना आशंका, तनाव और अकेलेपन की पीड़ा गीता हीभोगती है। नंदा के प्रति उसका आकर्षण, प्रेम और उसके विविध स्तर, उसके अन्तर्विरोध और अन्तर्द्वन्द्व को ही बताते हैं। एक ओर उसकी समलैंगिक प्रवृत्ति है, दूसरी ओर वह सपत्नी भाव जगाती है और तीसरी ओर तृप्ति का एक तन्मय सुख की अनुभूति दे जाती है। एक ओर अतीत उसे क्योटता है और दूसरी ओर वर्तमान की आशंका से संत्रस्त है। वह कभी नंदा से तादात्म्य स्थापित करती है। और कभी उसके प्रेमी हर्ष से। कभी अपने ही अकेलेपन की पीड़ा भोगती हुई बैठती है। किन्तु गीता की यह ट्रेजडीमनोविश्लेषण के प्रयोगों वाली "केस-हिस्ट्री" से आगे जाती है और नये "सेक्सुअल" और नैतिक मूल्यों की खोज करती है। राजेन्द्र यादव के अनुसार यह सिहरी प्रतीक्षा की कहानी नहीं है- बल्कि पुराने सारे मोरल इन्हीं बीकन्स से निकलकर एक ऐसे बिन्दु पर खड़े लोगों की कहानी है, जो अनजाने ही किसी नए नैतिक धरातल की खोज में आकुल है। कहानी के तीनों पात्रों में से किन्हीं दो पात्रों के सम्बन्ध नैतिक नहीं है और उन्हें लेकर कोई "गिल्ट" या "सिन" की अनुभूति उनमें नहीं है बल्कि ऊपर से देखने पर तीनों ही निहायत व्यक्तिगत स्वार्थ दृष्टि से अपने-अपने अवसर की प्रतीक्षा में है। "मूल्यों के विघटन या "मोरल-डिस्मोरल" से आगे मूल्यहीन या अमोरल धरातल पर खड़े अनावृत हैं। यह नैतिक संक्रमण से उत्पन्न एक "वैक्युम" में एक नैतिक धरातल की प्रतीक्षा की कहानी है।

किन्तु गीता और नंदा का अनेक बार रो रोकर कहानी को गीला करना तो असंगत जान पड़ता है।"[1] यह नारी मनोविज्ञान के अनुरूप तो अवश्य है किन्तु कहानी के कलात्मक पक्ष को दुर्बल बना देता है।

नंदा को बीच में लाकर स्वयं पीछे हो जाता है और गीता के मन में निहित मौन कुंठाओं के सारे स्वर नन्दा के प्रति उसकी मानसिक आसक्ति और आकुलता के संकेतों द्वारा उद्घाटित कर देता है। नन्दा और हर्ष के उन्मुक्त प्रेम व्यवहार और तन्मय विसर्जन को देखकर गीता के मन में ईर्ष्या नहीं, गहरी तृप्ति का अनुभव होता है। इससे गीता के मन की अधिक गहरी मौन कुंठा का परिचय प्राप्त होता है। गीता नंदा के प्रति अपनी ईर्ष्या को दमित रखती है। इसके दो कारण हैं--
"एक तो गीता नंदा को उसकी सम्पूर्णता में प्यार करती है और दूसरे ईर्ष्या व्यक्त करके वह नंदा को खोना नहीं चाहती, नंदा का चरित्र वस्तुतः गीता के चरित्र की कुण्ठाओं के चित्रण के लिए साधन है। नंदा और गीता के परस्पर, प्रेमोन्मत्त व्यवहार प्रतिक्रियाओं में मनोवैज्ञानिक संकेत हैं। मनोवैज्ञानिकता के आवेश या उत्साह में इस कहानी को समलिंगी प्रेम की कहानी भी माना गया है, जो कि निर्मूल है और डा० बच्चन सिंह के अनुसार यह कहानी मनोवैज्ञानिक केस पर आधारित है और इसमें व्यक्ति मानसिक आपरेशन से चिपचिपाती जीवन-दृष्टि मिलती है।"[2] किन्तु शिल्प के प्रति यादव इस कहानी में अत्यधिक जागृत रहे हैं।

"रोशनी कहाँ है" के बिल्लों के जीवन में आर्थिक सीमाजन्य अनेक तनाव हैं। उसे उनका पर्याप्त ज्ञान भी है। किन्तु उसका मर्म इस समय खुलता है जब निगम और

1- डा० इन्द्रनाथ मदान-हिन्दी कहानी-पृ० 125
2- डा० बच्चन सिंह -"नयी कहानी संदर्भ और प्रकृति- [सं०] देवीशंकर अवस्थी" पृ० 225

जसवन्त किशोरी की चादर के दस रुपये डकार जाने की चेष्टा में लगे हैं। दूसरों की कठिनाइयाँ हल करने वाला बिस्सी अपनी कठिनाइयों के लिए कोई हल नहीं ढूँढ पाता- "दो चाचों से रुपये निकलवा लेने की सारी प्रसन्नता और किशोरी को बचाकर सहायता करने का सारा बड़प्पन जैसे एक झटके में उड़ गया। बिस्सी बाबू एकदम सुस्त हो गया। अम्मा के प्रति आज का व्यवहार । "...............
परिस्थितियों के भीतर तनाव का यह सहज मर्म पात्र की भावना के स्तर पर खुलते हुए भी अनुभव सामान्य बन जाता है।

"नीली झील" §1960§ पढ़ते वक्त लगता है जैसे नीली झील ही आस-पास बहती है। कमलेश्वर की अधिकांश कहानियाँ परिवेशीय अभिव्यक्ति पहले है; कहानियाँ बाद में।

"नीली झील " एक साथ ही जीवन और सौन्दर्य, के वास्तविक धरातलों पर फलीभूत होती है और अपने आप में एक प्रतीक बन जाती है। यह विषय और रूप के साथ ही कमलेश्वर की कहानियों में एक सम्पूर्ण चेतना के संक्रमण की द्योतक हैं। वातावरण का आप्लावन कारी, अभिभूत कर देने वाला चित्रण है। वातावरण की बारीकी से बारीक उदास धड़कने पोर पोर में उतर जाती हैं और सौन्दर्य की एक अतृप्त प्यास अपना सब कुछ देकर किसी अतीत के क्षण में वर्तमान का तादात्म्य स्थापित कर जुड़े रहने का मोह नीली झील में मूर्त है।

इसमें महेश पाण्डे की एक भूख है- अनाम सी भूख। शायद शारीरिक, लेकिन वस्तुतः वह सौन्दर्य की भूख है जिसकी रक्षा के लिए वह लोगों को धोखा तक देता है। उनके रुपये हजम कर जाता है- और इस सौन्दर्य में मानवीय ही नहीं, एक मानवेतर व्यापक करुणा का सौन्दर्य है- नीली झील वस्तुतः इसी का प्रतीक है। वातावरण की इतनी अधिक सम्पृक्ति हिन्दी की और किसी कहानी में कम

मिलती है। इसमें वस्तु सत्य की चिन्ता नहीं की गयी है। अनुभूति की वास्त-विकता और विषय की तथ्यात्मकता भी नगण्य है। इसमें बस एक ही सौन्दर्यानुभूति है जो सारी कहानी में फैली है। "कहानी के ताने-बेटे में कविता के धागों को बुना गया है।"[1] वातावरण के हल्के से हल्के स्पंदन, अवसाद और उल्लास के परस्पर मिले घुले रंग......गोली की टूटती आवाजें.... पक्षियों के कातर शोर की गूँज.... परों के फड़फड़ाने का हल्का-हल्का स्वर तक मूर्त हो उठा है। यह बहुत ही संवेद प्रकृति और अत्यन्त तीक्ष्ण निरीक्षण शक्ति की द्योतक है। इसमें सौन्दर्य के धरातल पर चेतना का एक सूक्ष्म संक्रमण मिलता है। महेश की वह अनाम सी भूख नीली झील की मखमली नीली लहरों में झलकती है।

"एक थी विमला" (1962) एक साधारण कहानी है जो बहुत ही असाधारणता से कही गयी है। इस कहानी में एक सा ही जीवन जीने वाली चार लड़कियों का चित्रण थोड़ी भावुकता से किया गया है। ये चार लड़कियाँ सब उपदेशात्मक आदर्शवाद के चार सूत्रों जैसी मालूम पड़ती हैं।

"खोयी हुई दिशाएँ" (1962) आधुनिकता के बेगानेपन को उससे उत्पन्न गहन अवसाद को उकेरती है और व्यक्ति को सर्वत्र से काटकर अकेला बना देती है। इसमें ट्रेजिक जीवन अपने शहर के विरोध में पूर्ण व्यथा के साथ उभरता है। इसमें आस्था या मूल्य के प्रति कहीं आग्रह नहीं है- फिर भी पूरी कहानी खोयी हुई दिशाओं में दशा-विशेष-अपने पन का- जबरदस्त संकेत देती है- यह "राजा निरबं-सिया को भी पीछे छोड़ देती है।"[2] इस कहानी से कमलेश्वर के कथा -विकास की

1- डा० इन्द्रनाथ मदान- हिन्दी कहानी-पृ० 120

2- डा० बच्चन सिंह -समकालीन हिन्दी साहित्य व आलोचना को चुनौती-पृ० 115

सहज उपलब्धि का पर्यवेक्षण सम्भव हो सकता है। महानगर के जीवन के बहुत सहज और अनुभूत चित्र पहली बार ही इस कहानी में उपस्थित किए जा सके हैं। दिशा भ्रमित व्यक्ति की दिशा पाने की आकुलता का दर्द इसमें साकार हुआ है। महानगरों की "लिमुएशन" ने - एक अकेली गहराई और नयी व्याख्या इस कहानी में प्राप्त की। महानगरों में "पड़ोसियों के आने जाने की सूचना - जली सिगरेट की राख, तीली के टुकड़ों, डबल रोटी के रैपर और छिलकों से प्राप्त की जाती है- यह चित्रण सारी बातें ध्वनित कर देता है कि- कहीं आत्मीयता नहीं है, कोई पड़ोसी अपना नहीं है और सर्वत्र एक टूटता अकेलापन ही महानगरों में व्यक्ति की नियति बन गया है।

इस कहानी में आकुलता है, पीड़ा है जो कभी सीधे व्यक्त होती है और कभी तीखे अथवा करुण व्यंग्य के माध्यम से। हर कहीं अस्वीकृति का एक मूल दर्द है, बेगानापन, किन्तु फिर भी इस कहानी में कुण्ठा कहीं नहीं है। यह कुंठा का विरोध करती है, अनास्था से दूर इसमें आस्था का आग्रह है।

कमलेश्वर के पास कहने के लिए या तो तीक्ष्ण व्यंग्य है या फिर बहुत गहरी करुणा। जिन्दगी के थम जाने की वेदना और महान नगरों में करुणा के अभाव में करुणा इनके पास बहुत अधिक है। किन्तु "खोयी हुई दिशाएं" और "एक थी विमला " कहानियाँ उस दबाव से निकलने का प्रयास है जो लेखक को विवश करती हैं कि उसकी अभिव्यक्तियाँ या तो व्यंग्यात्मक हो या करुणा। ये कहानियाँ सार्थक स्थलों की तलाश हैं- ऐसे सवालों की जो आज जिन्दगी के झूठे पड़ जाने के संदर्भ में, संवेदनशील व्यक्ति के अपने परिवेश से कुछ हद तक स्वयं अपने आप से कट जाने के संदर्भ में कुछ सार्थक संकेत दे सकें। "दु:ख भरी दुनिया" [1962] और

"पीला गुलाब" का स्वरकरुणा का ही है। "दु:ख भरी दुनियाँ" में कस्बे का मोह बना हुआ है।

"मवाली" {1958} में उस लड़के के जीवन का एक अंश चित्रित है, जो कमीज पहने तफरीह वालों के सामान की मवाल गिरी करता है। किन्तु जिस पर चोरी का झूठा आरोप लगाया जाता है और अंत में वह अपने नपुंसक आक्रोश को सागर की लहरों पर पत्थर मार कर ही व्यक्त कर पाता है।

"परमात्मा का कुत्ता" {1958} में पाकिस्तान में विस्थापित एक किसान "भौंक-भौंक"कर अफसरों को अपने प्रति न्याय का व्यवहार करने के लिए बाध्य कर देता है। जब तक वह चुप साधे रहा और शिष्टाचार से काम लेता रहा, तब तक उसका कुछ न बन सका। अब "बेहयाई" की हजार बरकत मानकर वह अपने उद्देश्य में सफल हो जाता है। इस प्रकार भगवान् के कुत्ते ने गतिहीन स्थिति को "भौंक-भौंक" कर गतिशील बना दिया। कहानी के अंत में दफ्तर के जड़ अथवा मशीनी जीवन का संकेत इस स्थिति को गहराता है और वातावरण की सृष्टि करता है। इसमें निष्क्रियता को क्रियाशीलता से पराजित दिखाया गया है। एक अखबार बेचनेवाला अपने धन को तब तक हक हलाल का पैसा मानता है जब तक उसकी क्रीत पत्नी घर से भागकर घर को लौट नहीं आती है।

"अपरिचित" {1957} में जीवन की विडम्बना लक्षित होती है कि जो नारी बहुत परिचित है, वही अपरिचित लगने लगती है। और जो अपरिचित है वही परिचित बन जाती है। परिचय का इसमें यह "नया" सूक्ष्म और गहन बोध है।

"आर्द्रा" {1958} में माँ की ममता को दो पुत्रों के बीच-इधर-उधर बंटते दिखाया गया है। और इसे गहराने के लिए लेखक ने मादा सुअर और उसके

बच्चों से खिलौने प्रतीक का उपयोग किया है। छ: बच्चों वाली मादा सुअर का "हुँफ-हुँफ" की आवाज़ तथा उसके ऊपर चमकते हुए नक्षत्रों का संकेत अस्पष्ट-सा है। वस्तुत: इस कहानी में उम्र के साथ मिटते हुए बुजुर्गों का ही चित्र है। माता-पिता के प्रतिनयी पीढ़ी का क्रमश: बदलता हुआ स्वर भी इसमें चित्रित है। अन्त में माँ हर हालत में कपूत (आर्थिकदृष्टि से हीन) पुत्र का साथ देती है। बड़े भाई अर्थात् वकील साहब बदलते हुए मानवीय सम्बन्धों, और आधुनिकता से उत्पन्न व्यस्तता और यान्त्रिकता को उभारने में पर्याप्त सहायक सिद्ध होते हैं।

"आखिरी सामान" (1958) में आधुनिक युग की विभीषिका और नारी का सामाजिक शोषण चित्रित है- अंत में पत्नी ही "आखिरी सामान" बन कर रह जाती है। प्रतीक बहुत सरल है। पति उन्नति के लिए पत्नी को घर के सामान के रूप में आँकता है।

"मिस पाल" (1959) में खाली डिब्बे एक बेशोर आवाज़ में नायिका के हाथों बजाते हैं। व्यर्थता-बोध किंचित रोमानी धरातल पर और नए लेखकों के लिए नगण्य नारी के माध्यम से किया गया है। "मिस पाल" किसी को पा लेने के लिए, चिर प्रतीक्षित घर बना लेने के लिए ललकती रहती है। "मिस पाल" बच्चों को देखकर कहती हैं- "कितने खूबसूरत हैं, हैं न," बच्चे उस पर हंस रहे हैं, चिढ़ा रहे हैं- "यह औरत नहीं, मर्द है।" मिस पाल को इस बात से तनिक भी दु:ख नहीं होता । वह आफिस छोड़ कर चली जाती है क्योंकि लोग सभ्य नहीं हैं। वह चित्रकारी करती हैं- वह भी उसे संतोष नहीं दे पाती। यह नारी होते हुए भी तीन दिनों की बासी सब्जी और रोटियां खाती हैं और फिर भी समझती हैं कि वह "कुछ" है। जबकि होती वह नियति की विडम्बना भर है। यह एक अस्वस्थ नारी के रिक्त

जीवन का चित्रण है। सूने हृदय को किसी सार्थक चीज से नहीं -सूने उपकरणों से ही भरने का प्रयास है। इसका संकेत तब मिलता है जब वह बिना बुलाए अपने अतिथि को बस-अड्डे तक पहुँचाने जाती है और उसके दोनों हाथों में बिस्कुट के दो खाली डिब्बे होते हैं-- बिल्कुल इन्हीं डिब्बों - जैसी ही मिस पाल भी "खाली" होती हैं-- "मिस पाल" के इस कुंठित जीवन का चित्रण वैयक्तिक स्तरपर हुआ है जो कि मोहन राकेश की कहानी का दूसरा पहलू है। लेखक ने यहाँ सर्वथा नए प्रकार के चरित्र की सृष्टि की है। ऐसे काल्पनिक चरित्रों की सृष्टि करते समय और कुछ नहीं लेखक का अपना ही जीवन इसके मूल में होता है। मिस पाल एक बहुत अस्वस्थ चरित्र है- बार -बार एकांत में लौट जाती है, अतिथि से कट जाने की कोशिश करती है, जो लड़कियों के खुसर-फुसर से उसके आदमी या औरत होने के संदेह का संकेत मिलता है- अस्त-व्यस्त जीवन को इस कहानी में अनावश्यक विस्तार मिला है। "मिस पाल के एक-एक चीज़ टटोलने, सलवार-कमीज़ को उठा-उठा कर देखने, से कमीज की सीवनों के खुल जाने के विवरण में लेखक ने असंयम से काम लिया।"[1] "मिस पाल" का चेहरा खुद विकृत है, फिर भी वह विकृत चेहरों की ही तस्वीरें उतारती हैं। इस प्रकार अन्तत: यह एक विकृत चरित्र की विकृत अभिव्यक्ति मात्र बनकर ही रह जाती है।" "मिस पाल" का असली दु:ख नहीं होता -- इसी लिए हमें छूता भी नहीं। प्रतीकों की आयोजना आरोपित एवं अप्रामाणिक है अत: प्रसंगगत परिवेश एवं बेतुकी असामान्य

1- डा0 इन्द्रनाथ मदान -हिन्दी कहानी ,पृ0 117 ।

परिस्थितियों को उभार कर चुप हो जाती है। प्रतीक का व्यामोह आदि से लेकर अन्त तक देखा जा सकता है। और इतनी सारी बनावट के बावजूद कहानी "मिस पाल" के व्यक्तित्व के अनुरूप छोटी रह जाती है।

"बस स्टैण्ड की एक रात" {1961} में सामाजिक विषमता को एक परिस्थिति के चित्रण द्वारा गहराया गया है। माध्यम सर्दी की रात में धधकते कोयले की अंगीठी है, जिस पर बस के मैनेजर का अधिकार है और जिसका कुली आदि उपयोग नहीं कर सकते। जीवन की उष्णता समाज के सम्पन्न लोग ही भोग सकते हैं और विपन्न लोगों का बस शीत में ठिठुरते मरना ही अधिकार है। इस कहानी में हास्य का भी हल्का-सा पुट मिल जाता है।

"एक और जिन्दगी "{1962" में पति अपनी पहली पत्नी से तलाक लेकर दूसरी शादी कर लेता है और दूसरी पत्नी को मानसिक रोग से ग्रस्त पाता है और अंत में यह अकेला व्यक्ति पाता है कि इतनी भरी दुनिया में उसका साथी मात्र एक कुत्ता है। यह कहानी भी वैयक्तिक चेतना से अनुप्राणित है। पहली पत्नी में व्यक्तित्व की स्वतन्त्रता की चाह थी जिसे पति स्वीकार नहीं कर पाता। अंत में "प्रकाश" ग़लत निर्णय का फल भोगता है और एक अंतहीन तथा समाधानहीन जीवन जीता रहता है। "एक और जिन्दगी" की खोज करता रहता है जो कि उसके असमर्थित, एवं कहीं न टिकने वाले स्वभाव के कारण कभी भी प्राप्त नहीं हो सकती।

....

" यही सच है" {1960} में नारी के आज के नैतिक मूल्यों में जो मूलभूत अन्तर आ गया है वही चित्रित है और इस कहानी का वातावरण इतना सजीव है कि पाठक उसे पढ़ता नहीं है, जीता है। इसमें प्रेम का वह रूप है जो व्यक्ति की चेतना को पूरी तरह से घेर लेता है, जो उन्माद की स्थिति को उत्पन्न करके उसके

जीवन को संचालित करने लगता है। इसी प्रेम में न तो भावुकता जैसा सस्तापन है, और न ही आदर्शवाद का पुट और न ही कोई काल्पनिक प्रलापन। इसमें मात्र ईमानदारी है। इसमें एक लड़की के अन्तर्द्वन्द्व की कथा है जो अपने प्रथम प्रणय से निराश होकर किसी दूसरे व्यक्ति से प्रेम करने लगती है। इस प्रेम में वह अपने को पूर्ण समर्पित कर देने की इच्छा रखती है। किन्तु प्रथम प्रणय की मधुर यादें उसे दूसरे प्रणय को भोगने में कुछ व्यवधान पहुँचाती हैं। संजय और निशीथ के प्रेम में अन्तर भी है। जब उसकी निशीथ से फिर भेंट होती है तो वह उसी तरह विभोर हो जाती है। वह उसके लिए सब कुछ कर सकता है किन्तु उसके प्रेम का प्रतिदान नहीं दे पाता। इससे उपेक्षा का आभास पाकर दीपा संजय के आलिंगनों में प्यार ढूँढती है। संजय के सामने हाने पर उसे लगता है--यही सच है। नारी के जीवन को यहाँ वैयक्तिक धरातल पर प्रस्तुत किया गया है। वैसे नारी इसमें अपनी पूरी गरिमा, देह-सम्पदा, और बेहद ईमानदारी से सामने आयी है। दीपा की आन्तरिक द्विविधा में एक कलात्मक रचाव है। इस वैयक्तिक- "दो" के बीच बह जाने की द्विविधा को पूरे साक्ष्य के साथ उभारा गया है। अभिव्यक्ति बहुत ही आत्मीय और सहज है। स्पष्ट है मन्नू अपने पात्रों के साथ बहुत ही आत्मीय होती है। पुराने प्रेम के त्रिकोण को मन्नू ने इसमें नये ढंग से उठाया है। दीपा की दुखती रग मन्नू के हाथ लग जाती है। "यही सच है" के संदर्भ में डा० बच्चन सिंह का कहना है कि -- "क्या नारी सेक्स है? न इससे ज्यादा न इससे कम। क्या मन्नु जी इससे सहमत है कि नारी एक जाति होती है, व्यक्ति नहीं"?[1] किन्तु दीपा मात्र सेक्स नहीं है। उसका अपना बहुत प्रखर व्यक्तित्व है।

1- डा० बच्चन सिंह -समकालीन हिन्दी साहित्य-आलोचना को चुनौती-पृ० 116

"क्षय" (1961) में पिता के क्षय के रोगी होने के कारण परिवार की सबसे बड़ी लड़की को ही सारे परिवार का भार संभालना पड़ता है। शुरू-शुरू में तो सम्बन्धी और समाज उसे सहानुभूति देते हैं कि वह अपना जीवन बरबाद करके भी परिवार बनाये रखे है। किन्तु फिर धीरे-धीरे उन्हें उस स्थिति के देखने की आदत हो जाती है और वे इसके विषय में सोचना बंद कर देते हैं। एक -एक करके घर के लोग सब अपनी राह चले जाते हैं, और वह लड़की अंतत: अपने को "क्षय" से ग्रस्त पाती है। क्षयग्रस्त पिता को संभालने में, छोटे भाई के अध्ययन का खर्च निकालने को यह लड़की घर से दूर ट्यूशन करती है और धीरे धीरे स्वयं ही "क्षय" होती रहती है।

"नशा" (1962) में भी स्त्री पुरुष के नए सम्बन्ध वैयक्तिक धरातल पर चित्रित हैं। अर्थात् प्रेम में आज व्यक्ति सम्पूर्ण समर्पण नहीं करता और आधुनिक प्रेम पात्र एक नशे-जैसा ही है।

— — — — —

"जिन्दगी और गुलाब के फूल" (1958) उस युवक की कहानी है जिसे, जब वह नौकरी करता है तो माँ की ममता मिलती है, बहन का प्यार मिलता है और शोभा जैसी बड़ी प्यारी लड़की से उसकी सगाई हो जाती है...... अर्थात् उसे गुलाब के फूल ही फूल मिलते हैं । किन्तु जब वह आवेश में आकर नौकरी छोड़ देता है तो सगाई भी टूट जाती है, बहन का प्यार भी अपमान में बदल जाता है। बहन फिर नौकरी करने लगती है और लड़की होने की सामाजिक हीनता के बावजूद उसे परिवार में भाई से अधिक सम्मान मिलने लगता है। लड़के की बेरोजगारी और पराश्रित जिन्दगी उसका जीना दूभर कर देती है। परिवार में बहन का बहुत

अधिक सम्मान उसे भीतर तक तोड़ता है।

इस कहानी में यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि कहानी मंगेतर वाली समस्या को मुख्य मानती है अथवा बहन वाली समस्या को ? कहानी में नौकरी छूट जाने पर बहन द्वारा किया जाने वाला अपमान मुख्य है या शादी का टल जाना ? कहानी की समस्या क्या है? यह कहना कठिन है, हाँ कहानी में अनेक स्थितियाँ उभरती हैं।

"कहानी में गुलाब के फूल कई बार आते हैं। स्पष्ट है कि शीर्षक को सार्थकता देने के लिए ही कहानी में बार-बार गुलाब के फूलों के प्रतीक का संदर्भ आता है। भाई के सामने तरकारी की दुकान है लेकिन दिमाग में यह ख्याल है कि जिन्दगी ने उसे भी गुलाब के फूल दिये थे।" यहाँ तक कि कथानक का चरित्र भी आधुनिक युवक" की अपेक्षा पिछले जमाने के भावुक रूमानी युवक का अवशेष है।"[1] अर्थात् कहानी का ढाँचा और विषय वस्तु का "ट्रीटमेंट" या निर्वाह काफी पुराना है। यहाँ परम्परा प्राप्त रूढ़ ढाँचा नयी विषय-वस्तु को भी पुराना बना देता है।

यथार्थ की दृष्टि भी कहानी में कई जगह उभरी है -विशेषतः बहन-भाई के संदर्भ के चित्रण में नौकरी कर लेने के बाद बहन किस तरह धीरे-धीरे परिवार पर हावी होती जाती है इसके एक-एक ब्यौरे का बड़ा ही सजीव वर्णन उषा प्रियंवदा ने किया है।" उसकी सारी चीजें वृन्दा के कमरे में जा चुकी थी, सबसे पहले पढ़ने की मेज, फिर घड़ी-आराम-कुर्सी और अब कालीन और छोटी मेज थी। पहले अपनी चीज वृन्दा के कमरे में देख उसे कुछ अटपटा लगता था, पर अब वह अभ्यस्त हो गया था यद्यपि उसका पुरुष हृदय घर में वृन्दा की सत्ता स्वीकार न कर पाता था।"[2]

1- नामवर सिंह-कहानी नयी कहानी-पृ0 207

2- उषा प्रियंवदा: जिन्दगी और गुलाब के फूल-पृ0 158

इसी प्रकार अखबार की बात को लेकर भी अधिकार-परिवर्तन का बड़ा मार्मिक रूप खड़ा कर दिया गया है-- "पहले जब तक वह स्वयं अखबार न पढ़ लेता था, वृन्दा को अखबार छूने की हिम्मत न पड़ती थी, क्योंकि वह हमेशा पन्ने गलत तरह से लगा देती थी अब उसे अखबार लेने वृन्दा के कमरे में जाना पड़ता था और इसी लिए उसने घर का अखबार पढ़ना छोड़ दिया था।"[1] यह कहानी "आत्म विडम्बना" के रूप को भी बारीकी से व्यक्त करती है- " अपने अफसर की अपमान जनक बात सुनकर तो उसने अपने आत्म-सम्मान की रक्षा के लिए इस्तीफा दे दिया था, लेकिन अब कहाँ है वह आत्मसम्मान? छोटी बहन पर भार बन कर पड़ा हुआ है।"[2] और अन्त में घर न लौटने का निश्चय करके भी भाई का घर लौट आना तथा तिपाई खींच कर लालचियों की भाँति जल्दी-जल्दी बड़े-बड़े कौर खाने लगना जैसे कटुतम यथार्थ की चरम स्वीकृति है।

इस कहानी से -"कहानीकार की रचना प्रक्रिया की उस संक्रमण कालीन स्थिति का पता चलता है जिसमें प्राचीन से नवीन की ओर आदर्शवादी रूमानियत से यथार्थवाद की ओर अग्रसर होने का कठिन द्वन्द्व होता है।"[3] युद्ध की विभीषिका दिनों दिन बढ़ती कीमतों और देश के विभाजन के बाद जब लड़कियाँ नौकरी करने

1- उषा प्रियंवदा- जिन्दगी और गुलाब के फूल -पृ0 158

2- वही-पृ0 159

3- डा0 नामवर सिंह - कहानी - नयी कहानी-पृ0 210

लगीं तो वे न केवल आर्थिक रूप से स्वावलम्बी हुईं, वरन् माता-पिता और छोटे भाई बहनों की पालनकर्त्ता बनीं, तो घर में उनकी स्थिति अनायास ही बदल गयी, और अन्ततः बेरोजगार भाइयों के लिए उनका व्यवहार कहीं-कहीं वैसा ही उपेक्षापूर्ण हो गया जैसा कभी पहले भाइयों का बहनों के प्रति होता था और अब माता पिता को भी इस व्यवहार में कहीं असंगति नहीं दिखाई देती। स्वातन्त्र्योत्तर इन नवीन मूल्यों को ही दर असल इस कहानी में बड़ी गहराई से प्रस्तुत किया गया है। परिवार में बेरोजगार भाई की विवशता, अकेलापन, उसकी असफलता की घुटन बहुत अधिक मर्मस्पर्शी है। बाहर जा-जाकर भी सुबोध मैले कपड़ों के ढेर और गंदे बिस्तरे में वापस लौट आता है। जिस जिन्दगी पर वह लानत भेजता है वही जिन्दगी उसे जीनी पड़ती है। "आत्म विडम्बना" का उतना सशक्त उदाहरण और कहीं नहीं मिलता। कथातत्व कहानी में प्रबल है। अतः किसी प्रकार का शिल्पगत बिखराव भी कहानी में नहीं आने पाता। उषा प्रियंवदा इस तथ्य के प्रति बराबर सचेत हैं कि विकासशील जीवन-मूल्य मनुष्य की इच्छा-क्षमता से अधिक उसकी चिन्तन क्षमता पर निर्भर करते हैं।

यह कहानी मन पर एक सार्थक प्रभाव डालती है। जिसके पीछे जीवन से घनिष्ठ सम्पर्क और सूक्ष्म निरीक्षण झलकता है। भावुकता यहाँ अवश्य है किन्तु उसमें कातरता या दुर्बलता नहीं, विचारों की -सी गरिमा, संयम और गहराई है। वह नियंत्रित है। अपनी संवेदना को वह परिस्थितियों द्वारा ही प्रसार देती है। किसी विद्वान का मत है कि उषा प्रियंवदा की कहानियाँ आधुनिकता की तरफ-दार अवश्य हैं- लेकिन अक्सर वे "दयनीय" की ही अनुभूति कराके रह जाती हैं, "दुःखान्त" का महत् पक्ष पूरी तरह अभिव्यक्त नहीं हो पाता।

"पचपन खम्भे लाल दीवारें" में मुक्ति की सांस लेने की प्रतीक्षा है, और शायद अपने से छोटे, नील के प्यार को छाती से चिपकाए ही सुषमा, अपनी बढ़ती उम्र की आशंकाओं को जीत लेना चाहती है, मगर उसके पैरों के नीचे एक धसकती हुई दीवार है- जहाँ उसे समझौता कर लेना पड़ता है। इसमें सारी उष्मता, लगाव और प्रेम जनित उत्साह के बावजूद एक महाशून्य व्याप्त है जिसमें प्रेमिका अध्यापिका के लिए जैसे सब कुछ निरर्थक हो उठा है- इतना अधिक निरर्थक कि वह ठोस निवेदन को भी सार्थक नहीं मान पाती।

"मोहबंध-" {1959} की अचला अकेलेपन का स्वेच्छा से वरण करती है। वह अपने को दूसरे से सम्बद्ध करते-करते भीगीं पलकों की दुनियां में लौट आती है- क्योंकि अन्ततः यही भीगी पलकों की दुनियां ही उसकी अपनी दुनियां है।

"वापसी" {1960} में स्वातन्त्र्योत्तर पारिवारिक अजनबीपन की विवेक-युक्त पकड़ है जो कि सामाजिक संदर्भों से भी युक्त है। इसमें "लोनली क्राउड" जैसी कल्पना है। गजाधर बाबू का अकेलापन, आधुनिक जीवन के बीच उभरता हुआ विवशतापूर्ण अकेलापन है। वह इसे चुनने के लिए बाध्य हैं क्योंकि दूसरा उनके पास कोई विकल्प नहीं है। रिटायर्ड अफसर गजाधर बाबू अपने भरे पूरे परिवार में वापिस आते हैं, किन्तु वहाँ भी अपने को अकेला, असंगत, अव्यवस्थित और फालतू पाते हैं। भीड़ में हर आदमी अकेला हैऔर हर भीड़ ढेर सारे अकेलों की भीड़ है-- उषा प्रियंवदा में यह एहसास सामाजिक और पारिवारिक धरातल पर है। इसमें परिवार के विघटन की आंतरिक प्रक्रिया को बड़ी सूक्ष्मता से देखा गया है। यह कहानी अनुभव के धरातल पर सार्थक है। नयी और पुरानी पीढ़ी का संघर्ष सबसे पहले "वापसी" में ही सही मायनों में चित्रित हुआ था।

"हरिनाकुश का बेटा" में जीवन-संघर्ष में डालकर परिस्थितियों से जूझते हुए पात्र का सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक संदर्भ में विश्लेषण हुआ है। इस कहानी को प्रगतिशील दृष्टिकोण की ही परिणति मानते हैं। इस कहानी में चरम सीमा के झटके प्राय: कम लगते हैं, किन्तु कथ्य की अवगति चरम सीमा पर ही होती है। चरमोत्कर्ष पर जाकर ही इस कहानी में कथानक के सूत्र स्पष्ट होते हैं। कथानक के ह्रास का रूप इसमें अपनाया गया है।

"गुल की बन्नो" [1955] सामाजिक रूढ़ियों पर प्रहार करने वाली अत्यंत सशक्त कहानी है। शायद उपेक्षित पात्रों के चयन के कारण ही ऐसा कहा गया है। वरना थीम से ऐसी किसी "धारा" की गंध नहीं आती और यह कहानी नियति के भय से भयभीत साथ ही रूढ़ियों से जकड़ी एक ऐसी कुबड़ी की कहानी है जो लाख समझाने पर भी अपने प्राचीन संस्कारों को नहीं छोड़ती। प्राचीन संस्कारों से उसे अजीब -सा मोह है- वह उन्हें झटक नहीं पाती । और इसी से सौत के आने के बाद भी, अपने से बार-बार चालाकियां बरतने वाले पति के साथ वापस लौट जाती है- इस संस्कार के साथ कि भले ही दासी बनकर रह लूंगी-किन्तु रहूंगी तो पति परमेश्वर के चरणों में ही। वह जानती है कि मकान के बारे में भी वह पति द्वारा छली जा रही है। फिर भी वह यह छला जाना स्वीकार कर लेती है।

"गुल की बन्नो" में तमाम निराशा है, कटुता है। फिर भी यह एक बहुत उत्कृष्ट कहानी है। भारती की शिल्प और थीम के निर्वाह - दोनों ही में पूर्ण सफल हैं। इसे चरित्र प्रधान कहानी के वर्ग में रख कर ही संतोष नहीं किया जा सकता जीते जागते आदमी ही इसमें प्रधान हैं।

पहले दृश्य में गुल की दुकान लगाकर तरकारियाँ बेचती है और बुआ के

चौतरे पर मुहल्ले के बच्चे गुलकी के के कुबड़ेपन का मजाक उड़ाते हैं, मटकी कुबड़ी बनती है और समवेत गायन गाती है। दूसरे दृश्य में गुलकी की पिछड़े-पिछड़े होकर झुलती जिन्दगी का चित्रण है। हर जगह उसका तिरस्कार और निरादर ही होता है। गंदी नाली का पानी फेंक कर उसकी दुकान को उठा दिया जाता है। तीसरे दृश्य में फिर बच्चों का प्रवेश होता है और उनके गुलकी को चिढ़ाने के द्वारा गुलकी की दयनीय स्थिति को और अधिक गहराया गया है तथा मुहल्ले की मानवीयता को निरूपित किया गया है। इसी दृश्य में गुलकी के पति को सामने लाया जाता है। वह गुलकी को मुहल्ले से अपनी रखैल और उसकी संतान की सेवा के लिए ले जाना चाहता है और बदले में गुलकी को मात्र दो जून की रोटी का ही भरोसा है। और इस पर भी गुलकी तैयार हो जाती है कि उसका "मनसेधू" उसे ले जा रहा है। अन्त में चौथा दृश्य गुलकी की विदा के समय का है और यह दृश्य - भावुकता के उफान में इतना लिपट जाता है कि झबरी कुतिया के संकेत से कहानी का अंत करना पड़ता है। इस तरह "गुलकी बन्नो" की सृजन-प्रक्रिया दृश्यों के माध्यम से दो अलग-अलग स्तरों पर चलती है, जो कभी-कभी एक दूसरे को काटते-छूते हैं और कभी कभी एक दूसरे से अलग पड़ जाते हैं। भावुक संसार की रचना अपने-आप में कहानी के लिए निषिद्ध नहीं होती।

किन्तु यह कहानी दर असल हमें अपने प्राचीन रूढ़ संस्कारों के मोह के ऐसे भयानक अँधेरों में छोड़ती है जहाँ प्रकाश की एक किरण का प्राप्त होना कठिन होता है। प्राचीन रूढ़ियाँ जो हमें गलीज़ बना देती हैं, उनसे हम फिर भी अपना पीछा नहीं छुड़ा पाते - यह दुःख छूता है। वस्तु निर्वाह की प्रक्रिया यहाँ भावुकता द्वारा नहीं, भावों द्वारा संचालित है और भावों की यह अधिकता भी भारती जी के कवि

व्यक्तित्व के कारण ही आयी है, जो हमें खटकती नहीं वरन् कहानी के प्रभाव को और तीव्र ही करती है।

"सावित्री नम्बर दो" (1962) में "पति-पत्नी के आत्मविश्लेषण, उनके आधुनिक सम्बन्धों का चित्रण सामाजिक संदर्भों में हुआ है।"[1] विचारोत्तेक प्रलाप या चिन्तनशील सूत्रों को लेकर कथानक के ह्रास की प्रवृत्ति इसमें लक्षित होती है। इसमें भी संगीत, चित्र, कविता, डायरी, रेखाचित्र, संस्मरण, रिपोर्ताज, तथा सांकेतिकता जैसे न जाने कितने रंग मिले हुए हैं। कहानी की धुरी वही है- नियति के पंजे में छटपटाता मनुष्य और उसका दुर्निवार कष्ट। आधुनिकता के सभी प्रसाधनों से यह कहानी लैस है-- सिम्बालिज्म, अस्पष्टता, शब्दों में दोहरे-तिहरे अर्थ, सूक्ष्मता, बहुत अधिक सांकेतिकता से यह सम्पन्न है। किन्तु अन्त तक पहुँचते पहुँचते लगता है कि इतने दुष्ट पति पर भी आस्था बनाए रखने वाली "गुलकी बन्नो" वाली भारती जी की आस्था अब अन्धेरे गर्तों में तिरोहित हो गयी है और नियति की चक्की में पीसे जाते व्यक्तियों में अब बस कटुता ही कटुता दिखती है।

"कोसी का घटवार" (1957) आंचलिक कहानी है और इसमें पनचक्की को पहाड़ी संगीत के माध्यम से वातावरण की सृष्टि की गई है। यों इसमें एक निम्न मध्यवर्ग की विधवा स्त्री का चित्र उपलब्ध होता है जो पति के न रहने पर, रिश्तेदारों को अस्वीकार करके स्वयं अपने पैरों पर खड़ी हो जाती है। यह रोमैन्टिक स्पर्श से रिक्त न होती हुई भी अधिक यथार्थ है।

1- डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय - आधुनिक कहानी का परिपार्श्व -पृ० 111

डा० मदान का मानना है कि इसका सृजन काव्यात्मक स्तर पर हुआ है। यह एक लम्बी कहानी है और इसकी सृजन प्रक्रिया के बाहर-भीतर में पूर्ण सामंजस्य है। "एक सुनसान" ही इसका प्रारम्भ है और अन्तत: "एक सुनसान" ही इसकी इति है। अकेलापन कहीं टूटता भी है तो मात्र कुछ क्षणों को और सदा के लिए छूट जाता है।

गोसाईं का मन चिलम में नहीं लगता। फिर भी वक्त कट जाए, इसलिए वह ठण्डी चिलम ही गुड़गुड़ाता रहता है। उसका एकान्त और नीरस जीवन खस्सर-खस्सर चक्की के पाट के चलने जैसा, किट-किट दानों के गिरने जैसा और किट-किट काठ की चिड़ियों के बोलने जैसा ही है। गोसाईं इतना अकेला है और अतीत को बार-बार जीता है। लछमा की याद जब तब कसकती है। लछमा ने देवी देवताओं की कसम खाकर उसे विश्वास दिलाया था कि गोसाईं की बात पूरी करेगी किन्तु लछमा का पिता नहीं मानता। वह परदेश में बन्दूक की नोक पर जान रखने वाले को अपनी लड़की नहीं देता। गोसांईं अब अपनी पुरानी जीर्ण फौजी पैंट को कोसता है- इसी पैंट की वजह से शायद लछमा खो गई है और उसे ऐसा विरसूल लाञ्छन मिला है। वह काले बालों को लेकर गया था और खिचड़ी हो गए बालों को लेकर लौटता है। इस बीच लछमा विधवा हो चुकी है। मोहभंग की अनुभूति बड़ी गहरी है। हर क्षण तनाव बना रहता है- तनाव का दर्द रिसता है। गोसाईं लछमा की सहायता पैसे देकर करना चाहता है किन्तु लछमा आए हुए इस उबाल को अपने इनकार के छीटों से ठंडा कर देती है और कहानी में फिर वही अकेलापन दूर-दूर तक बहने लगता है, और अन्त में गुसांईं बहुत झिझक कर लछमा से कहता है- "कभी चार पैसे जुड़ जाएं तो गंगानाथ का जागर लगाकर भूलचूक की मांफी माँग

लेना। पूत-परिवार को देवी-देवता के कोप से बचे रहना चाहिए।" लछमा ने गोसाई के साथ रहने का बचन दिया था। गंगानाथ की मानता मानी थी और अपने उस बचन को उसने पूरा नहीं किया। इसलिए गंगानाथ के कोप का भय कम है और गोसाई को लगता है कि कहीं लछमा का और अनिष्ट न हो। इसलिए वह चाहता है कि लछमा गंगानाथ से क्षमा मांग ले। यहाँ उसे अपना दुःख नहीं सालता, वह तो फिर भी लछमा का भला ही चाहता है। कहानी में रोमांटिक बोध का कुहासा जो थोड़ा बहुत होता भी है, अंत में छंट जाता है और अन्तत: यथार्थ के ही दर्शन होते हैं।

कोसी के परिवेश का चित्रण, घट की मंद चाल, जीवन की मंद मन्थर गति, बहुत तोड़ देने वाले अकेलेपन की अनुभूति, घटवार की कसक, लछमा के बेटे को रोटी खिलाकर गुसाईं का अपने वात्सल्य भाव को शांत करना- सभी कुछ सार्थक है और वातावरण को जीवन्त बनाता है।

"दाज्यू" कहानी भी एक पहाड़ी लड़के की कहानी है जो अपनी सम्पूर्ण आत्मीयता और आकुलता के साथ "पहाड़ी बाबू" को "दाज्यू" कहकर पुकार लेता है, किन्तु उसकी यह पुकार किसी अंधे कुएं में लगा दी गयी आवाज की भाँति ही डूब गई है। सारी स्थिति गत विसंगतियों के बीच अपनी आहत संवेदना और अपनी किंचितता की यातना से इस पहाड़ी छोकरे का साक्षात्कार होता है। अनिश्चितता से उत्पन्न एक मर्मभेदी यातना उसे बराबर भेदती है। मानवीय सभ्यता को झुठलाने वाली सभ्यता पर गहरा व्यंग्य है। आज के यथार्थ बोध को, सभ्यता के खोखलेपन के समूचे प्रभाव को अभिव्यक्त किया गया है। "दाज्यू" इस दृष्टि से महत्वपूर्ण कहानी है। इसमें "बिम्ब", "विचार" में और "विचार" "व्यंग्य" में बदल जाता है। "दाज्यू" सम्बोधन इस कहानी में प्रतीक बन कर आया है जिसके द्वारा

पहाड़ी छोकरा- "अपने छूटे हुए गांव के अतीत, ऊँची पहाड़ियों, नदियों, ईजा [माँ] ....बाबा....दीदी.....दाज्यू [बड़ा भाई] सबको पा लेना चाहता है, पर नागरिक संस्कृति इस काल्पनिक प्राप्ति से भी उसे वंचित रखती है। व्यंग्य बहुत निर्भय होकर किया गया है, फलत: बहुत तीक्ष्ण है।

नरेश मेहता के पात्रों पर आत्मपरकता, कुण्ठा, पलायन एवं स्थानियत के आरोप लगाये गये हैं। और इन पात्रों को घोर वैयक्तिक भी माना गया है। किन्तु वस्तुत: यह आधार निराधार है— "नरेश मेहता की कहानियों में सामाजिकता एवं सोद्देश्यता समकालीन परिवर्तनशीलता तथा नये उभरने वाले मूल्यों के संदर्भ में स्पष्टतया लक्षित किये जा सकते हैं। उनमें सजग सामाजिक चेतना, नवीन मूल्यों के अन्वेषण एवं परिवर्तित मानदण्डों को अपनाने [दुर्गा, "वह मर्द थी", तथापि आदि कहानियाँ] की आकुलता सशक्तता से अभिव्यक्ति प्राप्त कर सकी है।"[1] कहानी मात्र मनोरंजन के लिए नहीं होती; अत: कहानी के लिए बहुत ही परिष्कृत भाषा और विशिष्ट संस्कार आवश्यक है। नरेश मेहता का कहना है कि - "साहित्य भी संस्कार होता है । लेखन से व्यक्तित्व का पता चल जाता है।"[2]

"तथापि" कहानी में पाशल ने वर्तमान को प्रयोजन हीन कहा है--- "चाहा था, सम्पूर्ण स्वत्व से चाहा था, लिपिन्। गांव में वह चौधरी की दुकान के पास, बाद में भाभी ने मजाक भी किया था किन्तु लिपिन बाबू। हम अनागत

1- डा0 सुरेश सिनहा - हिन्दी कहानी उद्भव और विकास, पृ0 604

2- नरेश मेहता- तथापि, निवेदन [illegible]

बनकर ही रह सकते हैं, विगत कदापि नहीं। कदापि नहीं। कदापि नहीं। और वर्तमान तो असंगति की खोखल है, निष्प्रयोजन हीन।"[1] वर्तमान से पलायन की यह स्थिति आज की यथार्थता को अधिक सूक्ष्म और अर्थपूर्ण बनाती है। आधुनिक यथार्थबोध की जटिलतम समस्याओं से यह कहानी निरन्तर अनुप्राणित है और कलात्मक विधान में भी पर्याप्त गतिशीलता दिखाई देती है किन्तु कहीं-कहीं स्पष्ट लगता है कि लेखक बचना चाहते हुए भी विवेकपूर्ण बौद्धिक चमत्कार के प्रलोभन से बच नहीं सका है।

इस कहानी का विपिन पारुल को सामने देखकर भावुक भी हो जाता है। जल भरी आँखों से उसे निहारता है और परम्परावादी प्रेमियों की भाँति ही प्रेम की लम्बी-लम्बी बातें सोचता है किन्तु अंत में जब वह कहता है कि- "चलो पारु। हम न तो पहले थे ही और न हैं ही, हमें तो होना है, यह होना ही हमारी संगति है, श्रृंखला है।"[2] तो लगता है कि "होने" की यंत्रणा ही यहाँ सब कुछ है। यह वह बिन्दु है, कहानी जहाँ भावुकता से हटकर आधुनिक भाव-बोध से संश्लिष्ट होजाती है। यह संवेदना का स्तर न होकर बौद्धिक स्तर है, सृजन-प्रक्रिया का अभिन्न अंग नहीं बन सका है।

"अनबीता व्यतीत" में पति-पत्नी के आधुनिक अजनबीपन का चित्रण आत्मपरक दृष्टिकोण से ही किया गया है। इसका मानसिक द्वन्द्व एवं विश्लेषण पर्याप्त सशक्त है।

1- नरेश मेहता- तथापि निवेदन। पृ0 118

2- वही

"कई आवाजों के बीच" कहानी में सुरेश सिनहा ने युवा वर्ग के आक्रोश, निष्क्रियता, घुटन एवं संत्रास को आधुनिक परिवेश में उठाया है। "नया-जन्म" में भ्रष्टाचार, भाई-भतीजावाद एवं बेरोजगारी में एक युवक की कुचली गई आकांक्षाओं का मार्मिक चित्रण है।

आठवें और नवें दशक के कतिपय कहानीकारों ने जीवन को निकट से देखा, उसकी विसंगतियों, विडम्बनाओं, कुरूपताओं को भोगा और सहा, जीवन के विभिन्न रंगों को विभिन्न कोणों से निरखा-परखा। और इन सब की परिणति स्वरूप उनमें गहरी संवेदना, वह संवेदना जो पाठकीय संवेदना है, भी जन्म पायी, फलस्वरूप उनकी कहानियाँ व्यापक सरोकारों, विस्तृत जीवन अनुभवों से जुड़ी ।

ज्ञानरंजन में पूँजीवादी व्यवस्था के भयावह दुश्चक्र को पहचानने और उससे टकराने की कोशिश है। मध्यवर्गीय जिन्दगी के काम चलाऊपन के प्रति गहरी नफरत या वितृष्णा ज्ञानरंजन की कथा भूमि की बुनियादी चेतना है। "सम्बन्ध", "हास्य-रस", "दाम्पत्य" "रचना प्रक्रिया" जैसी कहानियाँ इसकी उदाहरण हैं। "घंटा", बहिर्गमन में यथार्थ का दायरा बढ़ा । इसमें विचारधारात्मक प्रभाव भी लक्ष्य है। "घंटा "में भारतीय लोकतन्त्र की विसंगतियाँ रेखांकित हैं। "बहिर्गमन" मूलभूमि से दूर होने की हास्यास्पद तथा घातक लालसाओं की परिणति है। काशीनाथ सिंह की कहानी "कविता की नयी तारीख" इस जमीन की कहानी है। काशी-नाथसिंह का कैनवास विस्तृत है, व्यंग्य उनकी अभिव्यक्ति का प्रमुख औजार है। "कहानी सराय मोहन की" में तथाकथित भद्र वर्ग के अन्तर्विरोध और चालाकी का व्यंग्यात्मक पर सरस चित्रण है।" सदी का सबसे बड़ा आदमी" लोककथा की शैली में यथार्थ और अतिरंजना के रेखांकन का प्रयास है। पर समग्रतः इसमें कृत्रिमता झलकती है।

विवाह पूर्व इच्छा , लगाव तथा विवाह की घुटन और ऊब पर रवीन्द्र कालिया की कहानियों के कथानक आश्रित हैं। " सबसे छोटी तस्वीर" "दो सौ ग्राम प्रेमपत्र" "पत्नी", "नौ साल छोटी पत्नी", "डरी हुई औरत" इनकी प्रमुख कहानियाँ हैं।" नौ साल छोटी पत्नी में" एक उत्तेजना रहित ठंडा तटस्थ अनुभव स्थापित है। श्रीकांत, महेन्द्र भल्ला की कहानियाँ जीवन के कोमल, छोटे-छोटे प्रसंगों को मानवीय नियति के गहरे प्रश्नों से जोड़ती नजर आती है।

ममता कालिया की "काला रजिस्टर", "चाल", "बोगैन विलिया" संवेदना की भूमि से गहरे जुड़ी कहानियां हैं।" चाल" में पूरी दुनियाँ है, रोज की दुनियां, ऐसी दुनियां जिसमें मध्यवर्गीय जीवन का बेशुमार संघर्ष है। इसमें रचनाकार की गहरी अन्तर्दृष्टि है। "काला-रजिस्टर" "तन्त्र" व्यवस्था से टकराव की गाथा है। "बोगैनविलिया" में मध्यवर्गीय परिवार की उच्च बनने की आकांक्षा की मौत है। वह वहीं गमले के पास बैठ गया। सावित्री का चेहरा भी लटक गया था। दोनों बच्चे रो रहे थे और पौधे के चारों ओर ऐसे बैठे थे, जैसे बीच में कोई शव पड़ा हो।" "गौरैया" में साम्प्रदायिकता पर व्यंग्य है। दूधनाथ सिंह की "हुण्डार" और "भाई का शोकगीत" इस काल की स्मरणीय कहानियां हैं। "भाई का शोकगीत" स्त्री की नियति का मर्मलेख स्वाधीनता संघर्ष की यादों से एक विस्तृत परिप्रेक्ष्य से सम्पन्न हो सका है। और "हुण्डार" उच्च वर्ग की मानसिकता का खुलासा है। विजयकांत की "बलैत मानुख भगत" का विन्यास महत्त्वपूर्ण है। इसमें वैयक्तिक संघर्ष एवं पीड़ा के बयान में एक पूरे समय का संघर्ष और पीड़ा मौजूद है।

नवें दशक के कुछ कहानीकारों ने जुझारू नारी चरित्रों से भरी कहानियां भी लिखीं। शिवमूर्ति की कहानी "केशर कस्तूरी" की केशर हर अपमान, हर समस्या

का समाधान जानती है। यह बोल्डनेस "तिरिया चरित्तर" की विमला में भी है। ऐसी ही एक कहानी है-"मर्द" जिसमें महाराज कृष्ण काव ने मुनीश और नीलम (पति-पत्नी) के माध्यम से पुरुष और स्त्री की मानसिकता को उजागर किया है। पति मुनीश मुस्टंड साँड है, वह हर हरी-भरी खेती देखकर उस पर मुँह मारने का प्रयास करता है। नीलम चिंतित। इसी बीच एक्सीडेण्ट में वह बधिया बन जाता है और अस्पताल में अपने विस्तर के पास बैठी पत्नी को नाखूनों की पालिश करते देख वह अपना आपा खो देता है--"यह नाखून किसके लिए सँवार रही हो।" (हंस, जुलाई 89) यह भी अश्लील विवरणों से खाली, पर पुरुष की मानसिकतता पर चोट करने वाली कहानी है और यह कहानी उस नारी की भी है जो पुरुष से बदला लेने के लिए उद्यत है। पर दूसरे की अंक शायिनी बनकर नहीं"। बल्कि प्रतीक के माध्यम से। "हंस" के इसी अंक में एक और सशक्त कहानी है--विभा रानी की "सदी का सबसे विचारवान आदमी" ।पति को अपने जीवन में जितने काँटे मिले थे, लोगों की जो उपेक्षाएं मिली थीं, वह सब पत्नी से कहकर निजात पा चुका था, मन हल्का था, भटकते तन-मन को मंजिल मिल गयी थी। वह मुस्कुराया। पत्नी का ख्याल आया। उसे देखने को मुड़ा - "भय से चीख पड़ा- उसकी पत्नी के चेहरे पर जगह-जगह काँटे चुभे हुए थे और उनसे खून निकल रहा था।" स्त्री क्या है? पुरुष की संवेदना की ही परिणति तो न? और उसमें सब कुछ सहने की शक्ति है, उसे भी जो दूसरों के जीवन के काँटे हैं जो दूसरों की उपेक्षाएं हैं, और इन सबको भी सहकर वह अजेय है, अक्षुण्ण है। आवश्यकता है केवल उसकी शक्ति को जगाने की।

अध्याय- 5

स्वातन्त्र्योत्तर कहानी - अन्तर्दृष्टि और यथार्थवादी चेतना

- युगबोध
- निर्मल वर्मा
- कमलेश्वर
- मोहन राकेश
- भीष्म साहनी
- राजेन्द्र यादव
- उषा प्रियंवदा
- मन्नू भण्डारी
- धर्मवीर भारती
- शिव प्रसाद सिंह
- फणीश्वरनाथ "रेणु"
- अमरकान्त

युग बोध

राष्ट्रीय राजनैतिक स्वाधीनता के आरम्भ काल में जन मानस आशा आकांक्षा के जिस उत्साहपूर्ण आनन्द की परिकल्पना कर रहा था वह देश-विभाजन और राजनैतिक स्वार्थों के आतंक में धूल-धूसरित हो गया। लोकतन्त्र के पर्दे में शासन-व्यवस्था निजी स्वार्थ पूर्ति हेतु जनता का शोषण करने लगी। दूसरी ओर देश की जनता भी अधिकारों और कर्त्तव्यों का दुरुपयोग करने में लग गयी। जातिवाद, धर्मवाद, प्रांतवाद, भाषावाद, तथा भाई-भतीजावाद आदि ने विविध समस्याओं को जन्म दिया। विभाजन, मोहभंग, राजनीतिक भ्रष्टाचार, सामाजिक विघटन, यान्त्रिकता, विभिन्न विसंगतियों तथा व्यापक असंतोष के बीच" जो मनुष्य साँस ले रहा था, जिसका समकालीन साहित्य जबाबदेही से कतरा रहा था- आन्तरिक और बाह्य संकट को अभिव्यक्ति नहीं दे रहा था वह मनुष्य इतिहास के क्रम में अपने पूरे परिवेश को साथ-साथ लिये-दिये एक अवरुद्ध राह पर संभ्रमित तथा चकित खड़ा था।"[1] इस प्रकार से विघटन और ह्रास के आतंकपूर्ण वातावरण में व्यक्ति और समाज का नैतिक बोध मूल्यहीनता की ओर उन्मुख हो गया तथा अविश्वास और अनास्था का जन्म होने लगा।

सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक स्थितियों में आए परिवर्तन का प्रभाव व्यक्ति के मानस-पटल और संस्कृति पर पड़ने लगा। विज्ञान की प्रगति

1- कमलेश्वर - नयी कहानी की भूमिका, पृ0 16

और औद्योगिक क्रान्ति के परिणाम स्वरूप भारत पर अन्तर्राष्ट्रीय सभ्यता और संस्कृति का भी प्रभाव पड़ने लगा। विचारों की सोच में भी बदलाव आने लगा। गाँधीवाद, मानवतावाद, तथा व्यक्तिवाद के सम्मिलि प्रभाव ने बुद्धिजीवी वर्ग को व्यापक ढंग से प्रभावित किया। परम्परागत मूल्यों एवं विधि निषेधों के प्रति उनमें अस्वीकार का भाव आ गया। मानव जीवन के अन्तर्विरोधों, विसंगतियों तथा विघटन की स्थिति में सामूहिक शक्तिहीनता और भयावह जड़ता आने लगी। धार्मिक और सामाजिक स्तर पर अप्रत्याशित परिवर्तन होने लगे।

भारतीय समाज में जातिगत वर्ग और अर्थगत वर्ग निर्मित हुए। ऊँच-नीच, छुआछूत और सम्पन्न-विपन्न वर्ग भी यथास्थिति में ही नहीं रहे बल्कि दो कदम आगे बढ़े। पूँजीवाद के प्रभाव से उच्चवर्ग, मध्यवर्ग, और निम्नवर्ग अस्तित्व में आए। इसके साथ ही पारिवारिक ढांचों में भी परिवर्तन लक्षित हुए। समाज में स्त्रियों की दशा में भी व्यापक परिवर्तन हुआ। आर्थिक स्तर पर स्वावलम्बी होने के कारण उनमें अस्तित्व चेतना और अहं भाव का उदय हुआ। स्त्री स्वतंत्रता ने संयुक्त परिवार की परम्परित मान्यताओं को छिन्न-भिन्न कर दिया। स्त्रियों के जीवन, चिन्तन, और व्यवहार में भी अन्तर आने लगा। स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कहानियों में आधुनिक अस्तित्व बोध के प्रति सचेत नारी का स्वाभाविक चित्रण होने लगा।

युवा वर्ग के विचारों में व्यापक परिवर्तन होने लगा। शिक्षित वर्ग की आकांक्षाओं का आकाश व्यापक होने लगा। बेरोजगारी के कारण कुण्ठा, अकेलापन, तथा आक्रोश की स्थिति उत्पन्न होने लगी। वैचारिक स्तर पर पुरातन एवं नवीन मूल्यों में टकराहट होने लगी। पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति से प्रभावित

युवा वर्ग माता-पिता के विधि-निषेधों की उपेक्षा करने लगा। पीढ़ी संघर्ष की व्यापक टकराहट सर्वत्र दृष्टिगोचर होने लगी। जन-जीवन में धर्म और ईश्वर के प्रति मान्यताओं में तीव्रता के साथ बदलाव हुआ। लगभग अस्तित्वबोध के कारण परम्परागत आदर्शों और मूल्यों के प्रति आस्था कम होने लगी। रहन-सहन, जीवन पद्धति पर भौतिकवाद का प्रभाव परिलक्षित होने लगा।

गाँव कस्बों की ओर और कस्बे नगर की ओर बढ़ने लगे। बाह्याडम्बर, चमक-दमक, मनोरंजन, सुख-सुविधाओं के प्रति आकर्षित होकर लोग नगरीय संस्कृति से अधिक प्रभावित होने लगे। स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कहानी नगरबोध और व्यंग्यात्मक मनोवृत्ति के संक्रान्त प्रभाव से अछूती न रही। इसी के समानान्तर कस्बाई मनोवृत्ति और ग्राम्यांचल की संस्कृति की प्रवृत्ति भी पनपने लगी। साथ ही हिन्दी कहानी रूढ़ परम्पराओं से दूर हटकर कृत्रिम जीवन प्रणाली-आधुनिक मनोवृत्ति, परिवर्तित जीवन मूल्य तथा भौतिवाद से प्रभावित होने लगी।

मार्क्स की द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी विचारधारा और फ्रायड की कामपरक विश्लेषण की विचारधारा ने हिन्दी कथा साहित्य को बखूबी प्रभावित किया। कहानी कार ने नवीन जीवन-बोध को इन्हीं संदर्भों में चित्रित भी किया । इसके अतिरिक्त कामू, कीर्कगार्ड, सार्त्र और काफ्का के अस्तित्ववादी जीवन-दर्शन तथा विचार चिन्तन ने भी हिन्दी कहानी को नवीन दृष्टि और दिशा प्रदान की । आधुनिकता बोध एक मानसिक बौद्धिक स्थिति के रूप में विकसित हुआ जिसने वर्तमान एवं भविष्य की संभावनाओं में परस्पर सामंजस्य स्थापित कर नवीन विचारों एवं मूल्यों को प्रेरित किया। आधुनिक बोध ने कहानी कारों को नवीन जीवन दृष्टि प्रदान की जो समाज के परिवर्तित संदर्भों का अन्वेषण करके मानव मूल्यों को सार्व-जनीन एवं सर्व व्यापी बनाने लगी।

संक्रमणशील जीवन की विभिन्न परिस्थितियों ने स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कहानी को यथार्थ के ठोस धरातल पर खड़ा कर दिया। युग जीवन और समाज के परम्परित मूल्यों आदर्शों और जीवन व्यवस्था में परिवर्तन आने से व्यक्ति और समाज की स्थितियाँ भी परिवर्तन शील हुईं। कहानीकार इन संक्रान्त स्थितियों के संघर्ष का चित्रण करने में सक्रिय हुआ। विषम स्थितियों में जीवन के प्रति कहानीकार की संवेदना गहन और प्रतिक्रिया तीव्र होने लगी तथा अभिव्यक्ति के परम्परागत प्रतिमान बदलने लगे। देश की परिवर्तित व्यवस्था में कहानीकार चेतना और विघटन में कारण कार्य सम्बन्ध की खोज करने में प्रवृत्त हुआ। चूँकि एक स्वतन्त्र जातीय और उदार चेतना के उदय के साथ नई सांस्कृतिक चेतना का विकास हुआ अतः कहानीकारों में भी आत्मचेतना और आत्मसजगता का उन्मेष स्वाभाविक था। साहित्य के अन्य रूपों के समान हिन्दी कहानीकार भी नवीन व्यापक परिवेश में नई सामाजिक विसंगतियों को दृष्टि में रखकर मानवमूल्यों और जीवन बोधों के विश्लेषण का प्रयास करने लगा। कहानीकार जीवन की सहज अनुभूतियों को अभिव्यक्ति प्रदान कर पाठक से तादात्म्य स्थापित करने तथा रचना को सहज संवेद्य बनाने के प्रति सतर्क हुआ। हिन्दी कहानी परिवर्तित सामाजिक जीवन के सत्यों और मानवीय यथार्थ को उसकी समग्रता में स्थापित करने लगी। मानवजीवन के यथार्थपरक व्यापक धरातल पर कहानीकार जहाँ व्यक्ति के अहं को सामाजिक क्रूरता के संदर्भ में चित्रित करने में संलग्न हुआ वहीं वह सामाजिक शोषण, वैषम्य एवं अनास्था को व्यक्ति के संदर्भ में व्याख्यायित करने के प्रति जागरूक हुआ। स्वतन्त्रता की विडम्बना का जो दुष्प्रभाव मध्यवर्ग और निम्न वर्ग में विकसित हुआ उसकी निराशा, कुण्ठा और व्याकुलता के आभ्यान्तरिक कारणों का चित्रांकन करने का प्रयास दृष्टिगोचर होता है।

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कहानीकार पूर्वाग्रहों से परिवर्तित होकर सामयिक तथ्यों एवं यथार्थ परिवेश को ग्रहण करता है तथा आगत के प्रति जिज्ञासा-युक्त दिखाई पड़ता है। मानवजीवन के अन्तर्विरोधों, विसंगतियों तथा विघटन की स्थितियों में कहानीकारों में नवीन भावबोध उभरने लगा, एक नवीन "पहुँच" (एप्रोच) और एक नई दृष्टि मिलने लगी। अद्भुत स्थितियों के माध्यम से व्यक्ति चेतना को स्वीकार किया गया। देश विभाजन की पीड़ा से मानव सम्बन्धों में आई विकृतियाँ, सामूहिक शक्ति हीनता और त्रस्त जनता के भारतीय जनमानस के अन्तर्बाह्य को हिलाकर रख दिया। संदर्भ और परम्पराएं बदली। नई व्यवस्था में मध्यवर्ग की टूटन और विघटन की स्थितियों में पुराने आदर्श और मानदण्ड निरर्थक प्रतीत होने लगे। नवीन संदर्भों से युक्त कहानीकार विषमताओं से जूझते मानवीय समाज के उत्थान-पतन तथा अन्तर्विरोधों को जानने समझने के लिए प्रतिबद्ध सा हुआ।

स्वतन्त्रता पश्चात् की हिन्दी कहानी में जीवन-जगत् से प्राप्त अनुभवों के सूक्ष्म, तार्किक और रचनात्मक प्रयोग परिलक्षित होते हैं। यथार्थ को खण्डित न करके कहानीकार उसे समग्रता में ही प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होने लगा। नवीन रचनात्मक चेतना दृष्टि से संयुक्त होकर कहानीकार कथ्य और शिल्प में नवीन प्रयोगों की ओर प्रवृत्त हुआ। कहानियों के कथ्य सूक्ष्म होने लगे। परम्परागत धारणा में परिवर्तन आने लगा। सादगी, सांकेतिकता तथा बिम्बविधान की प्रवृत्ति बढ़ी। पाश्चात्य "चेतना प्रवाह" के शिल्प का प्रयोग किया जाने लगा। शिल्प विषयक यह आन्दोलन वर्जिनिया वुल्फ, जेम्स ज्वायस और डोरोथी रिचर्डसन ने आरम्भ किया। आधुनिक व्यक्ति की अमूर्त जटिल स्थितियों को प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यक्त किया जाने लगा। हिन्दी कहानियों में भी चेतना प्रवाह तकनीक को

अपनायागया। कथ्य में उत्तरोत्तर व्यापकता और गहनता आने लगी। इसका प्रभाव उसके शिल्प पर भी पड़ा। तथ्य पात्र और चरित्र, परिवेश तथा प्रयोजनीयता को संवेदनशील एवं यथार्थ दृष्टि प्राप्त होने लगी। कहानीकार विषय की अपेक्षा विचार और प्राप्त अनुभवों को ही अभिव्यक्त करने लगा, जो अपनी अर्थवत्ता में जीवन के समस्त संदर्भ-क्षेत्रों का स्पर्श कर लेता है। कहानीकार अपनी रचना धर्मी क्षमताओं से विशिष्ट एवं संश्लिष्ट अनुभवों को मानवीय सत्यों के साथ एकात्म करने में प्रवृत्त हुआ। अब कहानी केवल मानसिक जगत या अवचेतन में ही यथार्थ की पीड़ा का समाधान नहीं रह गई, अपितु अधिक सचेत एवं तीव्रतर अनुभवों में परिवर्तित हो गई है।

कहानीकारों ने वस्तु अथवा विचार को यथार्थ के स्तर पर ग्रहण करने के लिए काव्य की बिम्बनात्मक पद्धति का सहारा लिया। बौद्धिकता की अतिव्यंजना से कहानी में कहीं कहीं जो दुरूहता और अस्पष्टता की झलक दृष्टिगत होती है, वह कहानीकार की रचनात्मक क्षमता के अभाव के कारण। यथार्थ की गम्भीर चेतना ने उसके रूपात्मक स्वरूप को पूर्णतया परिवर्तित कर दिया। यह यथार्थ-बोध वैज्ञानिक और यान्त्रिक बोध न होकर जीवन की गहन और सच्ची अनुभूति है जो विशेष मानवीय परिस्थितियों में मानव सम्बन्धों का अभिज्ञान प्राप्त करने की दृष्टि प्रदान करती है।

इस पृष्ठभूमि में कहानी-कार अपने परिवेश की समस्याओं के प्रति अधिक सतर्क और सचेत होता गया। उसने यथार्थ और अन्तर्दृष्टि के विविध पक्षों और सूक्ष्म स्तरों को स्वाभाविक धरातल पर प्राप्त करने का प्रयत्न किया है। अनुभूति और अवलोकन द्वारा कहानीकार प्रामाणिक यथार्थ और अन्तर्दृष्टि से युक्त जीवनानुभवों को अभिव्यक्त करने में रुचि रखने लगा है। व्यक्ति और परिवेश की

संघर्षमयी स्थितियों से चेतन और अचेतन पर जो प्रभाव पड़ता है उसका प्रत्यक्षण करके भाषा -सामर्थ्य द्वारा उसकी सृजनात्मक संभावनाओं को नवीन दिशा प्रदान की । हिन्दी कहानी की अन्तर्दृष्टि और यथार्थ-संवेदना और रचना धर्मिता व्यापक और सूक्ष्म होती जा रही है।

संवेदना, अनुभूति, अनुभव, कथ्य, पात्र, चरित्र, बिम्ब-विधान, प्रतीक, योजना, सांकेतिकता, संप्रेषणीयता और आंचलिक प्रभाव में नवीन प्रयोग होने लगे। अब कहानी पौराणिक आख्यान अथवा घटना संयोगों का समवाय नहीं है वह आदर्श निर्माण की भित्ति नहीं है और न ही युद्ध-दर्शन अथवा यौन-कुण्ठाओं की पहेली है। बल्कि कहानी का कथ्य स्वयं सतत् परिवर्तनशील एवं प्रवहमान जीवन है। नगरीय और दिशाओं के कथ्य हैं तो कस्बाई और आंचलिक जन-जीवन के परिवेश की विसंगतियाँ एवं त्रासद स्थितियों के कथ्य भी हैं।

रचनात्मकता की दृष्टि से प्रेमचन्द की "पूस की रात" और "कफन" से जीवन की जो अन्तरंग पहचान बनने लगी थी। जैनेन्द्र की "पत्नी" और "जाह्नवी", अज्ञेय की "रोज", और अश्क की "डांची" तथा "कांकड़ा के तेली" विकसित होती हुई व्यापक परिदृश्यों में विविध रूपों में अग्रसर होने लगी। नवीन-भाव बोध की स्थापना के लिए अनेक पुरातन मान्यताओं से संघर्ष करना पड़ा। "कहानी";"निकष" संकेत; और हंस के माध्यम से कहानीकारों से पाठकों का साक्षात्कार हुआ।

वन्य और पर्वतीय अंचल, गाँव, कस्बे, शहर के जीवन मूल्यों की विभिन्न स्थितियों एवं विडम्बनाओं को मूल्यांकित किया जाने लगा। निर्मल वर्मा, कमलेश्वर, मोहन राकेश, भीष्म साहनी, धर्मवीर भारती, राजेन्द्र यादव, हरिशंकर परसाई, कृष्णा सोबती, मन्नू भण्डारी, उषा प्रियम्वदा आदि कहानीकारों ने

नगरबोध और यथार्थ को समग्रता में ग्रहण किया। "रेणु", शिव प्रसाद सिंह, मार्कण्डेय, लक्ष्मीनारायण लाल, राजेन्द्र अवस्थी आदि कहानीकारों ने ग्रामीण जीवन की संक्रान्त स्थितियों को अनुभव की सम्पूर्ण ईमानदारी के साथ विश्लेषित किया। नगरों और शहरों के समान ही ग्राम्य-परिवेश, मानव सम्बंधों और मूल्यों में आए हुए परिवर्तन को आंचलिक कहानियों में विविध रूपों में उद्घाटित किया जाने लगा।

निष्कर्षतः स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कहानी में संवेदनागत अनुभूतियों के अनुरूप जीवन दृष्टि में परिवर्तन लक्षित होने लगे। हिन्दी कहानीकार सूक्ष्म एवं सजग दृष्टि से जीवन के विशिष्ट तथ्यों एवं सत्यों का पूर्ण परिज्ञान प्राप्त कर उसे अर्थगर्भित संभावनाओं को नवीन दिशा प्रदान करने लगा।

"निर्मल वर्मा"

निर्मल वर्मा की कहानियों की रचना प्रक्रिया, स्मृति द्वारा अनुभव को आमन्त्रित करने तथा अनुभव द्वारा स्मृतिका दरवाजा खटखटाने से शुरू होती है। वे अपनी कहानियों में अधिकतर अतीत को दस्तक देते हुए आए हैं। वे स्वयं स्वीकार करते हैं- "महत्वपूर्ण मेरे लिए अनुभव नहीं, स्मृति का वह झरोखा है जिसमें से गुजर कर वे कहानियाँ बनती हैं --- "हवा में उड़ते, आसपास मँडराते, अनुभव खण्डों में किसको पकड़ पाता हूँ किसको जानबूझकर छोड़ देता हूँ, किसको सहज गुजर जाने देता हूँ, यह महज संयोग पर निर्भर नहीं करता, न ही मेरी कलात्मक दक्षता या चालाक पकड़ पर निर्भर करता है बल्कि जब तक उन अनुभव-खण्डों को मेरे भीतर का

जादू मन शून्य पर गड़े स्मृति संकेत, अपने पास नहीं बुलाते, मैं उनका कोई फायदा नहीं उठा सकता उनकी कभी कोई कहानी नहीं बनती।"[1]

अतीत-स्मृतियों को कलात्मक स्वरूप प्रदान करने की यह प्रवृत्ति निर्मल वर्मा के अन्तर्मुखी स्वभाव और नितान्त वैयक्तिक जीवन-दृष्टि की ओर संकेत करती है। उनकी अनुभूतियाँ ऐकान्तिक होती हैं। आधुनिक परिदृश्य में निरन्तर अकेले होते जाने की यह आन्तरिक पीड़ा है जिसे सूक्ष्म यथार्थ अनुभूति द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। निर्मल वर्मा की प्रारम्भिक कहानियाँ रूमानी जीवन बोध को अदृश्य अन्तर्दृष्टि और यथार्थ के सूक्ष्म स्तर पर अभिव्यक्ति प्रदान करती है। "परिन्दे" कहानी संग्रह अतीत रोमानी चेतना का मोहक संसार है। यह रोमानी आदर्श किशोर-मन की सम्मोहक स्थिति है। उनकी रचनात्मक चेतना वर्तमान का अतिक्रमण करके अतीत के मायावी रहस्यमय लोक में पहुँच जाती है। निर्मल वर्मा की कहानियों का मूल स्वर है मन की भावात्मक और वैचारिक जटिल स्थितियाँ और उनके विविध आयामों को काव्यात्मक लय में मन्द और प्रभावी ढंग से उद्घाटित करते चलना और मध्य वर्गीय परिवेश में पोषित संभ्रान्त युवा-वर्ग की अमूर्त रोमानी अवस्थाओं को मूर्तमान करना। वे इस अमूर्त लय, मौन की चिरन्तन स्थिति को शब्द बद्ध करके प्रामाणिक स्तर पर लाने का प्रयास करते हैं। अतीत के यथार्थ को चित्रित करते समय निर्मल वर्मा तटस्थ भाव अपना लेते हैं। इनकी कहानियों में तात्कालिक आवेग और अतिशय भावुकता रहती है जिसे कम करने के लिए वे वर्तमान का अतिक्रमण कर जाते हैं। "स्मृतियों का मोह या पुनरावर्तन रूमानी लेखक की सबसे बड़ी प्रवृत्ति होती है यह

1- निर्मल वर्मा- दूसरी दुनिया - पृ0 38

काल्पनिक भविष्य के प्रति उतना ही आग्रहशील होती है जितना दूर या निकट के अतीत के प्रति।"[1] वह न मार्क्सवाद का विरोध करती है न यथार्थवाद का। अस्तित्ववाद के कारण कभी-कभी विद्रूपता आ जाती है। निर्मल वर्मा के कथापात्रों में "काम" के प्रति स्थान मिलती है जो एक चेतन व्यक्ति की स्वाभाविक रुचि है। इनकी कहानियों में कथ्य और शिल्प की नवीनता और मौलिकता प्रभाव की गहराई की ओर उन्मुख है। इनका "कलात्मक रचाव" काफी सादा और सचेत है जिससे इसकी सुरुचि सम्पन्न गरिमा का बोध होता है। "मार्कण्डेय के विचार में निर्मल वर्मा की रचनाशीलता "लेखक जीवन की वास्तविकताओं से दूर किसी ऐसे रचना संसार में उड़ानें भरता है जहाँ इसके भीतर का किशोर ही सब कुछ है- जहाँ कल्पना का सिरजा हुआ दु:ख है और दु:ख की पुरानी लीक"।[2] इनकी कहानियों का संसार भारतीय सामाजिक परिवेश से भिन्न प्रतीत होता है। निर्मल वर्मा के जीवन का अधिकांश समय विदेशों और महानगरों में ही व्यतीत हुआ अत: उनके कथ्य और पात्र उस विशिष्ट परिवेश से ही उद्भूत हुए हैं।

"परिन्दे" स्थूल धरातल के पूर्वाग्रह से मुक्त अन्तर्मन के सूक्ष्म यथार्थ की अभिव्यंजना करती है। नवीन और मौलिक भावधारा की उद्भावना इसे विशिष्ट बनाती है। जीवन के विघटित मूल्यों एवं धर्म के प्रति अनास्था के उदय का स्वर पूरी कहानी में व्याप्त है। भावात्मक संवेदनों और टूटती आस्थाओं का संश्लिष्ट प्रभाव पूरी कहानी को आवेष्टित किए हुए है। कहानी में एक छोटे से पहाड़ी शहर के मिशनरी

1- शिव प्रसाद सिंह- आधुनिक परिवेश और नवलेखन-पृ0 196

2- मार्कण्डेय - कहानी की बात- पृ0 18

पब्लिक स्कूल के जीवन की घुटन और निराशा का चित्रण है। इसके केन्द्र में है लतिका। इसका प्रेमी मेजर गिरीश जीवित नहीं है किन्तु उसकी स्मृतियाँ इन वर्तमान क्षणों में भी उसे जकड़े हुए हैं। वह अतीत जीती है। "वह अतीत से जुड़ा है इसलिए चेतना नहीं देता केवल कुछ क्षणों के लिए सेण्टिमेण्टल बनाता है। जो चेतना देता है वह कालातीत है।"[1] कान्वेन्ट स्कूल की वार्डन लतिका अपने स्वर्गीय प्रेमी से वियुक्त होकर भी अलग नहीं हो पाती। उसके प्रेम की स्मृतियां, संवेदना का दंश उसे पीड़ा प्रदान करता है और वह निसंग भाव से इस पीड़ा को भोगना चाहती है। स्मृति का पागलपन भी उन्मादक होता है वह वर्तमान पर आघात नहीं करता सिर्फ पीड़ा सहता है। प्रेमी का वियोग उसे यौन कुण्ठा से ग्रस्त किए है। परिणामस्वरूप वह अपनी छात्रा जूली के प्रेम प्रसंग पर क्रुद्ध हो जाती है। वार्डन के दायित्व बोध के दबाव के कारण वह जूली को प्रेम पथ पर बढ़ने से रोकती है। वह इस दायित्व के खोखलेपन को विसर्जित करके जूली के प्रति संवेदनशील हो हो उठती है और उसका प्रेम पत्र जूली की तकिया के नीचे दबा देती है। लतिका को अकेलेपन का विश्वास गहन हो उठता है। कुमाऊँ रेजीमेण्ट में रहने वाला मेजर गिरीश, बैण्ड की आवाज, फौजी बूटों का स्वर, चर्च के घण्टे की टन-टन, उदास संगीत, जंगल, पिकनिक सभी उसकी पीड़ा और व्यथा को उद्दीप्त करते रहते हैं। लतिका के वर्तमान जीवन में एक ठहराव है, दर्द है जो उसे आगे बढ़ने से रोकता है। पहाड़ के पीछे से आते हुए पक्षियों के प्रति उसकी सहज जिज्ञासा है वह सोचती है- " क्या वे सब भी प्रतीक्षा कर रहे हैं? वह डाक्टर मुकर्जी, मि0 ह्यूबर्ट। लेकिन कहाँ के लिए हम कहाँ जायेंगे ....।"[2] एक छोटे से वाक्य में समाहित छोटा सा प्रश्न व्यक्ति स्तर से उठकर

1- नामवर सिंह- कहानी नई कहानी- पृ0 75

2- निर्मल वर्मा- परिन्दे -मेरी प्रिय कहानियाँ- पृ0 68

युग व्यापी प्रभाव उत्पन्न करता है। इसकी अनुगूँज पूरे परिवेश में व्याप्त हो जाती है। यह व्यर्थता का बोध पूरी युवा पीढ़ी पर छाया हुआ है। "सितम्बर की शाम" युवकों पर भी उन्नीसवीं शताब्दी के सम्पूर्ण रूसी कथा साहित्य पर भी व्यर्थता का यह आभास अनुगूँज बनकर छाया हुआ है। चेखव की कहानियों में भी यही व्यर्थता बोध ध्वनित होता है "क्या किया जाये" एक व्यक्ति की अनुभूति जब व्यापकत्व को प्राप्त करती है तो उसके रचनाधर्मी होने में संदेह नहीं रह जाता। देखते देखते प्रेम की एक कहानी मानव नियति की व्यापक कहानी बन जाती है और एक छोटा सा वाक्य पूरी कहानी को दूरगामी अर्थवृत्तों से वलयित कर देता है। "हम कहाँ जायेंगे" यह वाक्य सारी कहानी पर अर्ध-गम्भीर विषाद की तरह छाया रहता है।"[1] वर्मा से लौटते समय डाक्टर मुकर्जी की पत्नी की मृत्यु हो जाती है। पत्नी वियोग की पीड़ा उन्हें दंश देती है। किन्तु वह उसको साहस के साथ नियति मानकर झेल लेते हैं। पीड़ा है पर वह अपना अस्तित्व भी बनाए हुए हैं। पहाड़ पर रोगियों के इलाज में वे अपने प्राण पण से संलग्न हैं। डाक्टर की एक आकांक्षा है जीवन में एक बार वर्मा जाने की, जहाँ उसका सुन्दर अतीत है उसका परिवार है उसकी स्मृतियाँ हैं फिर भी वह लतिका दिशा हीन नहीं। व्यक्ति स्तर पर झेले गए दुःख को वह समष्टि में प्राप्त करता है और समष्टि की पीड़ा को दूर करने की दिशा में प्रयत्नशील है। पत्नी का वियोग उसे समष्टि से संसक्त कर देता है। मिस्टर ह्यूबर्ट अपनी प्रेमिका शोभा से वियुक्त होकर लतिका की ओर आकृष्ट होते हैं यहाँ पर वह लतिका को अनजाने ही प्रेमपत्र भी भेज देते हैं किन्तु डाक्टर द्वारा लतिका के अतीत के बारे में ज्ञात कर परेशान हो उठते हैं। लतिका के पास रहकर भी वह उससे दूर है अलग है।

1- नामवर सिंह- कहानी:नई कहानी- पृ0 68

लतिका गिरीश नेगी से वियुक्त होकर भी उससे जुड़ी है। कहानी के मूल में इस टूटे हुए प्रेम की संवेदना तनाव उत्पन्न करती है। डाक्टर ह्यूबर्ट अपने को लतिका से अलग रखना चाहकर भी मन से अलग नहीं हो पाते। डाक्टर इन दोनों में मध्यस्थ की भूमिका निभाते हैं। पात्र उद्भ्रान्त, आत्मलीन, खोये-खोये से, असामान्य और अद्भुत जीवन जीते हैं। सुगठित कथा-संरचना, मनोगति की लय और बिम्बात्मकता के कारण कहानी मार्मिक हो उठती है। इसमें अनुभूति की प्रामाणिकता तो है यथार्थ की प्रामाणिकता नहीं ।

कहानी अपने यथार्थमूलक कलात्मक रचाव में "एकान्विति" उत्पन्न करती है। प्रभाव गहनतर होता जाता है। पात्र अलग नहीं है पूरे परिवेश में व्याप्त है अत: मानव-चरित्र प्राकृतिक वातावरण में किसी पौधे, फूल या बादल की तरह अंकित होते हैं लगता है वे प्रकृति के ही अंग हैं।" "परिन्दे" कहानी की छोटी छोटी स्कूली लड़कियां तथा मीडोज़, झरने, झाड़ियों, फूलों, चिड़ियों में कोई अन्तर नहीं है।"[1] लतिका का दर्द, अकेलेपन की व्यथा पूरे परिवेश में विभिन्न प्रभाव उत्पन्न करती है- कभी अनुकूल तो कभी प्रतिकूल।

सम्पूर्ण कहानी एक लय-छन्द में बंधा हुआ गीत प्रतीत होती है। प्रेमचन्द के "ध्रुपदगीत" के समान नहीं पियानों पर बजते शोपाँ के दर्द भरे गीत की तरह। यह संगीत पूरे वातावरण में घुल मिल जाता है" मानो जल पर कोमल स्वप्निल उर्मियाँ भँवरों का झिलमिलाता जाल बुनती हुई दूर-दूर किनारों तक फैलती जा रही हों।"[2]

1- नामवर सिंह -कहानी नयी कहानी- पृ0 72

2- निर्मल वर्मा- परिन्दे-कहानी और कहानी, सं0 इन्द्रनाथ मदान, पृ0 148

भाषा की संगीतमय धीमी धीमी लयात्मक चाल और प्रत्यक्ष को मनोहर रहस्य में बदल देने वाली शब्द-शक्ति निर्मल को कलाकार कहानी लेखक बना देती है। यहाँ निराशा की रोमांचक तस्वीर है जो कलेजे को काटती भी है और एक स्वाद भी देती है। स्पष्ट है, कि निर्मल वर्मा कहानी में संगीत की दृष्टि सौन्दर्य के लिए न करके सम्पूर्ण कहानी को संगीत मय रचना बनाने के लिए करते हैं। यह संगीत का "टोन" उनके व्यक्तित्व को विशिष्ट बना देता है। यह "टोन" उनकी भाषा में है जो कहानी में संकेतित हो उठता है। "परिन्दे" प्रतीक है उन भग्न हृदय प्रेमियों का जो अपने स्थान से विस्थापित हो चुके हैं- " क्या तुमने कभी महसूस किया है कि एक अजनबी की हैसियत से पराई जमीन पर जाना काफी खौफनाक बात है- - - ।"[1] डाक्टर की यह पीड़ा प्रेम के वियोग की पीड़ा ही नहीं है अपितु अपने देश से अलग होने की है, पराई भूमि में अजनबीपन की पीड़ा है। व्यष्टि से समष्टि की ओर अग्रसर होती यह कहानी मात्र व्यक्ति -प्रेम कथा नहीं रह जाती जीवन की समस्याओं से संलग्न होकर व्यापकत्व को प्राप्त कर लेती है। " निर्मल वर्मा की कहानियों के प्रभाव के पीछे जीवन की गहरी समझ और कला का कठोर अनुशासन है। बारीकियाँ दिखाई नहीं पड़ती हैं तो प्रभाव की तीव्रता के कारण अथवा कला के सघन रचाव के कारण ।"[2] रचनाधर्मी कहानीकार छोटी-छोटी घटनाओं और बातों को अर्थवान बना देते हैं। शाश्वत जीवन सत्य के जटिल और सूक्ष्म स्तर कहानी ही नहीं कहते,

---

1- निर्मल वर्मा -परिन्दे-कहानी और कहानी, सं0 इन्द्रनाथ मदान, पृ0 180

2- नामवर सिंह - कहानी:नई कहानी - पृ0 82

किसी विचार अथवा चरित्र को ही नहीं करते अपितु नवीन भाव बोध की स्थापना कर देते हैं।

निर्मल वर्मा की कहानियाँ भारतीय परिवेश की नहीं प्रतीत होती उनमें एक विशिष्ट महानगरीय परिवेश होता है। जहाँ कान्वेन्ट स्कूल के हॉस्टल, ईसाईयत के प्रभाव में पहाड़ी कस्बों का वातावरण और सारा वृत्त ही मानो अँग्रेजीपन से प्रभावित है। पाश्चात्य संगीत की धुन में अतीत की स्मृतियों की अनुगूंज है जो लतिका को उद्भ्रान्त रखती है फिर भी उसके मन में गिरीश नेगी के प्रति आकर्षण और उसकी मृत्यु-जन्य अभाव का दंश विशिष्ट होते हुए भी अतिपरिचित प्रतीत होते हैं। "परिन्दों का उड़ना" भ्रमित होना उसके अभावग्रस्त मनः स्थिति को अभिव्यक्ति देने में समर्थ है। परिन्दे सर्दी की छुट्टियों से पहले विस्थापित हो जाते हैं अजनबी अनजाने प्रदेशों में और पुनः वापस आ जाते हैं परन्तु लतिका अपने एकान्त में अतीत की स्मृतियों की उमर-कैद भोगते हुए पिंजरे के परिन्दे की भाँति छटपटाती रहती है। एक एकरसता पूरे परिवेश में व्याप्त है। अकेलेपन का चिन्तन प्रत्येक स्तर पर उद्घाटित होता रहा है। यह विचार और चिन्तन व्यावहारिक न होते हुए भी अनुभूति के जटिल स्तरों में जीवन की सार्थकता और असार्थकता की अभिव्यक्ति करता चलता है। वस्तु, चरित्र, भाषा, वातावरण यथार्थ दृष्टि में सभी में लेखक का अतीत जीवी "मूड" ही केन्द्र में है। "इन नगरों, वस्तुओं, व्यक्तियों का मिश्रित बोध निर्मल वर्मा के बोध के क्षितिज का विकास करते हुए अधुनातन बनाने में समर्थ होते हैं।"[1]

1- मार्कण्डेय - कहानी की बात - पृ0 18

आधुनिक बोध से युक्त वामपन्थी विचारधारा से निर्मल वर्मा पूर्णतया प्रभावित हैं। ये भावबोध सदैव उनके साथ रहते हैं। वे जागरूक और सचेत रचना दृष्टि से सम्पन्न हैं। "माया का मर्म" और "सितम्बर की एक शाम" बेकार नव-युवकों की कहानी है जो जीवन की व्यापक निरर्थकता की ओर संकेत करती हैं। आज का युवावर्ग बेरोजगारी की काली छाया से घिरकर नौकरी की प्रतीक्षा में जीवन को अर्थवान बनाने की प्रतीक्षा में लगा है। "नियतिवाद" प्रश्न चिन्ह बनकर पूरे परिवेश में व्याप्त हो रहा है किन्तु "लन्दन की एक रात" में जब बेरोजगारी की बेचैनी बढ़ती है तो वह शराब, होटल, सेक्स और मारपीट में डूब जाती है तो पाठकों की संवेदना घनीभूत नहीं होती बेकार युवक का अकेलापन कहीं से भयाक्रान्त नहीं करता।

अतीत से मुक्ति की कहानी "पिक्चर पोस्टकार्ड" में वर्णित है। लेखक ने सम्पूर्ण परिवेश को अतीत से उठाकर वर्तमान में समेट लिया है। वे आज की नई वास्तविकता से साक्षात्कार कराते हैं। मृत अतीत मानव जीवन को व्यर्थता बोध से नहीं भरता अपितु जड़ता भी प्रदान कर देता है।" तीसरा गवाह" कहानी में यथार्थ की चेतना पूरी तरह से उभर कर आई है। लेखक अतीत को छोड़कर वर्तमान की कटु वास्तविकताओं के ठोस धरातल पर आ जाता है। हमारे जीवन में ही ऐसी अनेक घटनाएँ हैं जिनका कारण-कार्य समझ में नहीं आता। "तीसरा गवाह" कहानी जीवन के जटिल आयामों को उद्घाटित करती है। वकील साहब की धारणाएं रोहतगी को संतुष्ट नहीं कर पाती। रोहतगी के विचार में स्वयं नीरजा भी इस निर्णय का वास्तविक कारण नहीं जान सकती। रोहतगी का दुःख मौन - भाव ग्रहण कर लेता है। "डायरी के खेल 'की बिट्टी तपेदिक की मरीज है। उसका अतीत उसके संग रहता है परन्तु भावुकता नहीं जगाता वह चुपचाप रोती है किन्तु

उसका स्वर सहज और शान्त है। यह सहज आत्मीयता निर्मल वर्मा की विशेषता है। बिट्टी मृत्यु से आतंकित होकर भी ट्रेन में नहीं मरना चाहती उसकी जिजीविषा उसे जीने के लिए प्रेरित करती है जीवन की यह लालसा आसन्न मृत्यु के भय को तीव्रतर कर देती है।

"अन्तर", "परिन्दे;" "जलती झाड़ी;" "अंधेरे में;" "लंदन की एक रात" कहानी संग्रहों में रूमानियत के नर्म धागों की बुनावट मिलती है अतीत का एक स्वप्न है जो उन्हें मोहाविष्ट रखता है। उनकी भाषा उसी प्रकार से रोमानी वातावरण की सृष्टि करती है। भावात्मक प्रेम के साथ इनकी कहानियों में अनाम "मैं" की सबसे बड़ी लालसा "काम" का दर्शन मिलता है। काम की स्वाप एक चेतन व्यक्ति की स्वान है। यह भावना शराब और नारी के शरीर पर जाकर केन्द्रित हो जाती है। "पराये शहर में", "सर्द; "अन्तर" और "जलती झाड़ी में इस स्नायविक उत्तेजना तथा कामातुरता की अभिव्यक्ति हुई है जो अश्लीलता और विकृतियों की सीमा का स्पर्श करती प्रतीत होती है। मूलत: काम की यह प्रवृत्ति एक मृग मरीचिका के समान व्यक्ति को व्याकुल किए रहती है।

निर्मल वर्मा की कहानियों में आधुनिकता बोध का स्वरूप अधिक मुखरित हुआ है इन्होंने युग की त्रासद विडम्बनाओं को, विवशता और लाचारी को अधिक व्यापक परिदृश्य में चित्रित किया है।

निर्मल वर्मा की भाषा शब्द के अभिधात्मक प्राचीरों को भेदकर सांकेतिक और व्यंजनात्मक हो उठती है। एक ऐसे मौन जगत की रचना होती है जहाँ शब्दों से परे केवल भाव रहते हैं। "भाषा में नव-आतंक की सहजता और ताजगी है, वस्तुओं के चित्रों में पहले पहल देखे जाने का अपरिचित टटकापन है।"[1] विशेष हीन

संज्ञाएं, उपमा रहित-पद और वाचक शब्द काव्यमय प्रभाव में आवेष्ठित कर लेते हैं। स्पष्टत: निर्मल वर्मा पर छायावाद का प्रभाव पड़ा है। "हरा आलोक", "धूम के दीप" "डबडबाता स्वप्न", "नीरव घड़ी", उद्भ्रान्त छाया", सफेद सागर नीला द्वीप", "नशीली झुरझुरी," आदि प्रयोग प्रसाद के रोमानी प्रयोगों के समान ही अद्भुत प्रभाव उत्पन्न करते हैं।

अस्तु प्रारम्भिक कहानियों के स्वप्निल लोक से निर्मल वर्मा धीरे-धीरे मुक्त होकर युग की वास्तविकताओं को अतीत और भविष्य की संवेतना से जोड़ने में प्रयत्नशील हैं। निर्मल वर्मा के सम्पूर्ण कथा साहित्य में अस्तित्ववादी धारणाओं और मनोदशाओं का प्रभाव परिलक्षित होता है।

कमलेश्वर

कमलेश्वर कहानी को मानव-केन्द्रित यथार्थ से सम्बद्ध मानते हैं। किसी वास्तविक जीवन स्थिति या सामाजिक दशा का अनुभूत चित्रण कहानी को प्रामाणिक बनाता है और किसी विचार या धारणा के अनुरूप पात्र या परिस्थितियाँ गढ़ने की प्रक्रिया यथार्थ की प्रामाणिकता को संदिग्ध। कमलेश्वर की कहानियाँ जीवन के इसी प्रामाणिक यथार्थ से निरन्तर जुड़ी हुई हैं। अस्तित्व, संत्रास, विसंगति, अनिर्णय की स्थिति, विवशबोध या यथार्थ स्थितियों का बोध प्राप्त करना कहानीकार को वह जीवन दृष्टि प्रदान करता है जो विभिन्न स्थितियों, घटनाओं और चरित्रों को विश्लेषित करने में समर्थ बनाता है। कमलेश्वर की कहानियाँ भाव बोध और चेतना के स्तर पर युगीन संक्रमण की परिचायक हैं। लेखक की रचना संवेतना

निरन्तर विकासमान होती रही है। वर्तमान जीवन के अन्तर्विरोध, द्वन्द्व एवं संघर्ष पूर्ण स्थितियों की पृथक-पृथक चेतना विभिन्न रूपों और स्तरों में संवेदित होती है। परिवर्तित सामाजिक संदर्भों में सतत् परिवर्तनशील परम्परा, परिवेश बोध और उसके यथार्थ स्वरूप के प्रति कमलेश्वर सदैव जागरूक रहते हैं। उनकी कहानियों का रूप और शिल्प भी निरन्तर बदलता रहा है। भिन्न-भिन्न मन:स्थितियों के अनुरूप उनकी रचना प्रक्रिया की दिशाएं भी बदलती गई। सामान्य मनुष्य के दु:ख-दर्द आशा, आकांक्षा उसके अभाव और संघर्ष तथा उसकी विवशतायें और मानवता आदि कमलेश्वर को निरन्तर उद्वेलित करते रहे हैं।

मनुष्य की द्वन्द्वात्मक मन: स्थितियों और संघर्षपूर्ण परिवेश का समन्वय करके एक ओर वे सामाजिक समस्याओं के मध्य मनुष्य की इयत्ता को महत्व प्रदान करते हैं दूसरी ओर बाह्य परिवेश से भी निरपेक्ष नहीं रहते। सामान्य मनुष्य के सुखात्मक दु:खात्मक स्थितियों से संयुक्त होने के कारण कमलेश्वर की कहानियों में विविधता दर्शनीय है। यही कारण है कि इनकी कहानियाँ निर्मल वर्मा की भाँति एक रस नहीं हैं। समाज-संपृक्त कमलेश्वर की कहानियां जीवनगत एवं परिवेशगत वास्तविकता के नए-नए आयामों को उद्घाटित करने में सक्षम हैं। सूक्ष्म-दृष्टि , विचार- वैविध्य एवं व्यापक परिदृश्य कहानीकार की रचना प्रक्रिया को निरन्तर विकासमान बनाये हुए हैं। उनकी कहानियों में विद्रोह का जो स्वर सुनायी पड़ता है वह भी उनकी विशेष मन: स्थिति का द्योतक है। युगीन कहानी के विकास का हर मोड़ और हर परम्परा इनकी कहानियों में व्यंजित हुई हैं। कमलेश्वर सामाजिक सम्बन्धों को मनुष्य की अनिवार्यता मानते हैं। वे किसी पूर्वाग्रह को लेकर रचना नहीं करतेअपितु जीवन का यथार्थ बोध ही उनकी प्रेरणा स्रोत है। साथ ही इस यथार्थ का वहन निम्न और मध्य वर्ग करता है जो आज के भयंकर संकट में अपनी

जिजीविषा बनाए हुए है। बदलते परिवेश तथा विघटित मूल्यों के बीच जीवन की आस्था को निरन्तर बनाए रखना अनुभव के स्तर पर उसे झेलना और इसकी संवेदनात्मक अनुभूति को सम्प्रेषणीय बनाना जटिल कार्य है। लेखक इस दायित्व के प्रति अपने को प्रतिबद्ध मानता है।

कमलेश्वर की कहानियों में कस्बाई मनोवृत्ति का अधिक चित्रांकन हुआ है। वे इस बात को स्वीकार करते हैं- लेखक का मानस भी एक ही होता है उसी से सारी रचनाएं निःसृत होती हैं। यदि वे विविध और व्यापक हो सकती हैं तो क्षेत्र विशेष उसमें सहायक ही होगा बाधक नहीं । यह जीवन मानस है और उसमें उठने वाले ज्वार संकल्प-विकल्प, संघर्ष और संवेदनाएँ कभी नहीं झुक सकतीं। प्रारंभिक कहानियों में कमलेश्वर ने कस्बाई जीवन की विभिन्न मनोवृत्तियों का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत किया है। कालान्तर में वे इस मनोवृत्ति से मुक्त प्रतीत होते हैं। मानव-मन में विद्यमान सौन्दर्य भाव को मूर्त करके चेतना और संवेदना शक्ति को उभारने में वे कुशल हैं। इनकी कहानियों में वर्णित कथ्य और पात्र यथार्थ की कठोर भूमि पर जमे रहते हैं। लेखक की मानवतावादी दृष्टि कहानी को गहराई प्रदान करती है। "राजानिरबंसिया" कहानी संग्रह की अधिकांश कहानियाँ कमलेश्वर की यथार्थ मूलक रचना शक्ति की परिचायक हैं। लोक कथा तत्वों का यथार्थपरक उपयोग कहानी को रचनाधर्मीआयामों से जोड़ता है। "राजानिरबंसिया" कहानी में मध्यवर्गीय दाम्पत्य जीवन की विडम्बनापूर्ण स्थितियों का गहरा तनाव व्यंजित हुआ है। स्त्री-पुरुष सम्बन्धों पर आर्थिक दबाव का कितना गहरा प्रभाव पड़ता है इस तथ्य को यह कहानी रेखांकित करती है। मध्यवर्गीय रुचि अरुचि पर भी आर्थिक विषमता का पूरा प्रभाव पड़ता है। जगपति और चन्दा अभावग्रस्त जीवन व्यतीत करते हैं।

पति की बीमारी में कम्पाउन्डर बचन सिंह आर्थिक मदद देकर उसके उपचार की व्यवस्था करता है साथ ही लकड़ी की दुकान खुलाकर रोजी रोटी की भी व्यवस्था कर देता है। अन्तत: निरबंसिया (नि:संतान) चन्दा को गर्भवती भी बना देता है। चन्दा की कलंक कथा समाज में उसे अभिशाप्त कर देती है। घटनाक्रम में कहानी में संघर्षपूर्ण तनाव बढ़ता जाता है। दु:खी होकर चन्दा भाग जाती है और जगपती कुण्ठा और ग्लानि से आत्महत्या कर लेता है। कहानी की संवेदना को घनीभूत करने के लिए लोक कथा का आधार लेता है। राजा की कहानी वर्तमान कथा की अन्तर्धारा के रूप में प्रवाहित होती है राजा निरबंसी है और जगपति भी। दोनों की पत्नियाँ पर पुरुष संग से गर्भवती हो जाती हैं और राजा तथा जगपति दोनों ही पुंसत्व हीनता की कुण्ठा झेलते हैं अन्तर यह है कि राजा सम्पन्न है और जगपति विपन्न। रानी का पर पुरुष प्रसंग मात्र एक संयोग है और चन्दा का आर्थिक अभाव का भयानक दबाव। राजा का सामाजिक कलंक धिक्कार की सीमा से परे है कुलदेवता अर्थात् धार्मिक आड़ भी ले ली गई है किन्तु जगपति आम आदमी है। अत: वह लांछित और अपमानित होता है। उसके पास न तो आर्थिक आधार है और न दैवी शक्ति। "उसी रात जगपति अपना सारा कारोबार त्यागकर, अफीम और तेल पीकर मर गया क्योंकि चंदा के पास कोई दैवी शक्ति नहीं थी और जगपति राजा नहीं, बचन सिंह का कर्जदार था......।"[1] कमलेश्वर ने लोक कथा की अर्थ गर्भित उद्भावना करके परम्परागत शिल्प को ही नवीनता प्रदान नहीं की अपितु वर्तमान कहानी की मूल संवेदना की मार्मिक अभिव्यंजना भी प्रस्तुत कर दी है। कहानी दो विभिन्न युगों में भिन्न स्तर के नैतिक मानदण्डों के अन्तर को स्पष्ट करती है। "दो कथाओं की विषमता दो युगों की विषमता की गहरी खाई

1- कमलेश्वर- राजा निरबंसिया- पृ0 109

पर ही रोशनी नहीं डालती, बल्कि वर्तमान वास्तविकता पर मीठा व्यंग्य भी करती है।"[1] सभ्यता और संस्कृति की विकासमान प्रक्रिया में आज का निम्न मध्यवर्ग पत्नी के अनैतिक आचरण को मान्यता नहीं दे पाता है। अतीत के राजा वर्तमान उच्च वर्ग का प्रतीक है। जहाँ नैतिक मानदण्डों पर इतना प्रतिबन्ध नहीं रहता। लोक कथा ने कहानी की अर्थवत्ता और व्याख्या की संभावना को व्याप-कत्व प्रदान किया है। कहानी में वर्णित विशेष घटना के माध्यम से मानवीय सत्य की उद्भावना की गयी है। जहाँ राजा धर्म की आड़ में अनैतिकता को प्रश्रय देता प्रतीत होता है उसी के समानान्तर जगपति अपनी तमाम विषमताओं के बावजूद विरोध करता है। आत्महत्या के रूप में हुआ यह विरोध एक ओर उसकी असमर्थता सिद्ध करता है दूसरी ओर अनैतिक मूल्यों के प्रति सजगता भी। कमलेश्वर पात्रों के चरित्र, पात्रों की स्थितियों में ही कहानी के सूत्र खोज लेते हैं। "राजा निरबंसिया" कहानी की बनावट गीतात्मक है। एक ओर राजा और रानी की कहानी मीठा कौतूहल जगाती है तो जगपति और चन्दा की कहानी अभाव और मूल्यों के ध्वस्त हो जाने की वास्तविक स्थितियों पर प्रकाश डालती है। कमलेश्वर की कहानियों में नए भाव सत्य के अनुसार कहानी का रूप निरन्तर बदलता रहा है।

"राजा निरबंसिया" के समान ही सामाजिक विसंगतियों और विद्रूपताओं और क्रूरताओं के बावजूद "कस्बे का आदमी" में सहृदयता और संस्कार निरन्तर अपना अस्तित्व बनाए हुए है। तोते के प्रति अटूट प्यार और अपनी असहायता की पीड़ा को लेकर जीने वाले छोटे महाराज पूरे परिवेश में व्याप्त हो जाते हैं।

1- नामवर सिंह- कहानी:नई कहानी- पृ0 29

लेखक यहाँ भी परिवेश-जीवन के विविध आयामों को उद्घाटित करने में प्रयत्नशील है। "इंसान और हैवान" में एक बेकार युवक की यातना और पुलिस की नीचता को संदर्भित किया है। "मुरदों की दुनियां," "देवा की माँ," "पानी की तस्वीर", "सुबह का सपना," "तीन दिन पहले की रात" आदि कहानियों में एक ही आदर्श और मूल्य की अभिव्यंजना की गई है। "नीली झील" कहानी कमलेश्वर की विशिष्ट रचना है।

"मुरदों की दुनियां" में क्लाई और ताश खेलने वाले लोग निवास करते हैं जो प्राइवेट बसों में सवारियों को भरने और उतारने की व्यवस्था में अपनी सार्थकता समझते हैं। परिवर्तन तब होता है जब सरकारी बसें आ जाती हैं और सीता सी साबित्तरी भी गोरख के सहयोग से अफीम बेचने का गुप्त व्यापार करने लगती है तथा उसी के साथ भाग भी जाती है। कहानीकार ने कस्बे के दैनिक जीवन को सूक्ष्मता से प्रस्तुत किया है। कस्बे के जीवन में मानवीय सम्बन्धों को अभिव्यक्त करती मार्मिक कहानी है- "आत्मा की आवाज" । इसमें नारी की विडम्बनापूर्ण स्थिति का चित्रण हुआ है। संकोचपूर्ण, लज्जालु, आकर्षक, और मोहक व्यक्तित्व सम्पन्न " भाभी " पर पड़ने वाली डाँट डपट और भाव भीनी विदाई भाभी का मौन नमस्ते आदि छोटी छोटी घटनाओं और व्यवहारों में कस्बे में रहने वाले सामान्य परिवारों की मनोवृत्ति झलकती है। पीढ़ी-संघर्ष का रूप "तीन दिन पहले की रात" कहानी में अभिव्यंजित हुआ है। माता-पिता की पारम्परिक मान्यताओं के प्रति बच्चों के विद्रोह का स्वर उभरने लगा है। माता-पिता की दृष्टि में बेटी मीनू के वर की अच्छाई उसकी नौकरी और पद प्रतिष्ठा में निहित है जब कि मीनू ऊँचे विचारों को ही महत्त्व प्रदान करती है। इसीलिए जितेन और अमर जैसे उच्च पदस्थ वरों की अपेक्षा मीनू को दिवाकर ही अच्छा लगता है किन्तु

कस्बे की लड़कियाँ अभी माता-पिता का खुलकर विरोध नहीं कर पाती अत: उसका अमर से विवाह हो जाता है। उसे वह प्यार भी करने लगती है परन्तु अमर की बाहों में आबद्ध होकर भी वह दिवाकर को नहीं भूल पाती। "दिल्ली में एक मौत" महानगरीय अमानवीयता की अत्यन्त मार्मिक कहानी है। सेठ जी का शव यात्रा में सज धजकर आना और व्यावसायिक सजगता का प्रदर्शन करना नगर की कृत्रिम और स्वार्थी मनोवृत्तियों पर तीखा व्यंग्य है।

"माँस का दरिया" कहानी में सामाजिक सम्बन्धों की टकराहट और संवेदनात्मक अनुभूति को गहराई से अभिव्यंजित किया गया है। "बयान" कहानी संग्रह में युगीन समस्याओं एवं नवीन मानसिकताओं तथा संक्रान्त सम्बन्धों को दर्शाया गया है। इस कहानी में न्यायतन्त्र के खोखलेपन और सरकारी व्यवस्था की जड़ता पर तीखा व्यंग्य किया गया है। फोटोग्राफर पति की आत्महत्या सरकारी तंत्र की जड़ता के संत्रास की कहानी है जो उसकी पत्नी को अदालत के कठघरे में ला जाकर खड़ा करती है। वकीलों के प्रश्नों का उत्तर देती हुई वह पति की यातना-पूर्ण जिन्दगी और परिणाम स्वरूप पति की आत्म हत्या का कारण बताती है जो अत्यन्त सशक्त और व्यंग्यात्मक है। वह सरकारी, गैर सरकारी प्रतिष्ठानों में व्याप्त अमानवीय स्थितियों का भंडाफोड़ भी कर देती है। "बयान" कहानी में राजनैतिक, सामाजिक संरचना और आचरण के विरुद्ध विद्रोह का स्वर मुखर होता है। उसकी व्यंग्यात्मक भाषा निर्मम प्रहार करती है। यह कहानी समाज तथा शासन में व्याप्त पाखण्ड और अन्याय पर कशाघात करती प्रतीत होती है।

एक ओर "तलाश" कहानी में यौन लालसा से संतप्त विधवा माँ और युवा बेटी से संवेदनात्मक सम्बन्धों का मार्मिक चित्रण हुआ है तो "उखड़ता हुआ मकान" में प्रौढ़ दम्पत्ति के पारस्परिक प्रेम और कलह का वर्णन किया गया है। जीवन और

परिवेश के व्यापक परिदृश्य में विस्तृत कमलेश्वर की कहानियाँ यथार्थ के ठोस धरातल पर स्थित है। कभी कभी फैन्टेसी का प्रयोग कहानियों को अस्वाभाविक बना देता है। "अपना एकान्त" में सोम के मुर्दे की हरकत में दैवी चमत्कार दर्शाया गया है।

कमलेश्वर की कहानियों में वर्तमान जीवन में आए ठहराव, मांस का दरिया बहाने वाली मजबूरी, भूख, बेकारी और बीमारी तथा पारिवारिक सम्बन्धों के विविध चित्र उभर कर आए हैं। लेखक ने जीवन के संश्लिष्ट और जटिल आयामों को अभिव्यक्ति प्रदान की है। कहीं मार्मिक तो कहीं व्यंग्यात्मक अभिव्यंजना कहानी के रूपात्मक और शिल्पगत सौन्दर्य में अभिवृद्धि कर देती है। शिल्प की दृष्टि से इनकी कहानियाँ अत्यन्त सुनियोजित और सजीव हैं।

मोहन राकेश

मोहन राकेश सामाजिक जीवन की अन्तर्दृष्टि और यथार्थ की संवेदना और चेतना को रचने वाले समर्थ कहानीकार हैं। समाज में व्याप्त मिथ्या आडम्बर, प्रदर्शन, खोखलेपन तथा अतृप्ति को दर्शाती मोहन राकेश की कहानियाँ नगर-बोध को प्रस्तुत करती हैं। " अपने आस पास के वातावरण में उड़ती हुई कहानियों को निःसन्देह मोहन राकेश ने उतनी ही तेजी से व्यक्त किया है जो मन में फ्लैश की तरह कौंध जाती है।"

आधुनिक व्यक्ति के नव विकसित दृष्टिकोण के मूल स्रोत में आधुनिक जीवन परिवेश, पाश्चात्य प्रभाव के साथ सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक परम्पराओं

1- नामवर सिंह- कहानी नई कहानी, पृ0 36

का भी प्रभाव पड़ता है। मोहन राकेश व्यक्ति को सामाजिक परिप्रेक्ष्य में ही चित्रित करते हैं। चेतना के स्तर पर उसका अलग अस्तित्व है किन्तु बोध के स्तर पर वह स्वतन्त्र और निरपेक्ष नहीं हो सकता। मोहन राकेश बोध के स्तर पर व्यक्ति को परिवेश जन्य प्रभावों सहित ग्रहण करते हैं। उन्होंने समाज के यथार्थ को विभिन्न स्तरों पर उद्घाटित किया है।

परिवर्तन की बलवती आकांक्षा वर्तमान में जीने का दर्शन और परिस्थितियों के अनुसार नवीन जीवन के आविर्भाव को ज्ञात करने की मानवीय संवेदना क्रमशः विकसित होती जा रही है। लेखक युग परिवेश के अंकन के माध्यम से उसमें निहित यथार्थ का संकेत, सहज अनुभूति के साथ कई स्तरों पर गतिशील होते व्यक्ति और समाज के विचार चिन्तन की खोज में संलग्न है। मोहन राकेश संवेदनशील हृदय , विघटनकारी स्थितियों और खण्डित विश्वासों के मध्य भी मानवीय आस्था के प्रति निष्ठावान हैं। युगीन स्थितियों और विसंगतियों के प्रति वे तीखा प्रहार करते हैं। इसीलिए सीमित संदर्भों से उठकर इनकी कहानियाँ व्यापकत्व की ओर अग्रसर हो जाती हैं।

"मलबे का मालिक" विभाजन की विभीषिका और उसके दुःखद परिणामों की कहानी है। मलबा उस भीषण नर-संहार के पश्चात् बची हुई त्रासद स्थितियों का प्रतीक है। उसी मलबे पर लकड़ी के चौखट पर बैठा कौआ लकड़ी के रेशे निकाल कर बिखेर रहा है और एक कुत्ता उस कौए को उड़ाने में व्यस्त है किन्तु कौआ और कुत्ता दोनों ही मलबे पर अपना अधिकार जताते हैं किन्तु मलबे का भी स्वतन्त्र अस्तित्व है। मलबे की आवाजें धीरे-धीरे गम्भीर स्वर में उठती हैं परन्तु तेजी से नहीं उभरने पातीं। मलबे का अस्तित्व बोध हमारी चेतना से सम्पृक्त हो जाता है।

बुढ्ढा गनी पाकिस्तान से अमृतसर आया है यहाँ उसका मकान था जहाँ वह स्वार्थ-वश अपने बच्चों को छोड़ गया था। रक्खे नामक पहलवान ने उसके परिवार को समाप्त कर घर पर कब्जा करना चाहा किन्तु एक तीसरे व्यक्ति ने घर को जलाकर मलबे में बदल दिया। रक्खे उसी मलबे का मालिक बन बैठा। "गनी" की सादगी और सहृदयता रक्खे का हृदय परिवर्तन कर देती है और हृदय परिवर्तन कौवे और कुत्ते में भी होता है किन्तु उसका अभावग्रस्त जीवन और स्वभावगत क्रूरता उसे इतनी द्रवीभूत नहीं करती कि वह मलबे की मालिकी छोड़ दे। हृदय परिवर्तन प्रेमचन्द युगीन आदर्श की ओर नहीं ले जाता वरन जीवन के यथार्थ पर ही स्थित रहता है। "मलबे का मालिक" मूल्य भंग और निर्माण की कहानी प्रतीत होती है। जहाँ एक ओर इमारतों का निर्माण हो रहा है तो मलबों के ढेर भी वहीं पर लगे हैं। प्रतीकों के माध्यम से लेखक कहानी को सांकेतिकता प्रदान कर देते हैं। एक केंचुआ भी अपने निवास के लिए सुराख की तलाश में आ जाता है। सम्पूर्ण कहानी टूटते मूल्यों की स्थापना करना चाहती है। यह मलबा अब इतिहास बन गया है उस पर किसी का अधिकार नहीं है न रक्खे का और न गनी का। कुत्ता ही इस मलबे का वास्तविक अधिकारी है वह प्रतीक भी है और कहानी का कथ्य भी। अज्ञेय के "शरण-दाता" से भिन्न स्तर पर मोहन राकेश विभाजन के दर्द और संत्रास को अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं। मनुष्य के निजी स्वार्थों के कारण आवेशमय स्थिति में जो व्यापक पागलपन विभाजन के रूप में विस्फोटित हुआ। उसके मानवीय सम्बन्धों में दरार उत्पन्न कर दी। इस वहशीपन के अन्दर भी कोमल मानव सम्बन्ध सूत्रों को लेखक लक्ष्य कर लेता है। यह कहानी परिवर्तित संदर्भों में प्रेमचन्द की आदर्शवादी परम्परा से प्रभावित है। इसमें इतिवृत्तात्मकता और सुसंगठित कथानक हैं जो व्यापक सामाजिक संदर्भों को समेटने के लिए प्रयत्न शील हैं। "आर्द्रा", "नये बादल", "उसकी रोटी", "परमात्मा का कुत्ता", "हक हलाल" जैसी कहानियों में जीवन के कटु

यथार्थ का चित्रण किया गया है।

वर्तमान युग में नगरों के जीवन मूल्यों में जितना विघटन आया है उतना अन्यत्र नहीं आया। मानवीय सम्बन्धों और पारिवारिक सम्बन्धों में भी तेजी से परिवर्तन आने लगा है। पति-पत्नी, भाई-बहन, मां-पुत्री के सम्बन्धों के अर्थ बदल गये हैं। चरित्रहीन भाई "कालारोजगार " में बहन के शारीरिक व्यापार पर गुलछर्रे उड़ाना चाहता है। पति-पत्नी "क्लास-टैंक " में तीसरे व्यक्ति के अहसास से कृत्रिम सम्बन्धों को निभाते हैं। एक ही युवक मां बेटी का समान रूप से प्रेम-पात्र बन सकता है। नगर बोध को विविध स्तरों पर मोहन राकेश विभिन्न कहानियों के माध्यम से अभिव्यक्त कर देते हैं। वर्तमान युग में चारित्रिक पतन को लक्ष्यकर "जानवर और जानवर" में पादरी की भ्रष्टता और क्रूरता दर्शायी गयी है। पादरी के चारित्रिक पतन के कारण ही पाल, पीटर और आण्टीसैली पादरी के महत्व को अस्वीकार करती हैं। मोहन राकेश के पात्रों में उत्पन्न सक्रिय विरोध सकारण है।

"एक और जिन्दगी" आधुनिक जीवन का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत कर देती है। नायक प्रकाश अपने और पत्नी के मध्य संदेह की दीवार खड़ी कर लेता है। आधुनिक युग में स्त्रियां जीवन के विविध क्षेत्रों में पुरुषों से आगे निकलती जा रही हैं। उच्च पदों को प्राप्त कर लेती हैं किन्तु जब वह स्त्री पत्नी-रूप में पुरुष के सामने आती है तो पुरुष हीन ग्रंथियों का शिकार हो जाता है। प्रकाश भी ऐसा पुरुष है। उच्च पदस्थ पत्नी के सम्मुख वह कुण्ठाग्रस्त रहता है। यहाँ तक कि रागात्मक सम्बन्धों में भी सहजता नहीं रह जाती।" सामाजिक विकास और जीवन के प्रति वस्तुपरक दृष्टि न रखने वाले आदर्शवादी को वास्तविकतायें कुण्ठित एवं अहंवादी बना देती हैं।"[1] बाह्य रूप से आधुनिक कहलाये जाने वाले प्रकाश के अन्दर एक रूढ़िवादी

1- मार्कण्डेय -कहानी की बात- पृ0 58

आत्मप्रेमी कुण्ठित और विकृत मानसिकता से ग्रस्त पुरुष विद्यमान है जो अल्प शिक्षित दब्बू स्त्री के सामने तो अपने पौरुष का प्रदर्शन कर सकता है स्वाधीन समर्थ नारी के सम्मुख नहीं। वर्तमान समाज में पुरुषों की यह मानसिकता भौतिकवाद के प्रभाव के कारण भी उपजी है जो पत्नियों से नौकरी तो करवाना चाहते हैं किन्तु अपने से नीचे ही।

पात्र और चरित्रों के यथार्थ रूप प्रस्तुत करने में मोहन राकेश दक्ष हैं। आधुनिक मध्यवर्गीय और निम्न वर्गीय जीवन से लिए गए पात्र विविध रूपों में चित्रित होते हैं। मोहन राकेश की व्यापक दृष्टि पूरे परिवेश और समाज पर है अतः इनके पात्र भी वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। "सेफ्टीपिन" कहानी यथार्थ परक अभिव्यक्तिजन्य है। इसमें उच्च वर्ग की पतनशील मनोवृत्ति और भ्रष्टता उद्-घाटित की गयी है। "मैं" की पतलून की बटनें टूट गई हैं। समृद्ध वर्ग की दावत में जाते समय "मैं" सेफ्टीपिन लगा लेता है और उस समाज में "मैं" प्रतिक्षण अपनी नग्नता के प्रति आशंकित है। उसकी इस हास्यास्पद प्रयास और दयनीय स्थिति के माध्यम से उच्च वर्ग की अहम्मन्यता और आडम्बर पूर्ण जीवन पर निर्मम व्यंग्य किया गया है। व्यक्तियों घटनाओं और परिस्थितियों को व्यापक संदर्भ में देख और पहचान कर ही उनका सही चित्रण किया जा सकता है। कहानी आखिर जीवन के द्वन्द्वों और अन्तर्द्वन्द्वों को ही तो चित्रित करती है। कहानीकार की दृष्टि इन द्वन्द्वों और अन्तर्द्वन्द्वों को पहचान कर साधारण से साधारण घटना के माध्यम से उनका संकेत दे सकती है।

कहीं कहीं मोहन राकेश रोमानी हो उठते हैं। जो छायावाद का प्रभाव है। "फौलाद का आकाश" में सितारा का कथन कितना अर्थगर्भित है-- "उसे लगा कि सितारा लॉन की घास पर उतर आया है, वहाँ से आँखें झपकता हुआ उसे ताक

रहा है। वह उठी और रबड़ की चप्पल वहीं छोड़कर लान में उतर गयी पास आकर देखा कि शबनम की एक अकेली बूंद उस सितारे को अपने में समेटे है।"[1]

मोहन राकेश सहज सरल भाषा में जीवन के गूढ़तम रहस्यों को उद्घाटित कर देते हैं। कहीं घुमाव या जटिलता नहीं किन्तु जीवन और समाज की जटिलता का सघन प्रभाव पाठक पर स्वतः पड़ जाता है। मोहन राकेश की रचनाधर्मी पहचान नाटकों से ही बनी है। उनका यह रूप कहानियों में भी उभर कर आ गया है। लेखक की सूक्ष्म दृष्टि अपने सघन अनुभवों को रचनात्मक प्रयोगों द्वारा कलात्मक वैशिष्ट्य प्रदान करती है। अन्तर्बाह्य की वास्तविकतायें बड़े ही प्रभावशाली रूप में अभिव्यक्त हो जाती हैं। यही इनकी यथार्थ रचनाशील लेखन की प्रामाणिकता है।

भीष्म साहनी

नई सामाजिक चेतना और नगर-बोध के कारण परम्परागत मान्यताओं और मूल्यों में बहुत तीव्र गति से बदलाव आने लगा है। इतना ही नहीं भावात्मक सम्बन्ध अनेक अन्तर्विरोधों से घिर गया है। यौन सम्बन्धों को लेकर लिखी गई इस समय की कहानियों में सम्बन्धों की जटिलता तो है पर ....।"[2] इस परिवर्तन और विडम्बना को व्यक्ति जितना अपने अर्थमूलक समाज में झेलता है उससे अधिक गहराई से संवेदनशील ....

1- मोहन राकेश-फौलाद का आकाश-पृ0 7।

2- डा0 मेलाराम शर्मा-आज की हिन्दी कहानी -पृ0 12

कहानीकार अनुभव करता है। मध्यवर्गीय मानसिकता से ग्रस्त व्यक्ति अनेक अन्तर्विरोधों से ग्रस्त हो जाता है। व्यक्ति और समाज के जीवन में व्याप्त इस विसंगति को भीष्म साहनी ने गहराई से समझा और पहचाना तथा उसे विविध परिदृश्यों में रचना शील बनाया। "चीफ की दावत" इनकी प्रसिद्ध कहानी है जिसका प्रारम्भ एक अन्तर्विरोधपूर्ण स्थिति से होता है। शामनाथ पदोन्नति के लोभ में अपने चीफ को दावत देता है और उसको अपने आडम्बर पूर्ण रहन-सहन के स्तर का आभास देने के लिए एक विडम्बनापूर्ण स्थिति पैदा कर देता है। घर को सुव्यवस्थित करने के लिए पुराना और फालतू सामान पलंगों और आलमारियों के पीछे छिपाने की प्रक्रिया में वह अपनी निरक्षर और वृद्धा माँ को भी व्यर्थ और पुराना सामान मान लेता है और उसे इधर उधर छिपाने की चेष्टा करता है। विडम्बना यह है कि पुत्र के इस कृत्य पर माँ को तनिक भी क्षोभ नहीं होता, अपितु वह अपने बेटे के हित में छिपने का प्रयास करती है। कहानी का चरम बिन्दु तब आता है जब उसकी माँ को चीफ दयनीय स्थिति में देख लेता है। चीफ का माँ के प्रति सौहार्द्रपूर्ण व्यवहार से माँ-पुत्र के वर्तमान सम्बन्धों पर एक प्रश्न चिन्ह लगा देता है9 वर्तमान युग में आत्मीय सम्बन्धों के पतनशील स्वरूप पर लेखक निर्मम प्रहार करता है। निरक्षर और वृद्धा माँ को अशोभनीय वस्तु को समझकर शामनाथ जैसे व्यक्ति निजी स्वार्थ-पूर्ति में बाधा समझ बैठते है अन्ततः वही माँ बेटे की पदोन्नति में सहायक हो जाती है। पारिवारिक एवं भावात्मक सम्बन्धों के बदलते प्रतिमान के अनेक अन्तर्विरोधों का उद्घाटन होने लगता है। यहाँ माँ और शामनाथ दोनों हीन भावना से ग्रस्त हैं। शामनाथ का कुण्ठित व्यवहार भौतिकवाद के दबाव में फँसे युवा वर्ग की ओर संकेत करता है। अपनी पदोन्नति के लिए वह इतना स्वार्थान्ध हो गया कि माँ-बेटे के बीच सहज आत्मीय भाव समाप्त-सा प्रतीत होता है। वर्तमान संदर्भों में माँ का

यह समझौतावादी व्यवहार प्राचीन पीढ़ियों की अस्तित्व हीनता का बोध कराता है। प्राचीन संस्कारों और मूल्यों की प्रतीक होते हुए भी माँ बदलते मूल्यों को सहज ही स्वीकार कर लेती है।

इस कहानी में एक ओर वर्तमान समाज के अन्तर्विरोधों और उससे उत्पन्न संकटपूर्ण स्थितियों का यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया गया है। साथ ही चीफ द्वारा माँ के प्रति सम्मान दर्शाकर चिरन्तन मानव मूल्यों की स्थापना भी की गई है। भीष्म साहनी वर्तमान विसंगतियों में भी अपनी मानवतावादी दृष्टि ही बनाए रखे हैं। प्रेमचन्द्र की "बूढ़ी काकी" और साहनी की "चीफ की दावत" की माँ में स्वभावगत अन्तर है। जहाँ बूढ़ी काकी अपनी उपेक्षा का यथा साध्य विरोध करती है बार बार कोठरी में पटक दिए जाने पर भी बाहर आ जाती है, शामनाथ की माँ वैसा नहीं करती। वह पुत्र की पदोन्नति की कामना से उसके कृत्य में सहयोग देती है। कहानी के माध्यम से लेखक मानवीय सत्य को अर्थगाम्भीर्य प्रदान करता है। यहाँ लेखक ने माँ के चरित्र में बेटे के प्रति अतिशय सहानुभूति दिखाकर कहानी की प्रभावा-न्विति आंशिक रूप से कम कर दी है। बदली हुई सामाजिक स्थितियों में माँ का अन्तर्द्वन्द्व व्याख्यायित नहीं हो पाता। पुरातन और नवीन विचारधारा का अन्तर्विरोध भी नहीं उभरने पाया वरन् सामाजिक संदर्भों में कृत्रिम आदर्श से जकड़ा रह गया। शामनाथ के व्यवहार द्वारा शाश्वत सम्बन्धों के खोखलेपन पर निर्मम व्यंग्य किया गया है। साथ ही चीफ का दावत की अपेक्षा माँ को महत्व देना और उसके कारण शामनाथ की पदोन्नति होना कहानी के अन्तर्विरोध को उभार देते हैं। विघटनकारी स्थितियों में भी मानव मूल्यों के प्रति लेखक का यह पूर्वाग्रह यथार्थ - चेतना से प्रेरित लगता है।

"खून का रिश्ता" कहानी में एक ही परिवार में एक ही स्तर पर रिश्तों में अन्तर आ जाता है। आधुनिक समाज में सम्बन्धों का निर्धारण अर्थमूलक हो गया है। मनुष्य की क्षमता और शक्ति के मूल में केवल धन और पद की मर्यादा विद्यमान है। नगर बोध के इस प्रभाव से मनुष्य के जीवन में सहजता का भाव नहीं रह गया है। अन्दर से टूटा और दु:खी मनुष्य ऊपर से सुखी और सम्पन्न दिखाना चाहता है। विशेषकर स्त्रियाँ इस कृत्रिमता के बोझ से दब गई है। "सिर का सदका" में नारी की इसी विडम्बना का चित्रण हुआ है। अन्दर ही अन्दर सौत के व्यवहार से अत्यन्त दु:खी और पीड़ित ईशुरी सौत के पुत्र होने पर प्रसन्नता व्यक्त करती है और सबका स्वागत करती है।

परिवार में जहाँ एक ओर उच्च पदस्थ और सम्पन्न सदस्य के प्रति विशेष भाव आने लगा है उसी प्रकार अभिजात्य वर्ग भी अपने पूर्व-सम्बन्धों के निर्वाह में सहज नहीं रह गया है। उसका दर्प उसे अपने लोगों से माता-पिता, भाई-बहिन, मित्र-सहपाठी से उन्मुक्त भाव से मिलने में बाधक हो जाता है। "कुछ और साल" कहानी में सुपरिन्टेंडेंट मधुसूदन शिवशंकर की उन्मुक्तता से मन ही मन अप्रसन्न होता है और अपनी व्यस्तता का आभास देने के लिए बार-बार घड़ी देखता है। साथ ही वह आतंकित भी है कि कहीं शिवशंकर "कुछ पैसे" न माँग ले।

नगरबोध के इन दुष्प्रभावों को भीष्म साहनी की कहानियों में स्वाभाविक अभिव्यक्ति मिली है। छोटी से छोटी घटना भी अर्थपूर्ण हो उठती है। आधुनिक जीवन पद्धति और कृत्रिम सम्बन्धों पर कटु व्यंग्य करती हुई इनकी कहानियाँ बदलते मानव-चरित्र और व्यवहार का उद्घाटन करती है। बच्चों की मानसिकता नगरबोध की कृत्रिमता से अधिक संक्रान्त हो गयी है। उसके अन्दर अनुशासन हीनता और

उच्छृंखलता का भाव आ गया है। पारस्परिक सम्बन्धों में सौहार्द का अभाव हो गया है। स्वार्थ और अहं ने मानव व्यवहार और चरित्र को विकृत कर दिया है। "माता-विमाता", "बीवर" और "भटकती राख" में नगर-बोध के दुष्प्रभावों पर निर्मम प्रहार करने से लेखक नहीं चूकता।

भीष्म साहनी वर्तमान समाज और उसके परिवर्तित जीवन -पद्धति पर सहजता से तीखा व्यंग्य कर देते हैं। उनकी संवेदनशील भाषा में प्रेमचन्द्र की सादगी है और है सामाजिक-यथार्थ के प्रति सजग, सचेत दृष्टि। छोटे-छोटी घटनाएँ विभिन्न स्थितियों में पात्रों के चरित्र का उद्घाटन करने में समर्थ हो उठती हैं। इनकी कहानियों के कथ्य में आये अन्तर्विरोध कथानक में नाटकीय मोड़ प्रस्तुत कर देते हैं और पात्र संकल्प-विकल्प की मन:स्थिति में उलझकर अपने कार्य-व्यवहार में विरोधा-भास उत्पन्न कर देता है फिर भी कहानी की एकान्विति और प्रभान्विति में आंशिक अंतर नहीं आने पाता। लेखक के रचना शिल्प में दोनों का कलात्मक समन्वय मिलता है। भीष्म साहनी दैनन्दिन जीवन में घटने वाली लघु और निरर्थक प्रतीत होने वाली घटनाओं को अर्थगर्भत्व प्रदान करने में कुशल हैं।

राजेन्द्र यादव

राजेन्द्र यादव जीवन सत्य के उद्घाटन और अन्तर्दृष्टि और यथार्थ-अन्वेषण के प्रति विशेष आग्रहशील हैं। सामाजिक चेतना और उसके दायित्व निर्वाह के प्रति जागरूकता उनकी रचनाओं को विशिष्ट अर्थ गाम्भीर्य प्रदान करती है। अपनी सूक्ष्म संवेदनात्मक अनुभूति से आधुनिक भाव-बोध और कलात्मक अभिव्यक्ति का सामंजस्य करके यादवजी ने अपने रचनात्मक वैशिष्ट्य का परिचय दिया है। सामाजिक संदर्भों में व्यक्ति की खोज और व्यक्ति के अन्तर्बाह्य में सामाजिक सम्बन्धों का

अन्वेषण करके मानव सम्बन्धों के अन्तर्विरोधों और जटिल एवं संश्लिष्ट आयामों को उद्घाटित करना लेखक की अपनी विशेषता है। यादवजी की सूक्ष्म एवं गहन दृष्टि जीवन और समाज की विभिन्न समस्याओं को समग्रता से विश्लेषित करके व्यापक अर्थगांभीर्य प्रदान करती है। व्यापक सामाजिक परिवेश से अन्त: प्रेरित और अन्त: ग्रथित होकर सूक्ष्म स्तरों तक पहुँचने की उनकी प्रवृत्ति उनकी सृजन:प्रक्रिया को जटिल एवं प्रभावपूर्ण बना देती है। राजेन्द्र यादव का सामाजिक यथार्थ जैनेन्द्र और अज्ञेय से अधिक व्यापक दृष्टि और यशपाल से अधिक अर्थ गांभीर्य युक्त होता है। जीवन के प्रति आस्था एवं संकल्प तथा मानवीय जिजीविषा ने उन्हें भावग्राही दृष्टि प्रदान की है। आधुनिक जीवन की विसंगतियों को व्यक्ति और समाज के संदर्भ में ही देखा जा सकता है। जीवन की छोटी से छोटी घटना-प्रसंग अथवा प्रभावपूर्ण स्थिति यादवजी की कहानी का उपजीव्य बन जाती है। समाज के विभिन्न वर्गों के पात्रों और चरित्रों की विभिन्न भाव-भंगिमाओं, विशेषताओं, संस्कारों और प्रवृत्तियों का अंकन करने में वे प्रयत्नशील रहते हैं। समाज में त्रस्त, निराश, कामजन्य कुण्ठा-ग्रस्त और पीड़ित वर्ग के प्रति वे संवेदनशील हैं। अधिकांश कहानियों में आधुनिक जीवन की विडम्बनापूर्ण स्थितियों और पात्रों के संघर्ष का चित्रण हुआ है। जीवन की कठोरता और विषमताओं से जूझता मनुष्य यादव जी की कहानियों में सजीव हो उठता है।

"जहाँ लक्ष्मी कैद है;" "बिरादरी-बाहर" "टूटना", "एक कमजोर लड़की की कहानी;" "छोटे-छोटे ताजमहल," "लँच टाइम;" "नीराजना" आदि कहानियों के माध्यम से राजेन्द्र यादव की यथार्थ-परक जीवन दृष्टि एवं रचना वैशिष्ट्य का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। "एक कमजोर लड़की की कहानी " के माध्यम से पत्नी और प्रेमिका की भूमिका निभाती हुई नारी की विडम्बनापूर्ण

स्थिति का चित्रांकन किया गया है। मानसिक अन्तर्द्वन्द्व से जूझती हुई सविता दोनों सम्बन्धों को ईमानदारी से जीना चाहती है। पतिव्रता पत्नी और निष्ठावान प्रेमिका की विषम स्थिति का यथार्थ रूप अभिव्यंजित हो उठा है। लेखक वर्तमान जीवन की विसंगतियों की ओर संकेत करता है। सविता का "ईमानदारी का ढोंग" इतना कष्टप्रद नहीं है जितना उसकी अनिर्णीत अवस्था का। उसकी ट्रेजडी यह है कि "वह दोनों में से किसी को अपने जीवन से झटक कर नहीं निकाल पाती।"[1] इस कहानी में सविता का यह मानसिक संघर्ष ही महत्वपूर्ण है। सविता के अन्दर पति और प्रेमी में से एक का त्याग करने की सामर्थ्य आते ही कहानी का समस्त अन्तर्विरोध और संघर्षपूर्ण स्थिति समाप्त हो जाती है। राजेन्द्र यादव की कहानियों में प्राय: इस प्रकार का उलझाव रहता है जो कहानी की स्वाभाविक गति को अवरुद्ध कर देता है। इस कहानी में अस्वाभाविकता इस सीमा तक आ गई है कि सविता पति के प्रति वफादारी के ढोंग में पूर्व प्रेमी को जहर देने को प्रस्तुत हो जाती है और अन्त में पति ही उसके प्रेमी की रक्षा कर लेता है। अतिरिक्त तीव्र संवेदना जगाने के लिए वे कहानी में जटिलता ले आते हैं कभी कथ्य में तो कभी पात्रों की मनः स्थिति में। फलस्वरूप चरित्र और कथ्य दोनों ही विचित्र प्रतीत होने लगते हैं। "जिन्हें समस्या को धीरे-धीरे सुलझाने की अपेक्षा परिश्रम से उलझाने में ही सुख मिलता है उनकी कला की यही गति होती है।"[2] बौद्धिकता का अतिरेक राजेन्द्र यादव

1- राजेन्द्र यादव- जहाँ लक्ष्मी कैद है भूमिका- पृ0 8

2- नामवर सिंह-कहानी, नई कहानी -पृ0 35

की कहानियों को दुरूह बना देता है जिससे कहानी की संप्रेषणीयता बाधित होती है। यथार्थ के प्रति उनकी दृष्टि भावात्मक न होकर बौद्धिक है इसी से इनकी कहानियाँ दुरूह और अस्पष्ट हो जाती हैं। सशक्त कथ्य होते हुए भी "एक कमजोर लड़की की कहानी" कमजोर ही रह गई। इसके विपरीत "जहाँ लक्ष्मी कैद है" कहानी में लेखक के यथार्थपरक रचना कौशल का परिचय मिलता है। "टूटना" कहानी में लेखक का रचनाधर्मी शिल्प निखर कर आया है। प्रत्येक शब्द अर्थगर्भित रूप में व्यंजित होता है। दो विरोधी संस्कारों से ग्रस्त लीना की विडम्बनापूर्ण स्थिति का चित्रण किया गया है। सम्पन्न वर्ग की आधुनिक संस्कारों में पोषित सरकारी अफसर की पुत्री लीना और निम्न मध्यवर्गीय गरीब और परिश्रमी किशोर के अन्तर्द्वन्द्व को उभारा गया है। किशोर आभिजात्य समाज की रहन-सहन की स्थिति से अपरिचित है। वह हीन भावना से ग्रस्त रहता है किन्तु अपने पौरुष और अहं के प्रति सचेत है इसी लिए वह लीना द्वारा छोड़ दिए जाने की नियति को सहता है। लीना की दूसरी सगाई हो जाती है। जब वह जनरल मैनेजर बनता है तो उसका अहं बोध जागृत हो जाता हैऔर वह भी मिस्टर दीक्षित ﴾लीना के पिता﴿ के चश्मे से ही देखने लगता है। उसके अन्दर उच्च पद और वर्ग बोध हावी हो जाता है और एक लालसा जागती है कि मिस्टर दीक्षित उसके पास आकर "मे आई कम इन" कहें। आठ वर्ष के बाद लीना द्वारा अतीत को भूल जाने के प्रस्ताव पर वह यही सोचता रह जाता है। "ऐसे ढीले तन और मन से अब जिन्दगी का ढर्रा बदलना- नये सिरे से नई जिम्मेदारियों को ओढ़ना- - - - - - और फिर आखिर उसे अब जरूरत भी क्या है? "वह" अब रहा ही कहाँ,जो ......"।[1] और वह एकदम टूट जाता है।

1- राजेन्द्र यादव-टूटना एक दुनिया: समानान्तर -पृ0 324

आधुनिक जीवन में किशोर जैसे युवा कुण्ठित और हीन भावना से ग्रस्त जीवन व्यतीत करते हैं। "टूटना" कहानी में किशोर की चरित्रगत विषमता का लेखक ने स्वाभाविक चित्रण किया है। उच्च वर्ग की उपहास करने की प्रवृत्ति किशोर के अन्दर भ्रम और कुण्ठा उत्पन्न कर देती है और वह मिस्टर दीक्षित से आतंकित भी रहता है। कालान्तर में वर्तमान जीवन की विसंगतियों का लेखक कलात्मक चित्रण कर देता है। "नीराजना" भी पारम्परिक बोझों से आक्रान्त और टूटी हुई एक लड़की की कहानी है जो स्वयं अपना रास्ता बनाती है। "छोटे-छोटे ताजमहल" प्रतीकात्मक कहानी है।

वर्तमान युग के समस्त संदर्भों दबावों से प्राप्त अनुभवों को आत्मसात् करके उन्हें पात्रों, स्थितियों में फैलाकर तटस्थ भाव से अभिव्यक्त करने में राजेन्द्र यादव सतत प्रयत्नशील हैं। एक ओर वे सामाजिक अथवा मानसिक स्थिति को लेकर किसी पात्र पर केन्द्रित कर देते है साथ ही उसके सूक्ष्म सूत्रों को उसकी समग्रता में चित्रित कर देते हैं। शिल्प के प्रति उनका सचेष्ट भाव और अतिरिक्त जागरूकता जहाँ कहानियों को कलात्मक स्वरूप प्रदान करती है वहीं यथार्थ के प्रति उनकी गहन दृष्टि और समझ उसके रचनात्मक संभावनाओं का निदर्शन कराती है।

उषा प्रियंवदा

भारतीय और पाश्चात्य परिवेश में 'मानवीय सम्बन्धों को रेखांकित करती उषा प्रियम्बदा का वैचारिक और रचनात्मक धरातल अत्यन्त गम्भीर, भावुक तथा बौद्धिक चिन्तन की गरिमा से सम्पुष्ट है। जीवन के अनुभवों की प्रामाणिकता इनकी कहानियों में सहज ही अभिव्यक्त हो जाती है। उषा प्रियंवदा की कहानियों में नगरबोध का स्वर निर्मल वर्मा की भाँति ही मुखरित हुआ है। आधुनिक समाज में

अर्थमूलक मानसिकता में व्यक्ति अकेलेपन की यातनापूर्ण जिन्दगी जीने को विवश है। परिवार और समाज में आये हुए विलगाव-बोध में पीढ़ी-संघर्ष का स्पष्ट संकेत मिलता है। समाज में घटित होने वाली विलक्षण और दुर्लभ घटनाएं कहानीकार को आकृष्ट करती हैं और वह संभाव्य परिवर्तनों को लक्ष्य कर देता है। उषा प्रियंवदा अपनी तीक्ष्ण एवं सूक्ष्म दृष्टि से समाज में होने वाली प्रत्येक गतिविधि और उसमें विद्यमान असंगत स्थितियों, तथ्यों और घटनाओं को देखकर समाज के सामने प्रस्तुत कर देती हैं। वर्जित सत्यों के उद्घाटन में अपूर्व साहस और सहजता भी परिलक्षित होती है। "चाँदनी में बर्फ पर," "मछलियाँ" और "सागर पार का संगीत" इनकी इस प्रवृत्ति के प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। इनकी कहानियों में नगरीय संस्कृति में व्याप्त स्वार्थ, कुण्ठा, अहं और उत्पीड़न की त्रासद स्थितियों एवं लुप्तप्राय मानव मूल्यों का अत्यन्त सूक्ष्म एवं हृदयग्राही चित्रण मिलता है। कहानियों के पात्रों के साथ अन्तरंग होकर विभिन्न मानवीय समस्याओं और उसके अस्तित्वगत प्रश्नों को प्रस्तुत करना उषा प्रियंवदा के रचना कौशल की अपनी विशेषता है। आधुनिक जीवन में भौतिकवाद और आर्थिक दबाव में समस्त प्रेम समाप्त होते जा रहे हैं। व्यक्ति आज किस प्रकार अपने समाज, परिवारऔर सम्पूर्ण परिवेश में असहाय और अजनबी हो गया है। अकेलेपन से उत्पन्न उदासी, बेबसी, ऊब और पीड़ा से भरे क्षणों को "वापसी" कहानी भलीभाँति चित्रित करती है। इस कहानी में पीढ़ी संघर्ष और आर्थिक दबाव में टूटते और विवश व्यक्ति की मनोवेदना को सूक्ष्म और कलात्मक दृष्टि प्रदान की गई है। लेखिका ने अपनी संवेदनशील दृष्टि से व्यक्ति की अपने ही परिवार में विस्थापित होने की विवशता तथा व्यर्थता बोध से उत्पन्न पीड़ा की सशक्त उद्भावना की है। रेलवे कर्मचारी गजाधर बाबू को सेवाकाल में व्यस्त होने के कारण, निरन्तर अपने परिवार से दूर

रहना पड़ा। अवकाश प्राप्ति के अनंतर सुख-शांति से जीवन व्यतीत करने की आशा-आकांक्षालेकर वे अपने घर आते हैं। किन्तु यहाँ आने पर उन्हें आभास होने लगा कि निरन्तर दूर रहने के कारण वह अपनी पत्नी और बच्चों के लिए अपरिचित और अपेक्षित हो गये हैं। उनके प्रति परिवार की उपेक्षा का एक कारण और भी है सेवा-मुक्त होकर पराश्रित होना। गजाधर बाबू की उपस्थिति पत्नी और बच्चों को अनावश्यक और असंगत प्रतीत होने लगी। गजाधर बाबू को पत्नी और बच्चों का आचरण और व्यवहार प्रतिपल कचोटता रहता है। ऊपर से शान्त किन्तु अन्दर स ही अन्दर वे टूटते रहते हैं। अपनी कमाई से पालित-पोषित बच्चे ही उनके अपने नहीं हैं। पत्नी की ओर से भी अपेक्षित प्रेम और सौहार्दपूर्ण व्यवहार नहीं मिलता। उनके बनाये घर का एक भी कोना ऐसा नहीं है जिसे वे साधिकार अपना कह सकें। पत्नी और बच्चों की उपेक्षा और आन्तरिकता का अभाव उन्हें हर क्षण दंश देता है। इस भरे पुरे घर में वे निःसंग और अजनबी होते जा रहे हैं। आधुनिक युग की अर्थमूलक पारिवारिक व्यवस्था में उनकी स्थिति दयनीय हो गई है। पहले जैसी रोक टोक और दखलन्दाजी बच्चों और बहू को असह्य होने लगी है। परिवार वालों को ऐसा लगता है कि गजाधर बाबू के आने से उनके जीवन में मानो अव्यवस्था आ गई है। अन्ततः वे एक निर्णय ले लेते हैं और अपने चिर परिचित रेलवे स्टेशन की चीनी मिल में नौकरी करने के लिए पुनः वापस हो जाते हैं। उनकी इस "वापसी" पर "किसी की आँखोंमेंआँसू नहीं। एक विषाद की छाया है जो क्रमशः गहरी होती जाती है। केवल दया नहीं, केवल सहानुभूति नहीं बल्कि जीवन के प्रति एक गहरी पीड़ा-बोध।"[1]

गजाधर बाबू की "वापसी" एक सामान्य घटना नहीं है। यह वर्तमान सामाजिक मूल्यों को हिलाकर रख देती है। कहानी के अन्त में वर्णित विषम स्थिति

1- नामवरसिंह-कहानी:नई कहानी-पृ0 179-80

विषाद और अवसाद को घनीभूत कर देती है। गजाधर बाबू की इस यंत्रणा और पीड़ा का उनके संकल्प के प्रभाव से पूरा परिवार अनभिज्ञ और असंपृक्त है। गजाधर बाबू उस समस्त वर्ग का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं जो सेवामुक्त होने पर उस त्रासदी को सहने, और झेलने के लिए बाध्य हैं। अपने ही घर में उनकी स्थिति एक चारपाई के समान है। मेहमान की भाँति कुछ दिन उनकी चारपाई न बैठक में ही रही फिर पत्नी के मालगोदाम जैसे कमरे में डाल दी गई। अन्ततः जिस दिन वे घर से गये सबसे पहले उस चारपाई को उन्हीं की पत्नी निकलवा देती है। "उनका अस्तित्व घर के वातावरण का कोई भाग न बन सका। अकेलेपन की अव्यक्त पीड़ा और घनीभूत विषाद की छाया के नीचे जब वे वापस लौटने लगते हैं तो केवल एक दृष्टि उन्होंने अपने परिवार पर डाली फिर दूसरी ओर देखने लगे और रिक्शा चल पड़ा।"[1] लेखिका ने अभीष्ट प्रभाव उत्पन्न करने के लिए इस बात का भी संकेत कर दिया कि परिवार को इसका आभास तक नहीं होता बल्कि अनासक्त भाव से उन्हें जाने देता है। इस प्रकार वापसी कहानी अर्थ मूलक समाज की अभिव्यंजना कर देती है। जीवन में घटित होने वाली सामान्य घटना के समान यह कहानी तटस्थता, विद्रूपता और तल्ख संवेदना को उभारती है। छोटी-छोटी घटनाओं के दृश्य चित्र सम्मिलित रूप में जीवन-मर्म को ग्रहण कर लेते हैं। सम्पूर्ण कथानक अनायास शिल्प में ढलकर कलात्मक हो उठा है। वर्णन की अपेक्षा चित्रात्मक ही कथानक की संवेदना को तीव्र करती है। लेखिका पात्रों के क्रिया कलापों एवं व्यवहारों के तथ्यपरक चित्रण द्वारा

1- उषा प्रियंवदा- वापसी : नई कहानियाँ- अगस्त 1960

इनके चरित्रों की उद्‌भावना कर देती है। उषा प्रियंवदा की कथन-भंगिमा में तीक्ष्ण चेतना स्वत: आ गई है। कथानायक की वापसी में करुणा की अजस्र धारा प्रवाहित हो रही है। आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से गजाधर बाबू की स्थिति आकस्मिक रूप से अत्यन्त हास्यास्पद और दयनीय प्रतीत होती है। पति के प्रति पत्नी की उदासीनता का कारण है बच्चों के प्रति अतिशय ममत्व एवं परोक्ष रूप से गजाधर बाबू का सेवामुक्त होना। इस प्रकार से कहानी में जीवन की विकट परिस्थितियों का यथार्थ चित्रण स्वाभाविक रूप से उजागर हो गया है।

"मछलियाँ" इनकी दूसरी सशक्त रचना है जिसमें नारी मन की दुर्बलताओं को सहज एवं कलात्मक रूप से चित्रित किया गया है। प्रबुद्ध एवं विचारवान होते हुए भी नारी का कोमल मन विभिन्न विरोधी भावों से युक्त रहता है। प्रेम है, तो ईर्ष्या का भाव भी है। ईर्ष्या सर्प की भाँति अपना प्रभाव छोड़ती है। सुकी, विजी और मनीष के सम्बन्धों में यही जहर घुल जाता है और वे अशान्त जीवन जीने को बाध्य हो जाते हैं। इसी प्रकार से शहरी जीवन और परिवार के अनुभूति प्रवण रूप प्रस्तुत करती कहानियाँ हैं-- "जिन्दगी और गुलाब का फूल", दृष्टि दीप", "जाले", "कच्चे धागे" आदि। इनकी रचनात्मक भाषा यथातथ्य वर्णन करने में पूर्णतया सक्षम है। ये कहानियाँ उषा प्रियंवदा की रचनात्मक क्षमता और संभावनाओं की द्योतक है। उषा प्रियंवदा की "वापसी" और जिन्दगी और गुलाब के फूल" कहानियों में पारिवारिक सम्बन्धों की जीवन्त टकराहट है। अन्य कहानियाँ स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के रूमानी जीवन को चित्रित करती है।

मन्नूभण्डारी

सामयिक युग-जीवन को संदर्भित करते हुए पारिवारिक और सामाजिक समस्याओं के विविध स्तरों का सूक्ष्मविश्लेषण और उनका यथार्थ -निरूपण मन्नू भण्डारी भण्डारी के संवेदनशील रचनाकार की पहचान है। परिवेशजन्य जीवन सत्य को प्रामाणिक अनुभव के रूप में ग्रहण कर एक नवीन मानवीय दृष्टि से पुर्नसृजन करने में वे पूर्ण तथा सक्षम हैं। व्यक्ति और समाज की विविध समस्याओं को अभी तक पुरुष के ही परिप्रेक्ष्य में आकलित किया जाता रहा। नारी केवल आदर्श त्याग और महिमामय आचरण में लिपटी कठपुतली ही समझी जाती रही। किन्तु आज वह अपने गुण-दोष,क्षमता-अक्षमता से समाज और परिवेश में अस्तित्वमान रहना चाहती है। नारी, मन के इन संक्रांत स्थितियों को मन्नू भण्डारी यथार्थ रूप में सहज ही चित्रित कर देती हैं। इनकी कहानियों में स्त्री-पुरुष सम्बन्धों में व्याप्त विभिन्न विकृतियों और समस्याओं के जटिल आयामों और प्रश्नों को विभिन्न कोणों से विश्लेषित किया गया है। पारिवारिक और सामाजिक संदर्भों में नारी मन की जटिल स्थितियों, उसके कार्यकारण सम्बन्धों तथा अन्तर्द्वन्द्वों का स्वाभाविक चित्रण करना ही मन्नू भण्डारी की कहानियों का उपजीव्य रहा है।

"रानी माँ का चबूतरा" कहानी में मन्नू भण्डारी ने नारी जीवन की पीड़ाओं और उसकी दयनीय स्थिति पर प्रकाश डाला है। समाज कैसा है कि, जो दयनीय है, निरीह है उन्हें निन्दा का पात्र समझता है। "रानी माँ"का चबूतरा" में पास-पड़ोस के सभी लोग गुलाबी को चुड़ैल कहते हैं, कर्कशा और बुरी आदतों वाली मानते हैं जब कि सत्यता इसके विपरीत है, वह तो बेचारी व्यथाग्रस्त है। लोग ऐसे व्यक्तियों की सहायता भी नहीं करते। जब वह अपने बच्चों को घर

छोड़ मजदूरी पर जाती है तो अगर उसका बच्चा नाली में गिर जाता है तो मुहल्ले के लोग उसे उठाते तक नहीं............"आ हा, बड़े आए बस्ती वाले। पहले कोठरी खोलकर जाती थी तो मेरा छोरा सरकते-सरकते मोरी में आकर गिर गया। किसी ने उठाया तो नहीं। बड़े अपने बनते हैं। छोरा भी तो न जाने किसी माटी का बना हुआ है, सारे दिन मोरी के सड़े पानी में सड़ता रहा पर मरा नहीं, मर जाता तो पाप कटता।" परिस्थिति से पीड़ित नारी के लिए इसके अतिरिक्त कहने को और क्या रह जाता है।" आज हर नारी इसी तरह जुड़ और टूट रही है और पड़ोस के लिए रहस्यमयी बनी हुई है।"[1]

मन्नू भण्डारी नारी को उसके घुटन से मुक्त करना चाहती हैं उन्होंने कहा है- "मैं नारी को उसके घुटन से मुक्त करना चाहती हूँ उसमें बोल्डनेस देखना चाहती हूँ .... और देखिए बोल्डनेस हमेशा दृष्टि में ही होनी चाहिए। लर्फन में नहीं। मैंने अपनी कहानियों में इसे इसी रूप में चित्रित किया है।"[2] "यही सच है" ऊँचाई," "क्षय," "तीसरा आदमी" जैसी कहानियों में स्वातन्त्र्योत्तर भारत के महानगरीय स्वरूप का स्वाभाविक चित्रण प्रस्तुत किया है। विभाजन के बाद की खण्डित इकाइयों के दर्द को मन्नू भण्डारी ने नए रूप में चित्रित किया है। उनकी कहानियों का विकास स्वतन्त्र भारत की बदलती हुई परिवार व्यवस्था के अनुसार देखा जा सकता है।

"संख्या के पार" कहानी सम्बन्धों की विसंगति से उभरी युवती की कहानी है। प्रमीला की विधवा माँ किसी के साथ भाग जाती है। प्रमीला के पालन-पोषण

1- डा० संत बख्श सिंह- नई कहानी कथ्य और शिल्प- पृ० 120-121

2- वंशीधर, राजेन्द्र मिश्र-मन्नू भंडारी का श्रेष्ठ सर्जनात्मक साहित्य- पृ० 10।

का भार आजी-दादा वहन करते हैं। एक बार जब प्रमीला की माँ अपनी बेटी को देखने आती है तो बाबा उसे घर में नहीं आने देता। वह वापस चली जाती है। प्रमीला के मन में अपनी माँ को देखने की लालसा तो है लेकिन खुलकर प्रकट नहीं कर सकती। एक दिन कालेज से लौटने के बाद प्रमीला ने देखा कि पीछे भण्डार-घर में जमीन पर चटाई पर माँ और आजी आमने-सामने बैठी रो रही हैं। प्रमीला अपनी माँ की छाती से लग गयी थी। बाबा के आने की आवाज से वह काँपने लगती है। बिल्कुल अप्रत्याशित रूप से दस हजार का चेक उसके सामने फेंक कर पिता कहता है-- "सुनती हो लो यह चेक इसे दे दो और कह दो रूपये पैसे की तकलीफ न देखे..... जैसे तैसे अपनी बात पूरी की और गला रूँध जाने के कारण बिना अपना वाक्य पूरा किए लौट पड़े।"[1] प्रमीला की माँ बेटी को बाँहों में भर के अपनी मुट्ठी में बन्द, पसीजा और मिसमिसाया सा पाँच रूपये का नोट प्रमीला के हाथ में थमाकर झटके से बाहर चली जाती है। प्रमीला के सामने "दस हजार" का चेक पड़ा था और हाथ में पाँच का नोट.... आँसू भरी आँखों के सामने उसे लगा जैसे दोनों का रूप अस्पष्ट से अस्पष्टतर होते जा रहे हैं... धीरे ....धीरे उस चेक और नोट का रूप रंग, आकार का अन्तर घुलकर एक हो गया.. यहाँ तक कि संख्याएँ भी अनपहचानी हो उठी और रह गए उसके गालों से ढलके आँसू.....बाबा की लौटती खट-खट और पत्थर बनी बैठी आजी।"[2] मन्नू भण्डारी अपनी कहानियों के माध्यम से

1- मन्नू भण्डारी-"संख्या के पार"- एक प्लेट सैलाब-पृ0 94

2- मन्नू भण्डारी- "संख्या के पार"- एक प्लेट सैलाब, पृ0 95

दाम्पत्य जीवन की विसंगतियों विरोधाभासों और अन्तर्विरोधों को प्रत्यक्ष करके सामयिक समस्याओं उससे उत्पन्न कुण्ठा, हीन भावना तथा त्रासद स्थितियों तथा उनके कारणों से साक्षात्कार कर देती हैं। व्यक्ति और परिवेश के विसंगत कोणों के साथ ही उनके मध्य व्याप्त रहस्यमय छद्मों को उभारने में वे सतत प्रयत्नशील रही हैं। पुरुष की उपेक्षा और अवमानना से संतप्त और आहत नारी की विच्छिन्न स्थितियां, अपने अस्तित्व और अस्मिता की खोज में निरन्तर संघर्षरत, वैचारिक और बौद्धिक स्तर पर सचेत नारी को मन्नू भण्डारी नवीन दृष्टि से स्वाभाविक अभिव्यक्ति प्रदान कर देती है।

"अकेली" कहानी में सोमा बुआ के संत्रास का तात्कालिक रूप उभर कर आया है। आधुनिक जीवन की सबसे बड़ी विडम्बना है अपने परिवार, समाज, वर्ग, परिवेश तथा स्वयं से भी अजनबी हो जाना। नारी की स्थिति उससे भी विषम है। पति का अधिकारपूर्ण दबाव भी उसे निरन्तर प्रताड़ित करता रहता है। पुत्र पति के संन्यासी हो जाने पर सोमा बुआ अपने अकेलेपन की ऊब और संत्रास को दूर करने के लिए नई राह बनाती है। पास-पड़ोस के कामकाज में भाग-दौड़कर अपनी आजीविका और मनोरंजन दोनों की ही व्यवस्था कर लेती है किन्तु यदा-कदा जब पति आता है तो पत्नी के इस कार्य के प्रति आक्रोश व्यक्त करता है और दोहरे स्तर पर उसे उत्पीड़ित करता है। एक ओर वह घर से पलायन करके सोमा बुआ को गृहस्थी के सुख से वंचित किए हैं और दूसरी ओर उसे जीने का अधिकार भी नहीं देना चाहता। बुआ इन समस्त स्थितियों में भी जिजीविषा बनाए है। कहानी का एक मार्मिक पहलू और भी है गाँव-समाज में उपेक्षित जीवन जीने की पीड़ा।

गाँव के भगीरथ के यहाँ देवर की ससुराल की किसी लड़की की शादी होने वाली है। सोमा बुआ अंगूठी सैंप, उपहार खरीदकर "बुलावे" की प्रतीक्षा करती हैं

परन्तु वहाँ से बुलावा नहीं आता। अकेलेपन की यह पीड़ा उसे असहाय बना देती है। कहानी की मूल संवेदना सोमा बुआ की आशा-आकांक्षा है जिसमें वह प्रतीक्षा करती है। वह अपने परिवेश और समाज में पति की उपेक्षा जन्य पीड़ा को दूर करने का जो सम्बल उसने खोजा था वह भी उससे छिन गया। कहानी का अन्त अत्यन्त करुण हो गया है।

मन्नू भण्डारी की कहानियाँ सामाजिक संदर्भों और संघर्षपूर्ण स्थितियों के विविध अनुभव को उभारने में सफल हैं। ये कहानियाँ मानवीय पीड़ा और मानवीय अनुभूति को सहज और स्पष्ट रूप में अभिव्यक्त कर देती हैं। कहीं इन कहानियों में व्यंग्य उभरता है तो कहीं करुण अवसाद ध्वनित हो उठता है तो कभी नारी मन की ऊहापोह का चित्रण होता है तो कभी पुरुष की लिप्सा की शिकार नारी की पीड़ा का अंकन हुआ है।

इस प्रकार अपनी कहानियों से मन्नू भण्डारी ने वर्तमान समाज के विभिन्न यथार्थों को सफलतापूर्वक चित्रित करने में भली भाँति समर्थ हुई हैं।

धर्मवीर भारती

प्रगतिशील आन्दोलनों से जुड़े होने पर भी धर्मवीर भारती की रचना प्रक्रिया में आस्था, विश्वास तथा संघर्षपूर्ण क्षमता के दर्शन होते हैं। ये किसी वाद अथवा सिद्धान्त को लेकर रचना नहीं करते, अपितु व्यक्ति और परिवेश के सम्बन्धों से निर्मित होते बिल्कुल नए अनुभवों की गहरी स्वीकृति अथवा चिर परिचित जगत के किसी बिन्दु अथवा कोण से करते हैं। उनकी कहानियों में मानवीय संवेदना का

यथार्थ रूप चित्रित है। वे समाज में व्यक्ति की प्रतिष्ठा और गरिमा बनाये रखना चाहते हैं। संख्या में कम होते हुए भी उनकी कहानियों की गुणवत्ता असंदिग्ध है। "गुलकी बन्नो," "सावित्री नम्बर दो," "यह मेरे लिए नहीं," आदि कहानियों के माध्यम से व्यक्ति और समाज दोनों का सामंजस्य स्थापित किया गया है।

समाज के कटु यथार्थ को भारती जी ने स्वयं झेला है। इसीलिए स्वानुभूति के यथार्थ स्तर पर उसका प्रभावशाली मार्मिक चित्रण किया है। कवि की भावुकता और संवेदना उनकी कहानियों में सौन्दर्य बोध और कलात्मकता उत्पन्न कर देती है। इनकी कहानियों पर समाज, वर्ग, और युगीन समस्याओं एवं विषम परिस्थिति-जन्य संघर्ष का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। अपने अतीत और भविष्य से कटकर जीवन जड़ हो जाता है। मनुष्य अतीत और आगत के प्रति, बाह्य और अन्तर के प्रति निःसंग नहीं रह सकता। यह अनस्तित्व से अस्तित्व की खोज उनकी रचनाओं में विद्यमान है।

सामाजिक यथार्थ को तटस्थ भाव से ग्रहण करने वाली कहानियाँ हैं "चाँद और टूटे हुए लोग", "मुर्दों का गाँव", "यह मेरे लिए नहीं", "कुलटा" तथा "मरीज नम्बर सात" में नैतिक मूल्य, सामाजिक एवं वैयक्तिक आलोचना का स्वर उभरा है। "धुआँ" कहानी में सांकेतिकता उभर कर आयी है चरित्र विश्लेषण की दृष्टि से "गुल की बन्नो" रचनात्मक विशेषताओं और गंभीर अर्थवत्ता के कारण सर्वश्रेष्ठ कहानी है।

"बन्द गली का आखिरी मकान" और "सावित्री नम्बर दो" में कुण्ठा और मृत्युबोध है। "बंद गली का आखिरी मकान" कहानी का मुंशी, बिरजा और उसके

बच्चों का सहारा है। बिरजा के पति ने उसे बच्चों के साथ निकाल दिया था। बड़ा लड़का राधेश्याम पढ़ने में तेज था। एफ0ए0 के बाद उसे नौकरी भी मिली थी। उसकी शादी एक अच्छे खानदान मे होने वाली थी। कायस्थ जाति के मुंशी का उसके साथ रहना मुहल्ले वालों को अच्छा नहीं लगता। बुखार से पीड़ित मुंशी मरते दम तक बिरजा और बच्चों की शुभकामना करता हुआ उनके साथ ही रहा। बिरजा की माँ हरिया, छोटा लड़का हरिराम से कहती है- मुंशी जी हम लोगों के सिर माथे पर हैं। बाप बराबर हैं। दोनों बच्चों को लिए तेरी महतारी दर-दर टुकड़ा माँगती, अगर मुंशी जी सहारा न देते। जो रक्षा करे वही बाप। ठोकर देकर जो आधी रात निकाल दे और पहुरिया की सिढ़ढ़ी पर अफीम खाये पड़ा रहे, "तो काहे का बाप।"[1] हरिया को यह बात लगती है। यही कारण है कि मुंशीजी की मृत्यु पर हरिया ही एक पुत्र की तरह बिलबिला कर रो पड़ता है। कहानी मानवीय सम्बन्धों के जटिल आयामों को उद्घाटित करती चलती है। जिस बिरजा के कारण मुंशी जी को अपने परिवार और समाज में उपेक्षित और लांछित होना पड़ा वही उसे छोड़ देती है और जो हरिया पहले मुंशी जी को पिता के रूप में नहीं स्वीकार कर पाता वही हरिया पुत्र के समान मुंशी जी को सुहाता है और अन्त तक सेवा करता है तथा मृत्यु पर दु:ख और पीड़ा से कातर हो उठता है। कहानी का अन्त अत्यन्त त्रासद है।

"यह मेरे लिए नहीं" कहानी एक संघर्षशील और सर्वहारा दीनू के माध्यम से जीवन मूल्यों की स्थापना करती है। पितृहीन बालक ट्यूशन करके पढ़ता है। माँ

1- धर्मवीर भारती- "बन्द गली का आखिरी मकान- पृ0 87

उसी पैसे से पुश्तैनी मकान की दरारें भरती है ये दरारें और मकान माँ के प्राचीन मूल्यों और ध्वस्त मान्यताओं के प्रतीक हैं जिनकी रक्षा उसकी माँ करना चाहती है। दीनू माँ द्वारा शोषित हो रहा है। पिता के प्यार के साये से और माँ के विश्वास से वह वंचित है। आर्थिक संघर्ष में उसका व्यक्तित्व नष्ट होता जा रहा है। ईश्वर का अहसास था वह भी नहीं रह जाता अन्तत: माँ की मूक वेदना और समर्पण की भावना दीनू की पीड़ा को सघन कर देती है।

भारती जी की सम्पूर्ण कहानियों में अनुभव की गहराई और सघनता व्याप्त है। लेखक के पास अनुभव की प्रामाणिकता और भाषा पर अधिकार, दोनों हैं। विभिन्न भाव बोधों से व्यक्ति-जीवन तथा परिवेश के जीवन्त सम्बन्धों को वे कलात्मक रूप में अभिव्यंजित कर देते हैं।

शिव प्रसाद सिंह

स्वातन्त्र्योत्तर कहानीकारों में शिवप्रसाद सिंह अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इन्हें प्रेमचन्द-परम्परा का कहानीकार माना जाता है। शिवप्रसाद सिंह की मान्यता है कि भारत गाँवों में है न कि शहरों में। यही कारण है कि उनकी कहानियाँ गाँवों के यथार्थ से जुड़ी हैं।

शिवप्रसाद सिंह की कहानियों में यथार्थ का चित्रांकन भी है और मानव मूल्यों की रक्षा का स्वर भी। वे मनुष्य और उसकी जिन्दगी को महत्व देते हुए लिखते हैं ---"मनुष्य और उसकी जिन्दगी के प्रति मुझे मोह है जो अपने अस्तित्व को उभारने के लिए विविध क्षेत्रों में विदेशी शक्तियों से जूझ रहा है, अंधविश्वास

उपेक्षा, विवशता, प्रताड़ना, अनुचित, शोषण, राजनैतिक शोषण और भ्रष्ट व्यवस्था के नीचे पिसता हुआ भी जो अपने सामाजिक और मनोवैज्ञानिक हक के लिए लड़ता है, हँसता है, रोता है, बार-बार गिरकर भी जो अपने लक्ष्य से मुँह नहीं मोड़ता, वह मनुष्य तमाम शारीरिक कमजोरियों, मानसिक दुर्बलताओं के बावजूद महान है। वे आधुनिकता को एक मूल्य के रूप में स्वीकार नहीं करते।"

"दादी माँ", शिवप्रसाद सिंह की एक बहुचर्चित ग्राम्य-जीवन का चित्रण करने वाली कहानी है। "नन्हों" शिवप्रसाद सिंह की एक सशक्त कहानी है, जिसमें भारतीय नारी के अनन्य प्रेम का चित्रण है।

"बिन्दा महराज" एक सशक्त यथार्थ बोध की कहानी है, बिन्दा महराज एक पूरे वर्ग के प्रतिनिधि हैं। जिसके प्रति समाज की संवेदनशील दृष्टि क्या मोड़ ले- चिरन्तन प्रश्न चिन्ह है।

शिवप्रसाद सिंह ऐसे कहानीकार हैं जो मानव के प्रति प्रतिबद्ध हैं। उनकी कहानियों में व्यक्ति की कुण्ठा, संवेदना और व्याकुलता का चित्रण बहुत बारीकी से किया गया है। उनकी कहानियों के पात्र सजीव हैं उनमें विषम परिस्थितियों में भी जीवन के प्रति आशाजनक दृष्टिकोण सदैव बना रहता है। उनकी कहानियों में अनास्था के बीच आस्था स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। पारिवारिक अन्तर्विरोधों के अतिरिक्त उन्होंने ग्राम्य जीवन की विसंगतियों, राजनीतिक दुष्प्रभावों और उनके बीच में मनुष्य की विभिन्न लाचारियों को भी चित्रित किया है।

आंचलिक कहानियों के क्षेत्र में भी शिवप्रसाद सिंह अग्रणी हैं। ग्राम्य जीवन की विसंगतियों को उन्होंने अपनी कहानियों का आधार बनाया है। "बीच की दीवार" "कर्मनाशा की हार", "मुरदा के बादल", में ग्रामीण विसंगतियों का बखूबी चित्रण हुआ है।

"कर्मनाशा की हार" कहानी व्यक्ति के संघर्ष की कहानी है जो अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए विविध क्षेत्रों में विरोधी शक्तियों से जूझ रहा है। कहानी का प्रमुख पात्र भैरो पाण्डे ऐतिहासिक शक्ति का प्रतीक मालूम होता है। मुखिया समाज को दण्ड देना चाहता है और तब भैरो पाण्डे विद्रोह करता है-

"जरूर भोगना होगा मुखिया जी .... मैं आपके समाज को कर्मनाशा से कम नहीं समझता। किन्तु मैं एक -एक के पाप गिनने लगूँ तो यहाँ खड़े सारे लोगों को परिवार समेत कर्मनाशा के पेट में जाना पड़ेगा.... है कोई तैयार जाने को....।"[1]

शिवप्रसाद सिंह की कहानियों में समाज के आवरण मूलक तत्वों के विरुद्ध विद्रोह का स्वर इसी तरह मुखरित हुआ है।

फणीश्वर नाथ रेणु

फणीश्वर नाथ रेणु माटी की सोंधी गंध और आंचलिक जीवन से स्पंदित यथार्थ को रचनाशील बनाने का सफल प्रयत्न किया। गाँव के आंचलिक जीवन को रेणु ने अपनी कहानियों का भी उपजीव्य बनाया। उन्होंने बिहार के क्षेत्रीय एवं आंचलिक जीवन पद्धति, रीति-रिवाज, रूढ़ि-विश्वास, लोक-प्रचलित अंध विश्वास, मौलिक मान्यताएँ, लोक गीत नृत्यादि का चित्रांकन कर ग्राम्य जीवन का मनोविश्लेषण प्रस्तुत किया। आंचलिकता यथार्थ बोध की चेतना से अनुप्राणित एक नया भाव बोध है। राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक परिवर्तनों को लक्ष्य

1- शिव प्रसाद सिंह- कर्मनाशा की हार- कथा भारती सं0 (डा0 कैलाश प्रसाद सिंह, डा0 जगदीश गुप्त आदि)- पृ0 178

कर रेणु ने आंचलिक जीवन को समझने का प्रयत्न किया। उन्होंने अपनी रचनात्मक क्षमता द्वारा आंचलिक जीवन की विविध समस्याओं का गहन विश्लेषण किया। ग्रामीणों की चारित्रिक विशेषताओं, कार्यव्यापार, नवीन परिवर्तनों, नव जागरण, ग्रामपंचायत और वहाँ के सम्पूर्ण परिवेश को नवीन कोणों से मूल्यांकित किया। आधुनिक व्यक्ति के मनोभावों और व्यवहारों का यथार्थ चित्रण करने में वे कुशल है। मूलत: रेणु मानवतावादी दृष्टि से यथार्थ को परखते है। इनकी कहानियों में अभिव्यंजित मानवीय सम्बन्ध और जीवन मूल्य इतने समन्वित है कि एक ओर इनसे विपत्तियों में संघर्ष की प्रेरणा मिलती है साथ ही जीवन के प्रति दृढ़ आस्था और संकल्प की भावना का उदय भी होता है।

"तीसरी कसम उर्फ मारे गये गुलफाग" कहानी के माध्यम से रेणु की रचनात्मक क्षमता का आकलन किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त "तीन बिन्दियाँ", "रसप्रिया", "हाथ का जस और बात का पत्त," "आदिम रात्रि की महक", तथा "विघटन के क्षण" इत्यादि कहानियों में जनजीवन की रूचि प्रवृत्ति आदि की रचनात्मक चेतना का उपयोग मिलता है। प्रेमचन्द्र की भाँति रेणु ग्राम्य-जीवन के भीतरी स्वरूप को गहराई से नहीं प्राप्त कर सके। वे बाहरी जीवन का ही चित्रांकन करते रहे। वह बाह्य रूप जिसमें प्राकृतिक सुषमा और चटक रंगों का आधिक्य है जिसमें ज्ञानेन्द्रियों के स्थूल विषयों की प्रधानता है.......... रंग, शब्द, स्पर्शानुभूति आदि के सभी कारण-व्यापार केवल ऊपरी सौन्दर्य के चित्रण में ही सीमित हो जाते हैं। यह मत बिल्कुल उचित प्रतीत होता है। "तीसरी कसम" भी मानव संवेदना की कहानी है। एक सीधे-सादे, निर्धन गाँव में रहने वाले व्यक्ति के मन में नारी के प्रति जो कोमलता है रेणु जी ने उसका बहुत ही कलात्मक वर्णन किया है। उन्होंने वास्तविक जीवन की कठोरता के समानान्तर एक मधुर गीतात्मक

स्थिति का सुन्दर सामंजस्य कर दिया है। आधुनिक जीवन के जटिल दबावों से आदमी उपभोग की संस्कृति में एक दूसरे का सहयोगी नहीं प्रतिद्वन्द्वी बन जाता है इसी के समानान्तर गाँव का व्यक्ति सरल और भोला है।

"तीसरी कसम उर्फ मारे गए गुलफाम" में मनुष्य के जीवन संघर्ष और समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है। आधुनिक चेतना से अनुप्राणित विशेष मनुष्य है गाड़ीवान। उसने संकट के क्षणों में दो कसमें खाई थी - चोरबाजारी का सामान और बाँस की लदाई न करने की। लेखक ने इन दो घटनाओं के द्वारा संकेत किया है कि हीरामन भोला भाला ईमानदार गाड़ीवान होते हुए भी अच्छे बुरे की पहचान में माहिर है । इस सरल जीवन में आकस्मिक रूप से बदलाव आता है जब वह नौटंकी वाली हीराबाई को गाड़ी में बैठाकर ले जाता है। "कभी उसे लगता कि चम्पा का फूल उसकी गाड़ी में खिल-खिल पड़ता था, कभी चाँदनी का एक टुकड़ा उसकी गाड़ी में आ जाता था और हीरामन को यह सब रहस्यमय अजगुत-अजगुत लग रहा था।"[1]

हीरामन हीराबाई के प्रति आकृष्ट तो होता है किन्तु वह यह भी समझता है कि इस स्थिति में वह मेरे लिए दुर्लभ है। उसके हृदय की भावनाएं उसकी असामान्य शिष्टता और मृदुता से अभिव्यंजित होती है कहीं मुखरित नहीं होती हीराबाई को वह सामान्य नर्तकी नहीं समझता अप्राप्य समझता है। इसीलिए अस्वीकार का नियति बोध भी उसे आरम्भ से ही है। हीराबाई का चरित्र भी विशिष्ट नर्तकी का है उसके अन्तर्मन में एक कोमल नारी भी निवास करती है। भोले भाले हीरामन का व्यवहार उसके अन्दर प्रेम की अनुभूति जगाते है किन्तु वह अपने अभिशप्त जीवन का दर्द भी झेलती है। समाज में अपनी स्थिति का भी उसे

1- फणीश्वर नाथ रेणु-तीसरी कसम- ठुमरी-पृ0 132

अनुभव है। इन सब के बीच भी "महुवा घटवारिन" की प्रेम कथा का दर्द उसे भीतर ही भीतर कचोटने लगता है। इन्हीं अन्तर्द्वन्द्वों के बीच वह निर्णायक बिन्दु पर पहुँच जाती है। एक गहन अवसाद में कहानी का अन्त हो जाता है और हीरामन अस्फुट मृतप्राय शब्दों में तीसरी कसम खा लेता है। "गाड़ी ने सीटी दी। हीरामन को लगा कि उसके अन्दर से कोई आवाज निकल कर सीटी के साथ ऊपर की ओर चली गई- कु-उ-उ । इ स्स । -छिं-ई-ई-ई छक्क। गाड़ी हिली। हीरामन ने अपने दाहिने पैर के अंगूठे को बाएं पैर की एड़ी से कुचल दिया। कलेजे की धड़कन ठीक हो गई .... दुनिया ही खाली हो गई मानो। हीरामन अपनी गाड़ी के पास लौट आया।- मरे हुए मुहूर्तों की गूंगी आवाजें मुखर होना चाहती हैं। हीरामन के होंठ हिल रहे हैं। शायद वह "तीसरी कसम" खा रहा है कम्पनी की औरत की लदनी........।"[1]

ऊपर से सामान्य प्रतीत होने वाली यह प्रेमकथा गहन आन्तरिक प्रभाव उत्पन्न करती है। हीरामन और हीराबाई दोनों ही अपनी अतृप्ति और नियति के संघर्ष में पड़े हैं। इनकी पीड़ा किसी एक व्यक्ति की वियोगजन्य पीड़ा नहीं है। सहज-उद्भुत मानवीय सम्बन्धों के टूटने की पीड़ा है। लेखक ने इस अनुभूतिजन्य प्रेम की कथा का सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत किया है। किसी लेखक की रचना इसलिए श्रेष्ठ नहीं होती कि वह किसी विशेष अंचल, परिवेश की समस्या को लेकर रची गई है। उसकी श्रेष्ठता लेखक के विशिष्ट जीवन-दृष्टि और उसकी रचनाशील अभि-व्यक्ति पर निर्भर करती है। "रेणु" ने इस रोमांटिक यथार्थ को तीव्रानुभूति प्रदान

1- फणीश्वर नाथ रेणु- तीसरी कसम उर्फ मारे गये गुलफाम- ठुमरी, पृ0 164-65

करने के लिए जिन चरित्रों की उद्भावना की है उसमें ग्राम परिवेश का आदिम रस-गंध उभर कर प्रत्यक्ष हो उठता है। "तीसरी कसम" उसी आदिम रस गंध की कहानी है। कहानी की छोटी-छोटी घटनाएं संवेदनात्मक आघात प्रदान करती हैं"। मानव मन स्वयं कितना जटिल है उसके रहस्य से परिचित होते ही चमत्कृत होना पड़ता है। आकस्मिक रूप से जिस प्रेम का जन्म हुआ वह न आकस्मिक प्रतीत होता है और न क्षणिक अपितु शाश्वत रूप से विद्यमान रहने वाला भाव है। "महुआ-घटवारिन " का कथा प्रसंग प्रतीक रूप में इन दोनों मनोभावों और उसकी नियति की ओर इंगित कर देता है।

कथ्य, पात्र उसके चरित्र को चित्रित करने की गहन दृष्टि सम्पूर्ण परिवेश को सजीव बना देने में रेणु का रचना-कौशल अद्भुत है। ग्रामीण परिवेश में मेले और नौटंकी का वर्णन पूरे परिवेश को मूर्त कर देता है। सड़क, नदी, जंगल रात्रि की भयावहता आदि के माध्यम से वातावरण जीवन्त हो उठता है। कहानी की संवेदना पूरे परिवेश में अनुगुंजित हो उठती है। लेखक की रचनाधर्मी भाषा से कहानी स्वतः निःसृत होने लगती है। आज गाड़ी में न बोरे हैं न बांस अपितु जीती जागती एक सुन्दर युवती है हीराबाई जिसके शरीर की सुगन्ध से हीरामन मदमस्त हो रहा है।

हीरामन के मन में अव्यक्त प्रेम धीरे-धीरे अभिव्यक्ति पाने लगता है हीराबाई की बोली उसे बच्चे की फेनगिलासी महीन बोली प्रतीत होती है। उसका रूप परी के समान है, वह तो दुर्लभ है। उसका भोलापन बैलों से बातें करना, बीड़ी पीने की अनुमति लेना, कजरी नदी का माहात्म्य बताना आदि ग्रामीण किसान की सादगी की ओर संकेतित है। हीराबाई भी छल कपट की नौटंकी वाले पुरुषों से अलग ग्रामीण परिवेश में निश्छल भाव से रहने वाले हीरामन पर मुग्ध हो जाती है। अभी तक वो रूप लोलुप कामुक व्यक्तियों की छिछले स्तर की बातें ही वह

सुनती आई थी। अत: उसका आकृष्ट होना अस्वाभाविक भी नहीं लगता हल्के से धक्के से शरीर का स्पर्श होते ही हीरामन का बैलों को डांटना भी उसके निर्मल हृदय का परिचय देते हैं। हीराबाई की वापसी भी अत्यन्त स्वाभाविक है।

संवाद और आत्मसंवाद पात्रों के चरित्र-चित्रण, अन्तर्द्वन्द्व और मौन प्रतिक्रियाओं में विशेष सहायक होते हैं। लोककथा और लोकगीत के माध्यम से कहानी की सांकेतिकता सघन हो उठी है लेकिन लेखक ने लोकतत्वों और लोक भाषा का सृजनात्मक उपयोग किया जिससे कहानी भावगत और रूपगत वैशिष्ट्य प्राप्त कर सकी।

"रसप्रिया", "पंचलाइट", "सिर पंचमी का सगुन," "अगिन खोर" और "लाल पान की बेगम" जैसी कहानियों में रोमांटिक यथार्थ का चटकीला रंग उभर कर आया है। गाँव की धूलमाटी, आंगन की धूप, बैलों की घंटियां, धान की झुकी बालियाँ, मेले ठेलों की अलमस्ती, चुहलबाजी, हंसी-ठिठोली और लठवा सिंदुर मिश्रित गंध आदि वर्णनों से लेखक कहानियों में सहज सौन्दर्य की सृष्टि कर देता है।

"रसप्रिया" में मिरदंगिया मोहना और उसकी माँ के बीच का तनाव पूरे वातावरण में व्याप्त है। अपने पुत्र से वह प्यार भी करती है और घृणा भी। इस अन्तर्द्वन्द्व में माँ और आसक्ति-विरक्ति की विडम्बना में पड़ा मोहना, नवीन सामाजिक परिवेश की ओर संकेत करता है। "तीन बिंदिया" में गीतावलीदास की मार्मिक कथा संगीत-शास्त्र की लय में वर्णित है। मूल नाद के सहायक नादों को भले ही सुना न जा सके पर वह मूल नाद के साथ अस्तित्वमान हो उठते हैं। लेखक का यथार्थ बोध और मनोविश्लेषण उनकी रचनाओं में सहज रूप में उजागर हुआ है।

अमरकान्त

अमरकान्त प्रगतिशील कहानीकार हैं इनमें जीवन का यथार्थ तो है साथ ही मानवीय संवेदन शीलता और आस्था एवं संकल्प भी है। उनके पात्रों में अनोखी जिजीविषा है, उनकी कहानियों से एक ऐसा दृष्टिकोण उभरता है, जो जीवन से जूझने और विषमता से ऊपर उठ कर आत्मविश्वास से ओत प्रोत होने की प्रेरणा प्रदान करता है।

"दोपहर का भोजन," "डिप्टी कलेक्टरी," "जिंदगी और जोंक," "इन्टरव्यू," "गले की जंजीर," "नौकर", "एक असमर्थ हिलता हाथ," "देश के लोग," "खलनायक" "लड़की और आदर्श," "छिपकली", आदि कहानियाँ इन्हीं भावनाओं से ओतप्रोत हैं।

इन सबका मुलाधार मध्यवर्ग है· जिसमें दम टूट चुका है और लोग प्रत्येक दशा में जीवन जीने का बहाना कर रहे हैं। उनके जीवन में असंयम विकृतियाँ हैं, विपन्नता का अथाह सागर है और कुण्ठा निराशा तथा विश्रृंखलता है, जिनकी कठोर यथार्थता में उन्हें जीवन जीना पड़ता है। इस व्यापक यथार्थता को अपनी सूक्ष्म दृष्टि से अमरकान्त ने पहचाना है। और इसके बारीक से बारीक रेशे को अत्यन्त कुशलता से अपनी कहानियों में चित्रित किया है।

"दोपहर का भोजन" में निर्धन घर में दोपहर को खाने के समय जब लोग एकत्रित होते हैं उस स्थिति का बहुत ही करुण एवं मर्मस्पर्शी चित्रण किया गया है। यह दयनीय स्थिति असंख्य भारतीय परिवारों की ओर संकेत करती है। उसमें यथार्थ के गहरे रंग हैं। व्यंग्य के पैने बाण हैं, जो मन-मस्तिष्क को आर-पार भेदने की

क्षमता से लेखा है।

"जिन्दगी और जोंक" में नौकर रजुआ का चित्रण बहुत ही सफलता पूर्वक किया गया है जो मरना नहीं चाहता, इसलिए जोंक की तरह जिंदगी से चिपटा रहता है, लेकिन लगता है जिन्दगी स्वयं जोंक सरीखी उससे चिपटी रहती थी, और धीरे-धीरे उसके खून की आखिरी बूँद भी पी गई। आदमी जोंक है या जिंदगी? सवाल यह है कि कौन किसका लहू पी रहा है इस करुण स्थिति को अमरकान्त ने बड़े प्रभावशाली ढंग से चित्रित किया है। जीवन जीने की उत्कट अभिलाषा को लेकर लिखी गयी यह एक अनुपम कहानी है। एक क्षुद्र व्यक्ति व्यक्ति भी जीवन को श्रेष्य समझता है, यह जिजीविषा से भरा है। कहानी में गहरी अन्तर्दृष्टि और मानवीय संवेदना है। अमरकान्त सामाजिक चेतना के सजग कलाकार हैं, उनके पास स्वस्थ जीवन दृष्टि है, यथार्थ को समझने की क्षमता है और सत्य तथा नये मूल्यों को अन्वेषित करने की दृढ़ सामर्थ्य भी है।

अमरकान्त की सभी प्रमुख कहानियों में सामाजिक व्यवस्था के कारण टूटते हुए व्यक्ति का करुण चित्रण है। रजुआ अपने अस्तित्व की रक्षा का प्रयास करता है किन्तु असफल। रामचन्द्र एवं उसके पिता मुंशी चन्द्रिका प्रसाद दोनों ही बेकार हैं। वे नौकरी खोजते हैं किन्तु मिलती नहीं तो अपने जीवन को ही प्रारब्ध के प्रति समर्पित कर देते हैं।

"इण्टरव्यू" कहानी में नौकरी देने वालों को व्यवसाय बना लेने पर करारा व्यंग्य किया गया है। ऐसे लोग देश के करोड़ों नवयुवकों के साथ मजाक करते हैं। इस कहानी में नई पीढ़ी की विभ्रान्तता, कुण्ठा एवं निराशा की भावना परिवेश में बड़ी सजीवता के साथ उभरी है। इसी प्रकार "एक असमर्थ हिलता हाथ" में अन्ध विश्वासों, रूढ़ियों, जातिप्रथा एवं प्रेम की आधुनिक विसंगतियों पर मार्मिक व्यंग्य

हिन्दी कहानीकार स्वाधीनता के पश्चात् निरन्तर नवीन भाव सत्य और वैचारिक चिन्तन को संवेदनात्मक अभिव्यक्ति प्रदान करने में प्रयत्नशील हैं। अनेक समर्थ कहानीकारों ने कहानियों के माध्यम से अपने रचनात्मक वैशिष्ट्य की पहचान बनाई है। कृष्णा सोबती, कृष्ण बलदेव वैद, रमेश बक्षी, महीप सिंह, रांगेय राघव, शेखर जोशी, शैलेश मटियानी, मार्कण्डेय एवं राजेन्द्र अवस्थी ने सामाजिक यथार्थ, नगरबोध, कस्बाई मनोवृत्ति, आंचलिकता को संवेदना के स्तर पर स्वीकार किया और अपनी कहानियों से जीवन सत्य और मानव मूल्यों के बदलते प्रतिमानों का चित्रण किया है। व्यंग्य प्रधान रचनाएं सामाजिक विसंगतियों और विघटित मानव मूल्यों पर निर्मम प्रहार करती हैं। राजनीतिक, सामाजिक आर्थिक स्थितियों पर शरद जोशी, हरिशंकर परसाई, रवीन्द्रनाथ त्यागी ने पारम्परिक रूप विधान की संकुचित सीमाओं का उल्लंघन किया है। अपने तीखे व्यंग्य प्रहार से जीवन के कटुतम सत्यों और सामाजिक अवरोधों के प्रति संवेदना की जागृति व्यंग्यकारों का प्रमुख उद्देश्य है। स्वातन्त्र्योत्तर ,राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा आधुनिक जीवन की कृत्रिम प्रवृत्तियां पाठकों के समक्ष अपने समग्ररूप से उपस्थित हो गई हैं। उन कहानीकारों ने वैचारिक और चिन्तन के स्तर पर पाठकों को झकझोरने के साथ ही साथ मनोरंजन भी प्रदान किया है।

इन समस्त लेखकों ने अपनी सूक्ष्म रचनादृष्टि का उपयोग जीवन-यथार्थ को व्यक्त करने के लिए किया। स्वातन्त्र्योत्तर कहानी में सांकेतिकता का दो स्तर पर प्रयोग हुआ। पहला- कहानी में अतिरिक्त प्रखरता पैदा करने के लिए दूसरा कथा स्थितियों के कार्यकारण को उजागर करने के लिए। नवीन भावबोध एवं युगीन चेतना के साथ साथ कहानी की संवेदनात्मक अभिव्यक्ति में भी बदलाव दिखायी पड़ता है। इन कहानीकारों ने अनुभव को प्रामाणिक एवं संप्रेषणीय बनाने के लिए

उसने शिल्प विधान का भी पुनर्सृजन किया। भाषा का निर्माण एवं निखार निरन्तर होता रहता है। प्रतीक योजना, सांकेतिकता, और बिम्ब-विधान के द्वारा कहानी की रचनात्मक शक्ति और अर्थवत्ता में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जा रही है। इन कहानियों की भाषा में सहजता और तरलता मिलती है जो अलंकृत भाषा होते हुए भी संवेदनशील है। संवेद्य चित्रोपमता तथा संगीतमयता भी इनमें दर्शनीय है। कमसे कम शब्दों में अधिक से अधि भावों की अभिव्यक्ति कहानी को व्यंजनात्मक बना देती है। आंचलिक प्रयोगों से भाषा में नया स्वाद और संस्कार उत्पन्न होने लगा है। कहानीकारों ने कहानियों में तटस्थ विश्लेषणात्मकता की पद्धति अपनाई है। भावुकता से मुक्त संवेदना ने कथ्य के नये आयाम प्रस्तुत किए। आंचलिक जीवन के कथ्यों ने कहानी में नवीन रसबोध प्रदान किया। आधुनिक लेखक पात्रों के चयन में भी पूर्वाग्राही नहीं है सामान्य जीवन की विभिन्न विसंगतियों को झेलते जीवन संघर्ष में अस्तित्वमान् होने के लिए प्रयत्नशील मनुष्य ही इन कहानियों में जीवन्त हो उठा है। स्वातन्त्र्योत्तर कहानीकारों ने देशकाल स्थित मनुष्य के कार्यव्यापार मानसिकताओं और मान्यताओं को सृजनात्मक स्वरूप देने की कोशिश की है। आधुनिक जीवन की विसंगतियों, वर्जनाओं, कुण्ठाओं एवं आर्थिक विषमताओं, परिवारों के टूटते प्रतिमानों तथा रागात्मक सम्बन्धों में जो परिवर्तन हुए हैं इन सबका समेकित यथार्थ कहानियों में खुलकर बोलता है। परिणामस्वरूप हिन्दी कहानी को साहित्य में प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त हुआ।

अध्याय- 6

स्वातन्त्र्योत्तर कहानी का रचनात्मक (शिल्पगत) स्वरूप

- नई सौन्दर्य दृष्टि एवं भाषायी संवेदना
- बिम्बों का प्रयोग
- प्रतीक योजना
- फंतासी
- संवाद -प्रविधि
- चेतना प्रवाह
- मिथक एवं लोककथा

शिल्पगत स्वरूप

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कहानी शिल्पगत स्वरूप की दृष्टि से अपनी पूर्व-वर्ती कहानी से अलग पहचान रखती है। स्वातन्त्र्योत्तर जीवन की विषमताओं; मार्मिक प्रसंगों एवं बारीक से बारीक जटिलताओं का चित्रांकन करने के लिए कहानी-कारों ने शिल्प के बहुत से प्रयोग किए हैं। सामाजिक जीवन की वर्तमान विसंगतियों, उसके अन्तर्विरोधों एवं नई समस्याओं को अभिव्यक्ति का रूप प्रदान करने के लिए स्वातन्त्र्योत्तर कहानीकारों ने अनेक निर्वाह पद्धतियों को अपनाया है। आजादी के पश्चात् सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक तथा राजनीतिक क्षेत्र में व्यापक परिवर्तन हुए जिस कारण नई और जटिलसमस्याओं का जन्म हुआ। परम्परागत शिल्प के द्वारा इन नई और जटिल समस्याओं की संवेदना को चित्रित किया जा सकता था। शिल्प के प्रति जागरूकता, स्वातन्त्र्योत्तर कहानीकारों की प्राथमिकता रही है। वर्तमान मनुष्य संघर्षों के दौर से गुजर रहा है यही संघर्ष ही कहानी का कथ्य है। सूक्ष्म और सांकेतिक ढंग से कथन की अभिव्यक्ति वर्तमान कहानी के शिल्प की अनिवार्यता-सी हो गई है। स्वातन्त्र्योत्तर कहानी के संरचनात्मक (शिल्पगत) स्वरूप का अध्ययन शिल्प की प्रमुख प्रवृत्तियों के आधार पर प्रस्तुत है।

नई सौन्दर्य दृष्टि एवं भाषायी संवेदना: स्वातन्त्र्योत्तर काल के अधिकांश कहानीकारों की दृष्टि भाषा को यथार्थ रूप प्रदान करने पर टिकी रही है। यही कारण है कि अधिकांश कहानियों की भाषा प्रौढ़ एवं संप्रेषणीयता से युक्त है। लेखकों ने यह भरसक प्रयास किया है कि फालतू शब्दों को भाषा में प्रयुक्त न किया जाय। कहानीकारों के उस महत्त्वपूर्ण प्रयास से भाषा का जड़त्व जाता रहा।

परिणामस्वरूप नयी कहानी तक आते आते भाषा की जड़ता समाप्त हो गई। कमलेश्वर के अनुसार "नई कहानी ने भाषा की जड़ता को तोड़ा व्यक्तिगत और किताबी भाषा से अपने को अलगकर समय के विस्तार में जी रहे मनुष्य की बोली में ही उसने नये अर्थों की तलाश की।"[1] स्वातन्त्र्योत्तर कहानीकारों ने भाषा को कथ्य की आन्तरिक अभिव्यक्ति का सहज और पुष्ट साधन बनाया। शिल्प और संवेदना के धरातल पर ये कहानियाँ एक नये प्रकार की अभिव्यक्तियाँ हैं। इस विशेषता का कारण कथ्य के अनुसार भाषा का व्यंजनात्मक प्रयोग है। इस सम्बन्ध में राजेन्द्र यादव का कथन महत्त्वपूर्ण है--"अनुभूति- और अभिव्यक्ति के बीच भाषा निश्चय ही एक तीसरी जीवित स्वतन्त्र सत्ता है वह हमें औरों से मिली है औरों से जोड़ती है।"[2] आज की कहानी में भाषा उसकी आत्मा से जुड़ी है। कहीं कहीं तो कहानी की भाषा काव्य भाषा-सी लगती है। शिवप्रसाद सिंह की कहानी "कर्मनाशा की हार" की भाषा के कुछ अंश नमूने के लिए प्रस्तुत है---- "पूरबी आकाश पर सूरज दो लट्ठे ऊपर चढ़ आया था। काले काले बादलों की दौड़ धूप जारी थी, कभी -कभी हल्की हवा के साथ बूँदें बिखर जाती। दूर किनारों पर बाढ़ के पानी की टकराहट हवा में गूँज उठती। भैरो पांडे उसी तरह चारपाई पर लेटे आँगन की ओर देख रहे थे। बीचोबीच आँगन के तुलसी -चौरा था, जो बरसात के पानी से कटकर खुरदरा हो गया था। पुराने पौधे के नीचे कई मासूम मरकती पत्तियों वाले छोटे-छोटे पौधे लहराने लगे थे। वर्षा की बूँदें पुराने पौधे की सख्त पत्तियों पर टकरा कर बिखर जाती, टूटी हुई बूँदों की फुहार धीरे से

1- कमलेश्वर-नई कहानी की भूमिका-पृ0 210

2- राजेन्द्र यादव-कहानी स्वरूप और संवेदना-पृ0 115

मासूम पौधों पर फिसल जाती, कितने आनन्दमय थे वे मासूम पौधे।[1]

निर्मल वर्मा की आरम्भिक कहानियों में गद्यगीत के गुण हैं। "दहलीज" कहानी में प्रेम और वेदना का चित्रण करते समय निर्मल वर्मा ने लिखा है- "ग्रामोफोन के घूमते हुए तवे पर फूल पत्तियाँ उग आती हैं, एक आवाज उन्हें अपने नरम नंगे हाथों से पकड़कर हवा में बिखेर देती है। संगीत के सुर झाड़ियों में हवा से खेलते हैं, घास के नीचे सोयी हुई भूरी मिट्टी पर तितली का नन्हा सा दिल धड़कता हैमिट्टी और घास के बीच हवा का घोंसला काँपता है··· और काँपता है···· और ताश के पत्तों पर बेली और शम्मी भाई के सिर झुकते हैं, उठते हैं, मानो वे दोनों चार आखों से घिरी साँवली झील में एक दूसरे की छायाएँ देख रहे हों।"[2]

"परिन्दे" की लतिका का अकेलापन भी काव्यात्मक प्रवाह में ही बहा है- "लतिका को लगा, जैसे कहीं बहुत दूर बरफ की चोटियों से परिन्दे के झुण्ड नीचे अनजान देशों की ओर उड़े जा रहे हैं इन दिनों अक्सर अपने कमरे की खिड़की से उन्हें देखा है- धागे में बंधे चमकीले लट्टुओं की तरह, वे एक लम्बी टेढ़ी मेढ़ी कतार में उड़े जाते हैं-- पहाड़ों की सुनसान नीरवता से परे उस विचित्र शहरों की ओर जहाँ शायद वह कभी जायेगी।"[3]

1- शिव प्रसाद सिंह-कर्मनाशा की हार- कथाभारती सं0 (डा0 केदार प्रसाद सिंह, डा0 जगदीश गुप्त) पृ0 170

2- निर्मल वर्मा- दहलीज- जलती झाड़ी- पृ0 99

3- निर्मल वर्मा- परिन्दे- पृ0 140

"पिछली गर्मियों" की नीता को देखकर कहानी का "मैं" को लगता है- "उस घर में सिर्फ नीता ही ऐसी थी जिसे बीच का बरस अछूता छोड़ गये थे। पर शायद अछूता शब्द ठीक नहीं, उन्होंने उसे छुआ है, जैसे हम किताब को छूते हैं, ऊपर का कवर पुराना हो जाता है, किन्तु भीतर सब कुछ वैसा ही है जैसा पहले था।[1]

आज कहानी की भाषा अर्थ सक्षम है अपनी कहानी की भाषा के विषय में निर्मल वर्मा का कहना है- " एक कहानी बाहर की दुनिया की रपट को अपने सत्य की भाषा में परिणत करती है। जिन्दगी और कला के बीच मंडराते हुए कहानी का सत्य शब्द में बिंधा रहता है और यही शब्द वाक्यों में बिंधे रहते हैं, और एक वाक्य दूसरे वाक्य की तरफ जाता हुआ एक ऐसा जाल बुनता है जिसमें जीवन की धड़कन को फाँस लिया जाता है, किन्तु एक लेखक मकड़ी नहीं है जो जिन्दगी को मक्खी की तरह बाहर से पकड़कर भीतर लाता है, बल्कि वाक्यों के बनने के साथ-साथ कहानी का सत्य उद्घाटित होता रहता है और जाले में जो जीवन पकड़ा जाता है वह उन रेशों से अलग नहीं होता जिनसे जाला बुना जाता है। कहानी की कला में हम मक्खी को जाले से अलग नहीं कर सकते, जिस तरह हम उसके फार्म को उसके कथ्य से अलग नहीं कर सकते, दोनों अपरिछिन्न हैं।[2]

भाषिक संवेदना को कहानी के माध्यम से उभारने में कमलेश्वर भी अग्रणी हैं। उन्होंने "बयान" कहानी में सहज और मर्मस्पर्शी भाषा का प्रयोग किया है- "आप मुझे काँटों में क्यों घसीट रहे हैं? जी हाँ, उस संपादक से मेरे पति की खासी दोस्ती

1- निर्मल वर्मा- पिछली गर्मियों में- पृ0 139

2- निर्मल वर्मा- हवाम से उतरते हुए-पृ0 30-31

हो गई थी। ठीक है, आप "खासी" शब्द को नोट कर लेना चाहते हैं, जरूर कीजिए। पर शब्दों से आप सत्य तक नहीं पहुँचेंगे। सत्य हमेशा कई तरह की बातों पर निर्भर करता है......।"[1]

"इतने अच्छे दिन" में क्षुधा की व्याकुलता से बाला की मानवता समाप्त हो गई। बाला की बहिन कमली ने भी अपने को परिस्थिति के परिवर्तनानुसार बना लिया। अपने मंगेतर चन्दू को छोड़कर वह शरीर का धन्धा करती है। कमलेश्वर ने बाला जैसे पात्र के अनुरूप भाषा का प्रयोग किया है- "बाला ने फिर लेटने की कोशिश की। लेट भी गयी पर नींद नहीं आयी। दादी, नाराज मत होना..... ये दिन तु भी देख लेती तो कुछ आराम से मरती। अब कमली भी बच गयी है। और अपन भी। व्यापार भी चल निकला है। यह अकाल न पड़ता और इतने ढोर डंगर, नाते रिश्तेदार न मरते तो अपने का भी वही हाल होता भला हो हड्डी गोदाम का।"[2]

मन्नू भंडारी की कहानी "त्रिशंकु" में भाषा और व्यंजना का स्वरूप परिवर्तित हो गया है। यह कहानी सामाजिक विकास की गति के साथ विकसित हो रही रचनात्मक तलाश है। तनु और शेखर के सम्बन्ध को भंडारी ने इस प्रकार अभिव्यक्ति दी है- "पर सामने के कमरे में शेखर रोज ही आ जाता..... कभी दोपहर में तो कभी शाम को। तीन चार लोगों की उपस्थिति में उसकी जिस बात पर मैंने ध्यान नहीं दिया, वही बात अकेले में सबसे अधिक उजागर होकर आयी। वह बोलता कम था, पर शब्दों के परे बहुत कुछ कहने की कोशिश करता था और एका-

---

1- कमलेश्वर-श्याम-मेरी प्रिय कहानियाँ- पृ0 73

2- कमलेश्वर- "इतने अच्छे दिन" कमलेश्वर की श्रेष्ठ कहानियाँ-पृ0 7

एक ही मैं उसकी अनकही भाषा समझने लगी थी। केवल समझने ही नहीं लगी थी प्रत्युत्तर भी देने लगी थी। जल्दी ही मेरी समझ में आ गया कि शेखर और मेरे बीच प्रेम जैसी कोई चीज पनपने लगी है। यों तो शायद मैं समझ नहीं पाती पर हिन्दी फिल्में देखने के बाद इसको समझने में खास मुश्किल नहीं हुई"।[1]

"अकेली" की सोमा बुआ पूरा दिन निमन्त्रण का इन्तजार करते-करते गुजार दी। रात हुई तो- "जैसे एकाएक नींद में से जागते हुए बुआ ने पूछा - "क्या कहा, सात बज गये?" फिर जैसे अपने से ही बोलते हुए पूछा" पर सात कैसे बज सकते हैं, मुहूरत तो पाँचबजे का था।" और फिर अचानक सारी स्थिति समझकर संयमित स्वर में कहा- " अरे खाने का क्या है, अभी बना लूंगी। दो जनों का तो खाना है, क्या खाना और क्या पकाना।[2]

मानवीय संवेदना का बहुत गहराई से अर्थ ध्वनित करती एक महत्वपूर्ण कहानी है-" गुलकी बन्नो" । धर्मवीर भारती की यह कहानी ध्वनियों, व्यंजनों और आकर्षक दृश्य सज्जा से सहज ही पाठक को आकृष्ट करती है।" इक्का आते ही जैसे झबरी पागल सी इधर उधर दौड़ने लगी। उसे जाने कैसे, आभास हो गया कि गुलकी जा रही है, सदा के लिए। मेवा ने अपने छोटे-छोटे हाथों से बड़ी-बड़ी मठरियां रखीं, मटकी और मिरवा चुपचाप आकर इक्के के पास खड़े हो गए। सिर झुकाए पत्थर सी गुलकी निकली, आगे-आगे हाथ में पानी का भरा हुआ लोटा लिए निरमल थी। वह आदमी जाकर इक्के पर बैठ गया··· अब जल्दी करो

1- मन्नू भण्डारी- त्रिशंकु - पृ0 112

2- मन्नू भण्डारी- अकेली (मेरी प्रिय कहानियाँ), पृ0 17

उसने भारी गले से कहा-गुलकी आगे बढ़ी, फिर रुकी और उसने टेंट से दो अधन्ने निकाले, "ले मिरवा, ले मटकी।"[1] यहाँ भाषा चित्रात्मक लय में संयोजित हुई है। शिल्प प्रयोग की जटिलता और शब्द रचना की क्लिष्टता राजेन्द्र यादव की "सिलसिला", एक कटी हुई कहानी" कहानियों में है।

फणीश्वर नाथ रेणु" की कहानियों का शिल्प अपनी बातों को सशक्त ढंग से कहने का साधन है। उनकी "तीसरी कसम" आंचलिक कहानी है। हीरामन का अकेलापन पूरी कहानी में फैला है इस कहानी की रचनाप्रक्रिया रागात्मक है। हीरामन, नौटंकी कम्पनी को छोड़कर, मथुरा मोहन कम्पनी में जाने वाली हीराबाई को विदा करने के लिए स्टेशन पहुँचता है- "गाड़ी आ रही है........ हीराबाई चंचल हो गयी। बोली- हिरामन इधर आओ, अन्दर। फिर लौटकर जा रही हूँ, मथुरामोहन कम्पनी में, अपने देश की कम्पनी है...... बनैली मेला आओगे न?

हीराबाई ने हिरामन के कंधे पर हाथ रखा... इस बार दाहिने कन्धे पर फिर अपनी थैली से रुपये निकालते हुए बोली - एक गरम चादर खरीद लेना।

हिरामन की बोली फूटी, इतनी देर के बाद- इस्स। हरदम रुपया-पैसा, रखिए रुपैया। ... क्या करेंगे चादर?

हीराबाई का हाथ रुक गया। उसने हीरामन के चेहरे की ओर से देखा। फिर बोली- तुम्हारा जी बहुत छोटा हो गया है। क्यों मीता? ... महुआ घटवारिन को सौदागर खरीद जो लिया है गुरु जी।"[2] इससे स्पष्ट है कि रेणु जी

1- धर्मवीर भारती -गुलकी बन्नो-कथान्तर (सं0 डा0 परमानन्द श्रीवास्तव, डा0 श्रीमती गिरिजा रस्तोगी) पृ0 121-122

2- फणीश्वर नाथ रेणु- तीसरी कसम-मेरी प्रिय कहानियाँ-पृ0 52

भाषा सूक्ष्म आवेगों को पकड़ने की क्षमता से युक्त है। भाषिक संवेदना के विषय में बटरोही जी के विचार महत्वपूर्ण हैं- "भाषिक संस्कार का नया और महत्वपूर्ण प्रारम्भ मोहन राकेश, निर्मल वर्मा, रेणु, राजेन्द्र यादव, उषा प्रियंवदा इत्यादि लेखकों के माध्यम से स्वातन्त्र्योत्तर काल में दिखाई देता है। इन कहानीकारों ने विषयवस्तु तथा कथ्य के अनुरूप व्यंजनात्मक भाषा का प्रयोग किया और निस्संदेह यह प्रयास हिन्दी कहानियों के लिए एक नया और महत्वपूर्ण संदर्भ था।"[1]

ज्ञानरंजन ने अपनी कहानियों के द्वारा भाषिक संस्कार को नये सिरे से संवेदनशील रूप दिया है इनकी "सम्बन्ध" कहानी के "मैं" का कहना है--- "आखिर वह आकृति जिसने दरवाजा खोला था, अपने पैरों में आयी और नाक सुड़कती हुई दरवाजे पर खड़ी हो गयी। नाक सुड़कना जुकाम नहीं, ध्यान आकर्षण का एक दीन तरीका है। निस्सन्देह वह अधिकांश घरों में रहने वाली एक परिचित आकृति है जो दिन ब दिन मानवीय होती जा रही है। इस तरह के चेहरों, आकृतियों को देखकर मैं समझता हूँ, आप स्वस्थ नहीं रह सकते।"[2] भाषिक संरचना के स्तर पर समकालीन कहानी अधिक सूक्ष्म और गहरी है। वर्तमान कहानी की भाषा के संदर्भ में आये परिवर्तन के सम्बन्ध में डॉ0 विनय की टिप्पणी बहुत ही उचित है।--- "राजेन्द्र यादव" के लिए जो बात "टोटल कम्युनिकेशन" की थी वह

1- बटरोही -कहानी रचना प्रक्रिया और स्वरूप, पृ0 59

2- ज्ञानरंजन- संबन्ध- सपना नहीं, पृ0 184

दूधनाथ सिंह के लिए "अभिव्यक्ति की सच्चाई" की समस्या बनकर सामने आयी और ज्ञानरंजन के लिए "स्थिति को रचनात्मक पूर्णता देने के प्रयास में लक्षित हुई। कमलेश्वर ने इस बात को "समय की भाषा की खोज" के रूप में प्रस्तावित किया।"[1] आम आदमी के संघर्ष से जुड़ी हुई कहानी की भाषा में कलात्मक आग्रह के लिए अधिक गुंजाइश नहीं है।

आशीष सिन्हा की कहानी " आदमी " की भाषा में कलात्मक आग्रह के लिए अधिक गुंजाइश नहीं है। आशीष सिन्हा की कहानी "आदमी" की भाषा सर्वहारा जन्य यथार्थ आवेश की भाषा है- "कारिया औराव को जब वे बाँधकर ले आये तब जेठ का सूरज माथे पर तवे की तरह जल रहा था। और सारा जंगल उस आग में झुलस रहा था। कारिया के पैरों के नीचे सूखे पत्ते चरमरा रहे थे। उसने बड़ी मुश्किल से सिर उठाकर धूप नापने की कोशिश की, पर धूप गर्म सलाखों की तरह उसकी आँखों से आ टकरायी।"[2] यहाँ भाषा कथा की सूक्ष्मता और संवेदना की गहराई को व्यक्त करने में अत्यन्त सशक्त है।

सत्तरोत्तर युग के कहानीकारों ने बहुत ही चुभने वाली भाषा का इस्तेमाल किया है। आशीष सिन्हा की कहानी " अनुराग " का एक जीवन्त व्यंग उदाहरण के लिए प्रस्तुत है - " मेरे पिता को या पिता जैसे लोगों को आप रोज देखते होंगे। साठ-सत्तर साल के बूढे चेहरे पर नाक तक सरक आयी ऐनक, झुकी कमर हाथ में लाठी लिए सुबह शाम सड़क पर चलते है। सभ्य भाषा में इन्हें या इन जैसे

---

1 - डा0 विनय- समकालीन कहानी: समानान्तर कहानी, पृ0 127

2- आशीष सिन्हा- संकलक आदमी - श्रेष्ठ समान्तर कहानियाँ, सं0 हिमांशु जोशी-पृ0 30

लोगों को "अवकाश प्राप्त सरकारी नौकर" कहा जाता है।"[1]

विभांशु दिव्याल की कहानी " "स्वयं से स्वयं तक" की भाषा में संवेदना के बदलाव के साथ भाषा में भी उसी अनुरूप परिवर्तन होता है। जब गलतफहमी के कारण सरन और तरूणा (पति-पत्नी) अलग हो जाते हैं। अलग होने की घटना कुछ इस प्रकार है तरूणा को दिल्ली में नौकरी मिली तो वह अपने अंकल रणधीर के यहाँ रहने लगी। सरन और तरूणा आगरा में एक साथ मिलते थे। तरूणा के गर्भवती होने पर सरन रणधीर के ऊपर संदेह करता है। परिणाम - दोनों एक से दूर हो जाते हैं। तरूणा करोल बाग में किराये के कमरे में रहने लगी है। सरन की माँ उसके लिए बधू खोजती है इस पर सरन कहता है- "मैं किसी तरह मम्मी को नहीं समझा पाया था कि भावनात्मक रिश्ते मशीन के पुर्जे नहीं होते, पुराना खराब निकल गया तो नया डाल लो, और मशीन चालू। एक रिश्ते की दरक सारे वजूद में दरारें डाल जाती हैं। आदमी न मर पाता है न जिन्दा रह पाता है। सारा सोचा-समझा जरा सी देर में उलट-पुलट हो जाता है। विश्वास के खम्भे इस तरह ध्वस्त होते हैं कि नये के लिए जगह नहीं बचती। दिल से दिमाग तक, और दिमाग से दिल तक जो तड़प कौंधती है वह आसानी से शान्त नहीं होती।"[2]

मृणाल पाण्डेय की कहानी "कुत्ते की मौत" व्यंग्यपूर्ण कहानी है। घर में कुत्ते की मौत पर घर की औरतों का यह कथन इस प्रकार है- "मरना तो उसे

1- कमलेश्वर-संपादक-समांतर- 1, पृ0 40-41, (अनुराग: आशीष सिन्हा)

2- विभांशु दिव्याल- स्वयं से स्वयं तक (असफल दाम्पत्य की कहानियां- सं0 चित्रा मुद्गल- सुरेन्द्र अरोड़ा) पृ0 18

था ही, मरवा दिया तो ठीक किया। बाल्कनी की औरतों में से किसी ने कहा - "अरे कुत्ते हो तो कुत्ते की औकात में रहो। कुत्ता भी आदमी की तरह तुनक मिजाज हो जाये तो हम पालतू बनाकर किसे रखेंगे, है कि नहीं?"[1]

समकालीन जीवन के जीवंत प्रभावी चित्र उभारती अवधनारायण मुद्गल की कहानी- "कबन्ध"। कहानी का "वह" घर वापस आता है तो सन्नाटा ही सन्नाटा दीखता है। "कोई जवाब नहीं, सिर्फ सन्नाटा। उसे लगता है वह श्मशान पर आ गया है अभी राख के ढेर से प्रेत जगेंगे और उसे खाने दौड़ पड़ेंगे।

"अरे भाई, खाना तैयार न हो तो एक प्याली चाय ही दे दो।" वह डरते -डरते फिर पुकारता है, जैसे प्रेतों ने गला दबाना शुरू कर दिया हो।

"आहा, चाय-खाना दे दो। जैसे सब कुछ रख ही गये हो।" एक धमाके के साथ प्रेत जाग जाता है, "बनिये से एक किलो आटा, पाव किलो चीनी और भाजी वाले से आधा किलो आलू ले आओ। कह देना - पहली को हिसाब चुका देंगे।" एक चीकट झोला पैरों के पास ऐसे गिरता है, जैसे छत से प्रेत कूदा हो। वह सहमकर दो कदम पीछे हट जाता है।

वह झुक कर झोला उठाता है और झुका ही झुका वापस चल देता है। उसका चेहरा फिर गायब हो गया है। पता नहीं फिर वापस आयेगा या नहीं।"[2]

वर्तमान विसंगतियों के जाल में फँसे व्यक्ति की मानसिक दशा को "चीर, बावर्ची, भिश्ती, खर" की भाषा उजागर करती है। इस कहानी के "मैं" का

1- मृणाल पाण्डे -कुत्ते की मौत - [एक नीच ट्राजडी] पृ0 79

2- अवधनारायण मुद्गल- "कबन्ध", पृ0 15

कथन है- "फिर मैं कैसे कह सकता हूँ कि मैं अपनी सूरत पहचानता हूँ? ऐसे मैं पहचान भी कैसे सकता हूँ? दफ्तर में साहब के सामने मेरी और सूरत रहती है, अपने सबार्डि-नेट क्लर्क्स के सामने दूसरी, घर में बच्चों के सामने तीसरी, बीबी के सामने चौथी और रास्ते में मेरी कोई सूरत ही नहीं रहती।"[1]

मृदुला गर्ग की "प्रतिध्वनि" कहानी का शिल्प आधुनिक व्यंग्य कविता के बिल्कुल निकट है। इसलिए इसमें नारे, अधूरे वाक्य, काव्यात्मक पंक्तियाँ आदि के द्वारा नेता के इशारे पर, उसके नारे की प्रतिध्वनि बनकर नाचने के लिए विवश लोकतन्त्र के लोगों पर व्यंग्य किया गया है--

एक मैं ही तो नहीं ताली पिट रहा।

एक मैं ही तो नहीं झूम रहा।

एक मैं ही तो नहीं चीख रहा।

मेरे साथ भीड़ है।

मेरे साथ नेता है।

हुक्म वह देता है,

ताली बजाओ ता- ता-ता।

मै नहीं बजाता, वे बजाते हैं।

मैं तो सिर्फ अनुसरण करता हूँ

आदेश वह देता है,

मिल जाओ- भाईया

1- लक्ष्मीनारायण मुद्गल- पीर, बावर्ची, भिश्ती, खर [कबन्ध] पृ0 55-56

इस कहानी में कथानक से बड़ी चीज यह है कि इसमें वर्तमान राजनीतिक व्यंग्यात्मक कविताओं का सपाट रूप शिल्प ही मिलता है।

भाषिक संवेदना की दृष्टि से निरुपमा सेवती की कहानी "सबमें एक" विशेष महत्वपूर्ण है। कहानी की नायिका अपने नये प्रेमी युवक के साथ उसके पिता के मूर्तियाँ बनाने की स्टूडियो में आती है। युवक अकेले ही अपने निर्णय सम्बन्धी सूचना देने के लिए पिता जी के दफ्तर गया है। युवती कम्पाउंड की भट्टी के पास खड़ी है। इस समय सेवती जी ने वातावरण को जीवन्त बनाने में सक्षम भाषा का प्रयोग किया है-- "दूर पीली रोशनियों में चुपके पड़े खुले कम्पाउंड को देखती रही । इस समय यहाँ कोई काम नहीं चल रहा । भट्टी में भी लाल आँच की तरह साँवली सी राख थी। दूरवाली मूर्तियों की आकृति मटमैली पीली रोशनी में फिर एक सी दिख रही थी······· अभी वह आयेगा और मैं दूसरी जमीन पर खड़ा पाऊँगी खुद को। एक क्षण में ही सब कुछ बदल जायेगा।"[1]

जीवन के यथार्थ को परत दर परत खोलने की भाषा आज की कहानियों में विद्यमान है। चित्रा मुद्गल की "सौदा" कहानी की "वह" जब जान लेती है कि उसके पति चन्दू ने ही, केन्दा को दलाल के हाथों चार हजार रुपये लेकर शहर में बेच दिया तो वह असल में असमंजस में पड़ी हुई है। केन्दा की रक्षा करने का मतलब है पति को पुलिस के हवाले करना- आन्तरिक संघर्ष का चित्र कहानीकार ने यों किया है----"मूर्ख है वह, मूर्ख ही नहीं अंधी भी, स्वयं गृहस्थी की सुखाग्नि को तीली दिखाने जा रही है। लौट चलो। खोली में बन्द चिंगारी को खोली

1- निरुपमा सेवती- सबमें से एक-आतंक बीज, पृ0 22

में ही सौंप दें। चन्दू के आते ही चन्दू को सौंप दे। वह हिसाब-किताब कर लेगा। उसे क्या लेना देना गेन्दा से? कौन लगती है वह उसकी। एक अनजान लड़की की खातिर वह इतना बड़ा जोखिम उठाने चली है। उसके दु:ख से द्रवित हो······ परिणाम सोचे बिना सारी दुनियां के उद्धार का ठेका उसी ने ले रखा है? गेंदा की ही तरह अभावों की मार से विचलित हो उसका बिल्लू कहीं किसी के बहकावे में ऊँच-नीच सोचेबिना गलत उठा कदम लेता? कौन जिम्मेदार होगा उसकी बरबादी के लिए। आँखों की आग होता है शैतान। विवेक बुद्धि निगल लेती है। पति को जेल पहुँचाने की जुगत भिड़ा वह अपने बच्चों को उसी चौराहे की ओर नहीं ढकेल रही, जहाँ पहुँचकर गेन्दा घर से भागने को विवश हुई।"[1]

समकालीन कहानियों की भाषा यदा-कदा बेपर्दा और परिचित शब्द प्रयोगों को तोड़ती है। ममता कालिया की कहानी "लैला-मजनू" में भाषा की ऐसी ही विशिष्टताएं हैं। उदाहरणस्वरूप कहानी के प्रारम्भ में - "रात के वक्त वे घर के करीब-करीब अपने पैदाइशी परिधान में घूमते। अगर कोई इस वक्त उन्हें आंगन में यों घूमते-फिरते या काफी बनाते देखता तो सचमुच यही सोचता कि उसने प्रेत देखे हैं।"[2] इसी कहानी का एक अन्य दिलचस्प वाक्य है- "दूध बहुत ढूंढा, कहीं नजर नहीं आया। तुम फिक्र न करो, मैंने दूध की जगह थोड़ी मुहब्बत मिला दी है, देखो पीकर।"[3]

1- चित्रा मुद्गल- सौदा-नवभारत टाइम्स- 19 जून 1988

2- ममता कालिया-"लैला मजनूँ"- "प्रतिदिन" पृ0 87

3- ममता कालिया-"लैला मजनू" -"प्रतिदिन" पृ0 92

बिम्बों का प्रयोग

स्वातन्त्र्योत्तर कहानियों में बिम्बों का अर्थपूर्ण प्रयोग हुआ है। मनोवैज्ञानिक स्थितियों को अच्छी तरह अभिव्यक्त करने के लिए और उसे सार्थक साज-सज्जा हेतु कहानीकारों ने बिम्बों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया है। इस सम्बन्ध में मोहन राकेश ने अपना विचार इस प्रकार व्यक्त किया है- "कहानीकार बिम्बों के माध्यम से एक भाव या विचार को सफलतापूर्वक व्यक्त कर सकता है जब वे बिम्ब यथार्थ की रूपाकृतियों से भिन्न न हों- उनके संघटन से जीवन के यथार्थ को पहचाना जा सके। जरा भी " अनकन्विन्सिंग " होते ही एक सुन्दर संकेत के रहते हुए भी कहानी असमर्थ हो जाती है। कहानी की वास्तविक सामर्थ्य इसी में है कि बड़ी से बड़ी बात कहने के लिए भी लेखक को असाधारण असामान्य का आश्रय न लेना पड़े- साधारण जीवन के साधारण संगठन से ही विचारों की अनुगूंज पैदा कर सके।"[1] नये बिम्ब विधान ने कहानी में अभिव्यक्ति के नये आयामों की उपलब्धि में बहुत सहायता की। निर्मल वर्मा की कहानियों के बिम्ब अत्यन्त सजीव और सरस हैं। उदाहरण स्वरूप दहलीज कहानी के ये बिम्ब -"पियानों के संगीत के सुर या ग्रामोफोन के घूमते तवे पर फूल पत्तियों के डग जाने या गर्दन के नीचे फ्राक के भीतर से उठती हुई कच्ची गोलाइयाँ। दहलीज कहानी में, शम्मी भाई के निकट आने पर रूनी का दिल धौंकनी की तरह धड़कने लगा है और "उसकी गर्दन के नीचे फ्राक के भीतर से उभर उठती हुई कच्ची सी गोलाइयों में मीठी-मीठी सी सुइयाँ

1- मोहन राकेश-कहानी नये संदर्भ की खोज- "नयी कहानी संदर्भ और प्रकृति" सं0 (देवीशंकर अवस्थी),

घुम रही है, मानो शम्मी भाई की आवाज ने उसकी नंगी पसलियों को हौले से उमेठ दिया हो। उसे लगा, चाय की केतली की टीकोजी पर जो लाल-नीली मछलियाँ काढ़ी गयी हैं, वे अभी उछलकर हवा में तैरने लगेंगी और शम्मी भाई सब कुछ समझ जायेंगे···· उनसे कुछ भी छिपा न रहेगा।"[1] इन्हीं की कहानी "परिन्दे" की लतिका को ऐसा आभास होता है" लीड- काइन्डली लाइट····· संगीत के सुर मानो एक ऊंची पहाड़ी पर चढ़कर हाँफती हुई साँसों को आकाश की अबाध शून्यता में बिखेरते हुए नीचे उतर रहे हैं। बारिश की मुलायम धूप चैपल के लम्बे चौकोर शीशों पर झलमला रही है। जिसकी एक महीन चमकीली रेखा ईसा मसीह की प्रतिमा पर तिरछी होकर गिर रही है। मोमबत्तियों का धुआँ धूप में नीली-सी लकीर खींचता हुआ हवा में तिरने लगा है। पियानो के क्षणिक "पोज" में लतिका को पत्तों का परिचित मर्मर कहीं दूर अनजानी दिशा से आता हुआ सुनाई दे जाता है।"[2] "डायरी का खेल" कहानी में भी बिम्बात्मक भाषा स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है- "धुन्ध कुहासा-धूल की तहों में दबा, लिपटा, पीला-पन- अजीब धूमिली सी थकी-थकी चाँदनी, जो ईंटों की दीवार पर गिर रही है, उसके बीच फँसे गौरय्या के घोंसले पर गिर रही है, चाची की छत पर गिर रही है, बिट्टो के सारे शरीर पर, बिट्टो की आँखों, बाँहों, बालों की लटों पर गिर रही है- मैंने देखा·······चैपल में खड़ी हुई "वर्जिन"·······चाँदनी में काँप रही है।"[3] कहानी को पढ़ने से कविता का सा रसास्वादन होता है।

1- निर्मल वर्मा -"दहलीज," मेरी प्रिय कहानियाँ, पृ0 15

2- निर्मल वर्मा- "परिन्दे", पृ0 15।

3- निर्मल वर्मा- "डायरी का खेल" परिन्दे, पृ0 27

"आदमी और लड़की"[1] कहानी में आदमी के एकदम से प्रकट हो जाने से वह भयभीत-सी हो जाती है और उसके पुराने ओवरकोट के गर्द भरे कॉलर काले डायनों से उसकी गर्दन पर उठे थे जिससे लड़की को वह एक प्रेत जैसा दिखाई दिया। इनकी कहानियों में नवीन सौन्दर्य बोध को अभिव्यक्त करने वाले अनेक मूर्त एवं अमूर्त बिम्ब विद्यमान हैं। जैसे- "अक्तूबर की धुन्ध पर बार की नियॉन लैट एक लाल बिन्दी सी चमक रही थी।"[2] "कव्वे और काला पानी" में भी बिम्ब दर्शनीय हैं-- "लेकिन भीतर कोई दिखाई नहीं दी और तब मुझे पता चला कि जिस सुराख से मैं झांक रहा हूँ वहाँ से रोशनी भी आ रही है- धूप का मैला धब्बा जिसे सूरज वहाँ फेंक गया था और फिर उठाना भूल गया था।"[3]

कुछ देर पहले जिस चेहरे को हँसते देखा था वह अब तक अन्धेरी बालकनी पर ठिठकी छाया सा दिखाई देता था।"[4]

कमलेश्वर ने भी बिम्बात्मक भाषा के प्रयोग में महत्त्वपूर्ण योग प्रदान किया है, इनकी "जोखिम" कहानी के कुछ अंश उदाहरणार्थ प्रस्तुत हैं- "उस रोज सागर पर धुंध छायी हुई थी। मानसून चारों तरफ था। मलाबार पहाड़ी उस धुंध में खो गयी थी। सिर्फ मेरे चारों ओर पचास-पचास गज तक साफ-साफ दिखाई दे रहा था। उसके बाद कुछ नहीं। एक मिनट बाद सागर का भी एक छोटा सा टुकड़ा

1- निर्मल वर्मा- "आदमी और लड़की" -कव्वे और काला पानी, पृ0 87

2- वही पृ0 100

3- निर्मल वर्मा- कव्वे और काला पानी, पृ0 102

4- वही पृ0 141

भर रह गया था बाकी अदृश्य हो गया। निहायत छोटी सी धुंध की दुनियां में मैं घिर गया था। तब मैं था, धुंध थी और सागर के टुकड़े पर दो जल-पक्षी सफेद प्रकृति में और ज्यादा सफेद पंखों वाले। वे जल पक्षी सीप की तरह चमक रहे थे।"[1] "युद्ध" कहानी के आरम्भ में युद्ध का वातावरण बिल्कुल स्पष्ट बिम्ब के रूप में उभरा है-- "बाहर वीरानी और अंधेरा है। चारों तरफ एक अजीब सी सनसनाहट है; जैसे अंधेरे में साँप रेंग रहे हैं।"[2]

"दाल चीनी के जंगल" कहानी का नायक भोपाल गैस की त्रासदी से पीड़ित एक अर्ध विक्षिप्त सा आदमी है। उस आदमी की बीमारी को कमलेश्वर ने अनेक बिम्बों में प्रस्तुत किया है- "फिर दाल चीनी के जंगल नायलान की साड़ियों की तरह धू-धू करके जलने लगे थे......कानों से गर्म धुएँ के बगूले फूटने लगे थे..।"[3]

"एक बार और" कहानी में मन्नू भंडारी ने बिन्नी के एकाकी जीवन का बिम्ब इस प्रकार व्यक्त किया है---" कच्ची सड़क पर पहियों के गहरे निशान छोड़कर नन्दन की जीप दूर जाकर अदृश्य हो गई। बिन्नी और सुषमा के बीच में से केवल नंदन ही नहीं गया। वह अपने साथ दोनों के बीच सवेरे से आए तनाव को भी लेता गया। गायें चली गयी, जीप चली गयी। केवल वे शब्द, वे ध्वनियां

1- कमलेश्वर-"जोखिम"- समान्तर-1, पृ0 58

2- कमलेश्वर- "युद्ध"- मांस का दरिया, पृ0 14

3- कमलेश्वर- दाल चीनी के जंगल- सारिका जनवरी, 1990

बड़ी देर तक बिन्नी के मन में गूँजती रही। रात में बिन्नी सोयी, तो सुषमा उसके बालों को सहलाते हुए समझा रही थी, " देख बिन्नी, अब पागलपन मत करना। नन्दन जैसा आदमी तुझे मिलेगा नहीं, दिनेश भइया ने आखिर कुछ सोचकर ही इतनी बार लिखा। इन कताई बातों में कुछ नहीं रखा है। जिन्दगी अपने ढंग से ही चलती है।"[1]

"ऊँचाई" कहानी की शिवानी शिशिर की पत्नी ही नहीं दो बच्चों की माँ भी है। लेकिन वह आकस्मिक रूप से अतुल से मिलती है, वह अतुल जो उसका प्रेमी था। शादी होने के बाद उसकी मुलाकात अतुल से हुई तो वह यों ही उससे जुड़ गयी। "एक दिन वह बिना किसी प्रकार की सूचना दिये अपनी अटैची हाथ में लिए अतुल के क्वार्टर में जा पहुँची।......... वह नहाने गयी तो उसने नल को पूरा खोल दिया......उसे लग रहा था जैसे पानी के साथ उसके शरीर से केवल सफर की धूल ही नहीं बह रही है, और भी बहुत-कुछ पुँछता बहताचला जा रहा है। बड़ी देर तक वह पानी के नीचे खड़ी रही..... मानो कुछ था जिसे वह पूरी तरह धोकर बहा देना चाहती थी।"[2]

"तीसरा आदमी" का सतीश शकुन का पति है। सतीश हीन ग्रंथि का शिकार है। लेखक आलोक जी और शकुन को लेकर उसके मन में अनेक गलतफहमियाँ भरी हुई हैं। सतीश अपनी साइकिल पर चढ़कर लक्ष्यहीन होकर भटकते-भटकते

1- मन्नू भण्डारी- "एक बार और" (एक प्लेट सैलाब), पृ0 75

2- मन्नू भण्डारी- "ऊँचाई" (एक प्लेट सैलाब), पृ0 134

तालाब के किनारे पहुँचा-- साइकिल में उसने ताला डाला और तालाब की ओर मुँह करके बैठ गया। सामने पानी में छोटी-छोटी लहरें उठ बिखर रही थीं। एक लहर उठकर आगे बढ़ती, पर किनारे तक आने से पहले ही दूसरी लहर धक्के में उसे बिखेर देती। वह कुछ देर लहरों का खेल ही देखता रहा।"[1] लेखिका ने यहाँ पर लहरों की गति के माध्यम से सतीश के अन्तर्द्वन्द्व को व्यक्त किया है।

"रीछ" कहानी में दूधनाथ सिंह ने व्यक्ति और उसके अन्दर बैठे पशु की चर्चा की है। विजय उस वासना पशु की ही होती है- " सहसा ही वह पस्त पड़ गया और जाकर तख्त पर ढह गया। उसके हटते ही वह उठा। एक बार उसने बड़े जोर की जम्हाई ली और फिर उछलकर उसके ऊपर सवार हो गया। उसे लगा, वह धीरे-धीरे डूब सा रहा है। बेहोश हो रहा है.........तिरोहित हो रहा है। उसने देखा कि वह दीवारों पर अंधेरे में अपनी छाप लगा रहा है। खिड़की की सलाखें पकड़ झूम रहा है। गलियों, मकानों, चौराहों, सड़कों के मोड़ों और भरे बाजारों में ऊँघता हुआ टहल रहा है। उसने देखा कि वह उसकी पत्नी के बगल में लेटा है.........। तभी उसके जबड़े को कसने वाला तार, शायद टूट गया। उसे लगा कि उसने उसका सिर बीच से दो टुकड़ा कर दिया है। फिर उसे लगा कि वह अपना थूथन, फिर पंजे, और फिर धड़ उसके फटे हुए सिर के बीच घुसेड़ रहा है......एक भयानक चिंघाड़ उसे जैसे बहुत दूर से आती सुनायी दी।"[2]

1- मन्नू भण्डारी- तीसरा आदमी (यही सच है) पृ0 29

2- दूधनाथ सिंह- (पहला कदम)- "रीछ", पृ0 16।

महीपसिंह की कहानी "धूप की उँगलियों के निशान" का "मैं" और नीता पति पत्नी रहे। सात साल एक साथ रहे। उन्हें अमित बेटा भी हुआ लेकिन नीता का "अहं" उसे असह्य हो गया। परिणाम स्वरूप तलाक हो जाता है और इसके तीन वर्ष बाद "मैं" की शादी संतोष नामक युवती से हो जाती है। अब आकस्मिक रूप से "मैं" की मुलाकात नीता से हो जाती है। "मैं" नीता के घर भी जाता है। नीता के साथ उस घर में "मैं" ऐसा महसूस करता है- "नीता उसे सारे घर में भरी हुई दिखायी देती थी जैसे वह कोई पीपल का वृक्ष हो, जिसकी डालियाँ घर के हर कोने से झाँक रही हो और वह मात्र एक पीला पत्ता हो, जो हवा के एक झोंके के साथ कभी यहाँ गिर पड़ता है, कभी वहाँ।[1]

"और कुत्ता मान गया" कहानी में अवध नारायण मुद्गल ने व्यंग्यात्मक भाषा का प्रयोग किया है। चपरासी पति अपनी समाजसेविका पत्नी के सामने स्वयं को छोटा समझता है। साहब के यहाँ आयी हुई पत्नी, वहाँ अपने चपरासी पति को देखकर भी अनदेखी करती है। दोनों ऐसा व्यवहार करते हैं मानो एक दूसरे के लिए अजनबी हों। साहब का कुत्ता चपरासी के मुन्ने को काटता है तो मुन्ना चिल्लाता है। चिल्लाहट सुनकर साहब और साहब की बीबी के साथ मुन्ने की माँ भी वहाँ पहुँच जाती है तो मुन्ना अपनी माँ से लिपट जाता है। " साहब और साहब की बीबी, उस समाज सेविका महिला को, मुन्ना की माँ या मेरी बीबी के रूप में पहचान कर चौंक पड़े। मुझे लगा - उनके पिटे-पिटे, सूजे चेहरे मेरी ओर घूम रहे हैं । साहब का चेहरा विकृत, अनपहचाना हो गया था। उस

1- महीप सिंह- धूप की उँगलियों के निशान-असफल दाम्पत्य की कहानियाँ- सं0 चित्रा मुद्गल, सुरेन्द्र अरोड़ा, पृ0 56

उन लोगों की आँखें अविश्वास, आश्चर्य, घृणा या क्रोध में बिना किसी कारण विशेष के बेतरतीब फैलकर और अधिक डरावनी लग रही थी।"[1]

स्वातन्त्र्योत्तर कहानी में बिम्बात्मक शिल्प के ऐसी- ऐसी संवेदनाओं की परत खोलकर रख दी है जो दुर्लभ हैं। निरूपमा सेवती ने अपनी कहानियों में विविध प्रकार से बिम्बों को ढाला है। उनकी कहानियों के बिम्ब बिल्कुल ताजे हैं। उनकी कहानी "समायोजन" की "वह" मनोज और बॉस के बीच में फँसी हुई है। वह अपने को अकेली पाती है। घर में बीमार माँ है, और जिंदगी से थके हारे पिता जी हैं। "उसका माथा जैसे लोहे के यन्त्र में पिसने लगा हो। जिसकी पीड़ा में वह दिन भर जलती रही अकेली पड़ी हुई ...... कुछ दिन पहले उसकी छोटी बहिन भी अकेली पड़ी रोती रही थी पर बहते आँसुओं सहित बहिन द्वारा पाले जा रहे चूजे को कौवा चोंच में उठा ले गया था- और सूखे आँसू से छलनी होते हुए आज वह चुप पड़ी है तो एक नदी हृदय अटक आता है। सामने बार-बार कव्वे की चोंच में चूजा बिलबिलाता हुआ- चोंच में लटकता हुआ, हारा हुआ अधमरा चूजा........ और उसे लगता है उसकी आँखों में खून जम-सा आया है।"[2]

"अचानक शुरूआत" की "मैं" अपने पति राजीव के वेतनमात्र से जिन्दगी गुजारने में कठिनाई अनुभव करती है। उनकी बेटी भी है जो ढाई साल की है।

1- अवध नारायण मुद्गल- "और कुत्ता मान गया"- कबन्ध, पृ0 25

2- निरूपमा सेवती- "समायोजन" - आतंक बीज, पृ0 124

पड़ोसिन मिसेज शर्मा उन्हें "बुद्धिधामयी अमनाहट" दे जाती है। "मैं" सोच रही है कि "उनकी हँसी पूरी फैलने से पहले ही एक झटके में टूट कर कहीं गायब हो जाती है?"

कुछ देर बाद ये सब भूल जाती है। शाम उतरने लगती है तो मन और भी ठीक हो जाता है। धूप की आखिरी परछाइयाँ भी गायब है और खिड़की के पर्दे में हल्की सी जुंबिश होती है तो सारी उमस को भुलाकर उस मुट्ठी भर हवा की नमी से लहक उठती है। वहाँ से दिखते उस छोटे से आसमान में अपनी इस जिन्दगी की शुरुआत को खिलते हुए रंगों में देखना चाहती हूँ।"[1] निरुपमा के इन बिम्बों से अमूर्त चित्रों की रेखाओं और रंग की याद ताजी हो जाती है।

मृदुला गर्ग भी चित्रात्मक भाषा के प्रयोग में एक महत्वपूर्ण हस्ताक्षर है। "ग्लेशियर से" कहानी चित्रात्मक भाषा की एक तस्वीर है। इस कहानी की मिसेज दत्ता को पहाड़ के गाइडों को देखकर लगता है-- "कोई दूसरा गाइड है या शायद यहीं पहले वाला। एक कम्पनी की बनी मोटर गाड़ियों की तरह है सब।"[2] यह बोध नवीन सौन्दर्य बोध के साथ अभिव्यक्त हुआ है।

"डैफोडिल जल रहे हैं" कहानी के काव्यात्मक परिवेश के अनुरूप ही उसमें अनेक बिम्बों का प्रयोग किया गया है। गुलमर्ग का एक चित्र इस प्रकार है- "गुलमर्ग यानी फूलों का रास्ता। एक रंगीन सफर। यह सैलानियों की बन्दरगाह। हाँ, सैलानी भी जहाजों की तरह होते हैं।"[3] इसी कहानी में बर्फीले परिवेश को

1- निरुपमा - अचानक शुरुआत- [दूसरा शहर] पृ0 25

2- मृदुला गर्ग- ग्लेशियर से - पृ0 14

3- मृदुला गर्ग- डैफोडिल जल रहे हैं, पृ0 13

अने बिम्बों के द्वारा दर्शाया गया है यथा- "वह बर्फ, जिसके ढलान पर सुधाकर फिसलता आ रहा था , धुंध भी पड़ने लगी...... ढाके की मलमल-सी महीन धुंध उठी.... एक छोर से दूसरे छोर तक बिछी चादर की झीनी परत.... हवा में धीमे से झूलती हुई ......एक परत पर फिर दूसरी परत.... उसकी पारदर्शिता को स्थापित करती .... झपीलि नजरों से खेलता उसे घूंघट की ओट लेता धुंधलका.....प्रहार को प्रस्तुत, सितार के तारों-सी कसी, दर्द से तनी नसों को सहलाता-दुलारता, राहत भरा सलेटी अंधेरा.....।"[1]

ममता कालिया की कहानी "लैला-मजनूं" में पति पत्नी पंकज और शोभा तो "आजकल जब भी वे अकेले होते किचकिचाहट भरी बहस में पड़ जाते। शोभा जो कुछ भी कहती, पंकज उसका एक पेतरेबाज जवाब देता, दोधारे ब्लेड-सा तीखा और तेज, संवाद की सभी सम्भावनाओं पर फाटक बन्द करता हुआ। उसका जवाब परस्पर संप्रेषण पर तेजाब की एक घूंट सा फैल जाता। उसका जवाब शोभा की समस्त संवेदन शीलता का उपहास करता । पंकज का जवाब सीधे-सीधे निब था नीला, पीला और हरा।"[2]

"काली साड़ी" कहानी में मध्यवर्गीय जीवन के परिवेश के अनुकूल ही उन्होंने मानसिक भाव का बिम्ब उपस्थित किया है-- "न जाने उसे क्या होता जा रहा है। न बच्चों की चंचलता बरदाश्त होती है, न निश्चलता। मन तुरन्त गड़बड़ा जाता है जैसे आंधी में साइकिल।"[3]

1- मृदुला गर्ग- डैफोडिल जल रहे हैं, पृ0 28

2- ममता कालिया-"लैला मजनूं- प्रतिदिन,पृ0 9।

3- ममता कालिया- "काली साड़ी"- प्रतिदिन, पृ0 13

राजी सेठ की "अंधे मोड़ से आगे" कहानी की नायिका तलाक के बाद अपने दूसरे पति मिश्रा के साथ बम्बई चली गयी। वहाँ उसे जीवन में प्रथम बार समुद्र देखने का सौभाग्य प्राप्त है उस समय उसकी मन:स्थिति का चित्र लहरों के कई बिम्बों के माध्यम से दिखाया गया है। उदाहरणस्वरूप- " वह दबती गयी थी वैसे ही जैसे सीने पर चढ़ती आती लहर पर लहर के नीचे सागर तट की रेती में चिपका पड़ा सीप-शंख का कोई टुकड़ा, जिसका पानी से कोई सम्बन्ध न बनता हो।[1]

मंजुल भगत की कहानी "स्याह घर" में घर को डोबा जैसा बताया गया है और उसे देखने पर प्रकाश को ऐसा आभास होता है जैसे - "कोई परछायी अपनी छाया सी बाँहें आकाश की ओर उठाये खड़ी हो, किसी प्रेत ने जैसे अन्धकार से आकार माँगा हो।"[2] इन्हीं की एक अन्य कहानी "चिथड़ा गुड़िया" के पति-पत्नी के भावनात्मक सम्बन्ध को तलाक के माध्यम से तोड़ने की स्थिति को एक बिम्ब के द्वारा इस प्रकार दिखाया गया है-- जैसे सम्बन्ध कच्चा धागा हो और जिन्दगी धड़धड़ाती सिलाई मशीन जो क्षण में धागे को टूक करके डाला दे ।[3]

मंजुल भगत की ही कहानी "करवट दर करवट एहसास" में शन्नो के रूप रंग का एक बिम्ब इस प्रकार है-- " माँ कहती है उसकी आँखें दो बादामों जैसी हैं, रंग बिस्कुट सा।"[4]

1- राजी सेठ- "अन्धे मोड़ से आगे" पृ0 113-114

2- मंजुल भगत- "स्याह घर"- सफेद कौआ"-पृ0 15

3- मंजुल भगत-चिथड़ा गुड़िया-" सफेद कौआ- पृ0 19

4- मंजुल भगत- करवट दर करवट एहसास"-सफेद कौआ,पृ0 65

प्रतीक योजना

प्रतीक के माध्यम से रचना को महत्वपूर्ण रूप दिया जा सकता है। कहानियों में प्रतीकों के महत्त्व को सहर्ष स्वीकार किया गया है प्रतीकों के माध्यम से कहानी की अभिव्यक्ति क्षमता एवं प्रभावशीलता में पर्याप्त अभिवृद्धि हुई है। प्रतीक के सम्बन्ध में हेतु भारद्वाज के विचार इस प्रकार हैं- "प्रतीक के माध्यम से कथाकार मानव प्रतिमा की कुंठाओं के अंधकार में तथा उसके मानस गह्वर में प्रवेश करता है तथा प्रतीक के माध्यम से उन्हें संप्रेषित करता है। अतः संप्रेषणीयता की दृष्टि से प्रतीक का विशेष महत्त्व है।"[1] वर्तमान व्यक्ति की लाचारी और अकेलेपन का बोध प्रतीकों और बिम्बों के माध्यम से कहानियों में व्यक्त हुआ है। शिव प्रसाद सिंह की कहानी "कर्मनाशा की हार" में कर्मनाशा की बाढ़ को इस प्रकार व्यक्त किया गया है- " किन्तु पिछले साल अचानक जब नदी का पानी समुद्र के ज्वार की तरह उमड़ता हुआ नई डीह से जा टकराया, तो ढोलकें बह चलीं, गीत की कड़ियाँ मुरझाकर होठों में पपड़ी की तरह छा गईं।"[2]

"एक बाढ़ बीती, बरस बीता। पिछले घाव सूखे न थे कि भादों के दिनों में फिर पानी उमड़ा। बादलों की छाँह में सोया गाँव भोर की किरण देखकर उठा तो सारा सिवान रक्त की तरह लाल पानी से घिरा था।"[3]

कमलेश्वर की प्रसिद्ध कहानी "खोयी हुई दिशायें" में कस्बे के संवेदनशील युवक

1- हेतु भारद्वाज-स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कहानी में मानव प्रतिमा, पृ0 122

2- शिवप्रसाद सिंह-कर्मनाशा की हार- कथा भारती (सं0 डा0 केशवप्रसाद सिंह) पृ0 16

3- शिव प्रसाद सिंह -कर्मनाशा की हार-कथाभारती (सं0 डा0 केशवप्रसाद सिंह) पृ0 16

की उथल-पुथल को, उसके अकेलेपन की अनुभूति को कई प्रतीकों के द्वारा दिखाया गया है। युवक चन्दर सोचता है- " तन्हा खड़े पेड़ों और उनके नीचे सिमटते अंधेरे में अजीब सा खालीपन है। तन्हाई ही सही, पर उसमें अपनापन तो हो। वह तन्हाई भी किसी की नहीं है। क्योंकि हर दस मिनट बाद पुलिस का आदमी उधर से घूमता हुआ निकल जाता है। झाड़ियों की सूखी टहनियों में आइसक्रीम के खाली कागज और चने की खाली पुड़िया उलझी हुई है या कोई बेघरबार आदमी शराब की खाली बोतल फेंककर चला गया है।"[1] "नीली झील"[2] कहानी में अशिक्षित, सामान्य आदमी- महेश पांडे की गतिविधि की चर्चा की गई है जिसमें वह "नीली झील" की रक्षा के लिए लोगों के साथ विश्वासघात कर उनके रुपये हड़प लेता है। "मांस का दरिया"[3] कहानी में वेश्या जुगनू के जाघों के बीच के फोड़े से निकलने वाला मवाद सड़े हुए समाज से निकलने वाला मवाद है। उसमें जुगनू की ढलती जिन्दगी का चित्रण किया गया है। "नागमणि"[4] प्रतीकात्मक शीर्षक की कहानी है। मणि में ही नाग का सर्वस्व निहित है। वर्तमान समय के मनुष्य की स्थिति उस सर्प की भाँति हो गई है जो मणि के अभाव में जीवित रह रहा है। इस शीर्षक से विश्वनाथ का सम्पूर्ण चरित्र स्पष्ट हो जाता है।

"तलाश" कहानी की बेटी ममी के कमरे में टंगी पिता की तस्वीर को अपने कमरे में रख लेती है और अपने कमरे में टंगी उमड़ते सागर की तस्वीर ममी के कमरे में लगा देती है। "ममी की इच्छाएं भी सागर की तरह उमड़ रही थीं और ममी

1- कमलेश्वर-खोयी हुई दिशाएं- मेरी प्रिय कहानियाँ,पृ0 43

2- कमलेश्वर-नीली झील-मेरी प्रिय कहानियाँ-पृ0 97

3- कमलेश्वर-माँस का दरिया, पृ0 48

4- कमलेश्वर-नागमणि-मेरी प्रिय कहानियाँ, पृ0 120

जल पक्षी की तरह अपनी इच्छा रूपी सागर पर मँडरा रही थी।"[1] ममी जिस तलाश में लगी हैआज का प्रत्येक व्यक्ति भी उसी तलाश में लगा है। इस बिम्ब को बखूबी कमलेश्वर ने इस कहानी में उभारा है।

निर्मल वर्मा ने प्रतीकात्मक शीर्षक में कई कहानियाँ लिखी हैं जैसे-"परिन्दे", "जलती झाड़ी", "माया दर्पण" आदि। "जलती झाड़ी" एक नगर से दूसरे नगर में भटकाव की कहानी है। अपनी संवेदना को इस कहानी में निर्मल वर्मा ने यौन सम्बन्धी संकेतों के माध्यम से व्यक्त किया है- "उन दोनों की गहरी, हाँफती, टूटी सी साँसे मुझ तक पहुँच जाती थीं-- एक धधकती सी गरमाहट झाड़ी के बाहर निकलती थी, बीच की हवा को छीलती, भेदती, मन्त्रमुग्ध साँप की तरह बल खाती हुई मुझे लपेट लेती थी। झाड़ी बार-बार हिल उठती थी, मानो उनकी गरम बोझिल साँसों का भार न सँभाल पा रही हो। उनके नीचे दबे पत्ते बार-बार चरमरा उठते थे।

एक दबी उफनती सी चीख, फिर सिसकती सी कराहट, फिर वह भी नहीं... एक खाली हल्की हवा, और तब सब कुछ पहले जैसा शान्त हो गया। मुझे आज भी सोचकर अपने पर हैरानी होती है कि मैं वहाँ से चला क्यों आया। जो कुछ झाड़ी के पीछे हो रहा था, उसके प्रति मेरे मन में न कोई जिज्ञासा थी, न जुगुप्सा... कौतूहल भी नहीं। फिर भी मेरे पाँव नहीं उठे। मैं जड़वत बैठा रहा।"[2]

1- कमलेश्वर- तलाश- मेरी प्रिय कहानियाँ, पृ0 14।

2- निर्मल वर्मा- जलती झाड़ी, पृ0 9।

"अँधेरे में" बीरान चाचा को अपनी पुस्तक "शिमला का इतिहास" निबन्ध में खोज करते एक फोटो मिल जाता है। "रेसकोर्स की भीड़ दिखायी गयी बहुत से लोग भीड़ में खो गये हैं। लेकिन एक अंग्रेज लड़की का चेहरा बिल्कुल दीखता है। वह पवेलियन के पास छाता लिए खड़ी है- जब कि और सब की आँखें भागते हुए घोड़ों पर जमी हैं..... वह गहरी उत्सुक आँखों से पीछे की देख रही है।"[1] रेसकोर्स की वह लड़की उस पानी का प्रतीक है जो अपनी को छोड़कर प्रेमी के लिए रुकी हुई है वर्षों से रुकी हुई है।

"माया दर्पण" कहानी में इंजीनियर बाबू सीढ़ियाँ उतरते हैं तो पूरा घर हिलने लगता है यहाँ घर का हिलना तरन के व्यक्तित्व के हिलने का प्रतीक है दूर-दूर तक रेतीली जमीन फैली थी। अस्त होने से पहले सूरज की पीली किरणें कच्चे सोने की-सी रेत पर बिखर गयी थीं। नई सड़क के दोनों ओर रोड़ोप पत्थरों के ढेर छोटे-छोटे पिरामिड जैसे खड़े थे। उन्हीं के संग चलती हुई तरन चामी के टैंक तक पहुँची थी।"[2]

"कव्वे और काला पानी"[3] निर्मल वर्मा की प्रसिद्ध कहानी है। उसमें काला पानी मनुष्य के अकेलेपन का बोध और निर्वासन का प्रतीक है। इसके कव्वे उन अभिशप्त मानवों के प्रतीक हैं जो दूसरों से बिल्कुल कट जाते हैं और मानों मरकर कौवे की योनि में आ गए हैं।

1- निर्मल वर्मा- अन्धेरे में -परिन्दे, पृ0 78

2- निर्मल वर्मा- ~~माया दर्पण~~ जलती झाड़ी, पृ0 39

3- निर्मल वर्मा- कव्वे और काला पानी, पृ0 102

मन्नू भण्डारी सशक्त प्रतीकों के प्रयोग में सिद्ध हस्त हैं। "यही सच है" कहानी की दीपा कलकत्ता में निशीथ से मिलनोपरान्त जब वापस कानपुर आती है। तो देखती है कि कानुपुर के उसके कमरे में फूलदान में लगे रजनीगंधा के फूल मूर्छित हो गये हैं। रजनीगन्धा के फूल संजय ने लाकर रखे थे। संजय से परिचय होने के पूर्व निशीथ से उसका प्रेम हो गया था। और उस रिश्ते के टूटने पर ही संजय से उसका सम्बन्ध बना था। अब जब वह कलकत्ता इण्टरव्यू देने गयी थी तो दीपा की मुलाकात निशीथ से होती है। दीपा को मानसिक संघर्ष होता है-- "लौटकर अपना कमरा खोलती हूँ। सब कुछ ज्यों का त्यों है, सिर्फ फूलदान के रजनीगंधा मुरझा गये हैं। कुछ फूल झरकर जमीन पर इधर-उधर भी बिखर गये हैं।"[1] रजनीगंधा का मुरझाना और फूलों का इधर-उधर बिखरना दीपा के मन से संजय से अलग होने का प्रतीक है।

"एक प्लेट सैलाब" कहानी के अंत में " कुछ बच्चे बालकनी की रेलिंग पर झुलते हुए से हॉल में गुब्बारे उछाल रहे हैं। कुछ गुब्बारे कॉर्पेट पर आ गिरे है। कुछ कन्धों और सिरों से टकराते हुए टेबलों पर लुढ़क रहे हैं तो कुछ बच्चों की किलकारियों के साथ साथ हवा में तैर रहे है।.......... नीले,पीले, हरे, गुलाबी।"[2] इन गुब्बारों का उड़ना लक्ष्यहीनता की ओर संकेत है।

1- मन्नू भण्डारी-यही सच है- मेरी प्रिय कहानियाँ,पृ098

2- मन्नू भण्डारी- एक प्लेट सैलाब, पृ0 39

"बेल"[1] कहानी में शशिप्रभा शास्त्री ने बैल को इस आदमी का प्रतीक बनाया है जो छ: बच्चों के पैदा हो जाने पर रात में इस लड़की के कमरे के बाहर टहलता है जो सेमिनार के लिए आयी हुई है।

निरुपमा सेवती की कहानी "तृष्णा" की नायिका कामकाजी स्त्री है। जीवन में उसे कटु से कटुतम अनुभव प्राप्त हुए हैं उसकी दु:खी जिन्दगी को कहानी में विभिन्न प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त किया गया है--"लहूलुहान बादल मरणासन्न से साँवले पड़ गये थे। इसतरह के सलियाले बादलों के साथ उसका गहरा सम्बन्ध है। ऐसे में न चाहने पर भी अक्सर वही शाम याद आ जाती है।"[2] "विक्षिप्त" कहानी में विश्वविद्यालय के छात्र जब बस पकड़कर वीरान जगह ले जाते हैं तो कहानी की नायिका को ऐसा लगता है-- "यूँ ही सोये-सोये ख्याल आ जाता कि अचानक सारा घर धुएँ से भर गया है और दरवाजा आग की लपट से दहक रहा है, बच निकलने का कोई रास्ता ही नहीं।"[3]

प्रतीक की दृष्टि से विशिष्ट स्थान रखने वाली कहानियों में रवीन्द्र कालिया की कहानी "काला रजिस्टर" उल्लेखनीय है-"काला रजिस्टर लुढ़कता हुआ आ रहा था, तमाम उप "हैण्डज अप" की सी मुद्रा में निहत्थे हो गये। छोटे ने उचककर कुछ पढ़ना चाहा। मगर रजिस्टर उसके पास से निकल गया। मँझले ने भी संतोष की साँस ली। दोनों मोटों ने क्षण भर के लिए आँखें मिलाई और मूँद ली। मगर काले रजिस्टर ने इस बार नया शिकार ढूँढा था। वह सीधे मैंने के पास जाकर खुल गया। मैंने के लिए यह नया अनुभव था, उसकी घिग्घी

1- शशिप्रभा शास्त्री-बेल-अनुरक्तरिक्त, पृ0 88

2- निरुपमा सेवती-तृष्णा-आमेरासी को पीते हुए, पृ0 47

3- निरुपमा सेवती-विक्षिप्त-भीड़ में गुम, पृ0 63

बँध गयी। उसने कुछ भी लिखने के बजाय रजिस्टर पर दस्तखत कर दिये और रजिस्टर उसी रफ्तार से लौट गया।"[1] यहाँ पर "काला रजिस्टर" भ्रष्टाचार के प्रतीक तथा नौकरशाही के प्रतीक रूप में उभरा है। वेदराही की कहानी "बर्फ"[2] कहानी के पात्रों का प्रतीक है। और खासकर उनकी मानसिक स्थिति का प्रतीक है।

"अनुराग" में आशीष सिन्हा ने प्रतीक के द्वारा शिक्षित बेरोजगार युवक की कहानी लिखी है- "मेरे पास अपनी डिग्रियों के नाम पर कागज के कुछ टुकड़े हैं। मैं इन्हें संभालकर रखता हूँ। हर सप्ताह इन्हें अपने सूटकेस से निकालकर धूप में सुखने देता हूँ। फिर तह तर तह लगा कर रख देता हूँ। ऐसा इसलिए करता हूँ कि एक दिन मैंने अचानक देखा था कि इन कागजों का एक कोना दीमक चाट ग गयी है। मेरी आँखों के सामने जैसे अन्धेरा छा गया। मुझे लगा था दीमक कागज का टुकड़ा नहीं बल्कि मेरे भविष्य को बड़ी चालाकी से चाट रही हो।"[3]

इब्राहीम शरीफ की कहानी - "दिग्भ्रमित" के नायक को ऐसा एहसास होता है- "भीड़ का एक जबर दस्त अजगर पिछले रास्ते को छोड़कर अचानक इस रास्ते पर आ गया है और किसी भी हालत में उसे स्टेशन न पहुँचने देने की साजिश में लग गया है। इस ख्याल के साथ ही जैसे उसका सारा बदन पसीने से तर बतर हो गया और उसे लगा कि उसके शरीर के पोर-पोर से जैसे शक्ति चू कर बाहर बह

1- रवीन्द्र कालिया-काला रजिस्टर-हिन्दी कहानी सातवाँ दशक, प्रहलाद अग्रवाल, पृ० 139

2- वेदराही-बर्फ- श्रेष्ठ सचेतन कहानियाँ-सं० सुदर्शन नारंग, पृ० 99

3- आशीष सिन्हा- अनुराग-समान्तर-1 (सं० कमलेश्वर) पृ० 40

गयी है। वह पैरों को घसीटते हुए आगे बढ़ने लगा।"[1]

महीप सिंह ने अपनी कहानी "धूप की उँगलियों के निशान" में मिथकीय प्रतीक का उल्लेख किया है। कहानी में नीता और उसका पति तलाक के उपरान्त मिल जाते हैं और दोनों नीता के घर में बैठकर टैलिविज़न देख रहे हैं-- "दोनों टैलिविज़न देखते रहे। कोई नाटक आ रहा था- महाभारत की पृष्ठभूमि पर धृतराष्ट्र और गान्धारी की कहानी थी, वह गान्धारी, जो अपने पति के अन्धे होने के कारण अपनी आँखों पर पट्टी बाँध लेती है, बाहर का कुछ भी नहीं देखती और अन्दर पूरा एक लहराता हुआ समुद्र समेट लेती है और एक से नहीं, सौ बच्चों को जन्म देती है।"[2]

धीरेन्द्र अस्थाना की कहानी "पत्नी" में कहानी का पात्र "वह" सोचता है कि - "यह भारी काली चिकनी चट्टान क्या है? क्यों लगता है जैसे कोई आसमानी बला हाथ धोकर मेरे पीछे पड़ी है और जब तक मुझे अपना शिकार नहीं बना लेगी, तब तक उसका पीछा करना जारी रहेगा किस बात की प्रतीक है यह चट्टान। सोते में, जागते में, सड़क पर, दफ्तर में, बिस्तर में लुढ़ककर मेरी तरफ आती हुई यह चट्टान किसी अभिशप्त प्रेत की तरह क्यों मँडरा रही है?"[3]

आधुनिक जीवन को स्पर्श करने में अक्षनारायण मुद्गल विशेष कुशल है "और कुत्ता मान गया" कहानी का कुत्ता ही कहानी के "मैं" से सहानुभूति और संवेदना प्रकट करता है। "कुत्ता" यहाँ कहानी के "मैं" का प्रतीक है जो अपनी

1- इब्राहीम शरीफ-दिग्भ्रमित-समान्तर- । सं0 कमलेश्वर , पृ0 50

2- महीप सिंह-धूप की उँगलियों के निशान [असफल दाम्पत्य की कहानियाँ, सं0 चित्रा मुद्गल, सुरेन्द्र अरोड़ा] पृ0 57

3- धीरेन्द्र अस्थाना-पत्नी [असफल दाम्पत्य की कहानियाँ सं0 चित्रा मुद्गल, सुरेन्द्र अरोड़ा] पृ0 62

पत्नी के समक्ष अपने को तुच्छ समझता है। उसकी पत्नी समाज सेविका महिला है। कहानी का "मै" दफ्तर का चपरासी तो है ही साथ ही घर का भी चपरासी है। एक दिन मुन्ने को लेकर उसे साहब के यहाँ आना पड़ा तो साहब के कुत्ते ने मुन्ने को काट लिया। इसी समय "मै" की समाज सेविका पत्नी साहब के यहाँ थी। साहब या साहिबा यह नहीं जानते थे कि समाजसेविका अपने चपरासी की पत्नी है। "मुन्ने का चीखना, कुत्ते का चिल्लाना और तसले की फन-फन सुनकर आतंकित से साहब, साहब की बीबी और उनके पीछे-पीछे मेरी बीबी आँगन में दौड़ आयी। मुन्ना की नजर अपनी माँ पर पड़ गयी । मेरी बीबी ने भी मुन्ना को देख लिया था। वह चौंक पड़ी, जैसे कुत्ते ने अचानक भौंककर उसे काट खाया है।"[1]

स्वातन्त्र्योत्तर कहानीकारों में प्रतीक योजना की दृष्टि से मृदुला गर्ग की अपनी अलग पहचान है। उनकी "अलग-अलग कमरे"[2] कहानी में डॉ0 अमरेन्द्रदेव को सफेद रंग पसन्द है। उनके बाग में बेला और मोगरा की क्यारियाँ हैं। जिनमें सफेद फूल खिले हैं साथ ही अन्य क्यारियों में श्वेत गुलाब, कनेर, लिली और गुल-दाउदी जैसे फूल खिले हैं जो उनके स्वच्छ सफेद वस्त्र, बिस्तर पर बिछा सफेद चादर, उनके सात्विक व्यक्तित्व के प्रतीक हैं।

मृदुला गर्ग की एक अन्य कहानी "झूलती कुरसी" में कुरसी का झूलते रहना उसकी नायिका "मैं" के मन की द्वन्द्वात्मक चिन्तन का प्रतीक है- "यह खाली कुरसी बदस्तूर क्यों झूले जा रही है?

1- अवध नारायण मुद्गल-और कुत्ता मान गया- कबन्ध, पृ0 25

2- मृदुला गर्ग- अलग-अलग कमरे- (ग्लेशियर से), पृ0 113-128

मैं डरकर कभी कुरसी को देख रही हूँ, कभी सड़क को ......और कभी फोन को।

मैं आहिस्ता से कुरसी पर बैठी हूँ। सिमटकर । एक कोने में डरते-डरते।

कुरसी एकाएक थम गयी। कैसे थमी कुर्सी? किसने हाथ लगाया? किसने टोका उसे? किसने रोका?

मेरी पागल नजर चारों तरफ घूम गयी।"[1]

"शहर के नाम" कहानी में मृदुला गर्ग ने रेस के अरबी घोड़े को कहानी के पात्र "मैं" की मुक्ति-भावना का प्रतीक बताया है। लेकिन बाद में वह अनुभव करती है कि घोड़े के पैर में नाल ठोंक दी गयी है जब कि उसके स्वयं के पैरों में नहीं। इसलिए वह अपने माता-पिता से संघर्ष करती हुई रेस का घोड़ा बनना छोड़ देती है और अपने ही शहर में अनाम होकर जिन्दगी बिताना चाहती है-- "और जो हो मैं याद रखूँगी मेरे पैरों में नाल नहीं ठुकी। मैं खुले मैदान में दौड़ सकती हूँ। अपना रास्ता चुन सकती हूँ। रेस के ट्रैक पर दौड़ना लाजिमी नहीं बना सकता कोई मेरे लिए? मैं आबाद रखूँगी खुद को उन लोगों के साथ रहने के लिए जो रेस में शरीक होने लायक नहीं है।"[2]

"प्राचीर और तीन चेहरे" कहानी में निर्मल अग्रवाल ने कहानी के तीन पात्रों [इभा, राधा, अलका] की इच्छाओं को टूटने को विभिन्न प्रतीकों द्वारा

1- मृदुला गर्ग-डूबती कुर्सी- [चर्चित से], पृ0 36

2- मृदुला गर्ग- शहर के नाम- हंस -सितम्बर 1986-पृ0 33

व्यक्त किया है कि·······"ये प्राचीर है कठोर सामाजिक बन्धनों की, रीति-रिवाजों की, अपनी ऊँची नाक की दुहाई देते समाज के ठेकेदारों की और राजा प्रजा जैसा भाव लिए अपने सिंहासन पर कठोरता से विराजमान परम्पराओं की डोरी को कसकर अपने दोनों हाथों से थामें बूढ़ाओं की।"[1]

"सफेद कौआ"[2] कहानी में मंजुल भगत ने प्रतीक का बहुत ही सुन्दर ढंग से प्रयोग किया है। "सफेद कौआ" भरतकुमार का प्रतीक है जो सलाखों के भीतर गुमसुम बैठे हैं।

फन्तासी

फन्तासी का प्रयोग विशेष रूप से हिन्दी कहानियों में सातवें दशक में प्रारम्भ हुआ। तेजी से भागते हुए आज के जमाने में मनुष्य अनेक समस्याओं और जटिलताओं से घिरा हुआ है जिसे व्यक्त करने के लिए फन्तासी को एक समर्थ साहित्यिक प्रविधि के रूप में मान्यता प्राप्त हो चुकी है। इस सम्बन्ध में सुदर्शन नारंग ने लिखा है- "नयी कहानी के आन्दोलन से उत्पन्न हलचल को धोने और अपना सिक्का जमाने के कौशलस्वरूप सातवें दशक के कथाकारों ने शिल्प और कथ्य को लेकर जो नए प्रयोग किए उनमें फैंटेसी कहानियाँ भी थीं।"[3] फन्तासियों के अनेक रूप हैं। जैसे अमूर्त तत्व, सृजनशील कल्पना, स्वप्नावस्थाएँ, इन्द्रजाल आदि।

1- निर्मल अग्रवाल-प्राचीर और तीन चेहरे-सारिका, सितम्बर 1989-पृ0 78

2- मंजुल भगत-सफेद कौआ-पृ0 13

3- सुदर्शन नारंग-श्रेष्ठ फैंटेसी कहानियाँ- पृ0 9

इन रूपों के द्वारा कहानीकारों ने जीवन के अतियथार्थ को उद्घाटित किया है। इस प्रकार वर्तमान समय में फन्तासी कथा शिल्प के एक रूप के रूप में स्थापित हो चुकी है जिसके माध्यम से कहानीकार कथ्य को एक प्रभावशाली ढंग से संप्रेषित करते हैं।

कमलेश्वर की कुछ कहानियों में फन्तासी साफ-साफ झलकती है उदाहरण स्वरूप- "जोखिम", "लाश", "अपना एकान्त" "वर्ग पंचम की नायक", "दुखों के रास्ते," "अपने देश के लोग," "मानसरोवर के हंस", "जिन्दा मुर्दे"। जोखिम कहानी की माँ बीमार पड़ी कहानी का "मैं" जब भयभीत होता है तो वह कहता है- "मैंने वित्त मन्त्री मोरार जी देसाई को एक खत लिखा कि वे आकर मेरी माँ की हालत देख जायें और मुझे कुछ बता जायें। मैं बहुत परेशान हूँ।

खत पाते ही वह फौरन आए। उन्होंने माँ को देखा और चुपचाप से दुःखद दुःखी से मेरे पास बैठ गये।"[1]

"अपना एकान्त" कहानी के फन्तासी शिल्प में कमलेश्वर ने यह दिखाया है महानगरों में व्यक्ति कितने अकेलेपन का अनुभव करता है इस अनुभव को उन्होंने व्यंग्यात्मक ढंग से चित्रित किया है। कहानी का पात्र सोम दुर्घटना में बुरी तरह घायल होकर मरा-सा स्वयं अस्पताल पहुँचता है महानगरी में वह

1- कमलेश्वर- जोखिम - समान्तर- 1, पृ0 63

किसी को अपना नहीं मान सकता। अन्तत: वह आपरेशन के दौरान परलोक सिधार देता है। लाश ट्राली में बैठती है। ट्राली वाले ने लाश को फन्तासी शैली में कहा- "कल दोपहर एक लाश ट्राली में आकर बैठ गयी थी। फर्नेस में जाने से पहले उसने कहा था कि उसके फूल लेने कोई आने वाला नहीं है इसलिए मैं इतनी मेहरबानी करूँ कि उसके फूल समुद्र में विसर्जित कर दूँ।[1] " "लाश" कहानी में जुलूस के बीच भाग दौड़ मच जाने का चित्र है। पुलिस द्वारा गोली चलाने से भगदड़ में लोग कुचल गए, शहर में सन्नाटा छा गया। इसी दौरान एक लाश गिर पड़ी जिस पर न गोली के निशान थे न वह घायल थी। "पुलिस ने लाश के चारों ओर घेरा डाल दिया। पुलिस का कहना था कि लाश कान्तिलाल की है। कान्तिलाल ने यह सुना तो हैरान रह गए। भाग दौड़ और उस भयंकर हादसे से प्रकृतिस्थ होकर कुछ देर बाद वे लाश को देखने पहुँचे। उसे देखते ही कान्तिलाल ने जोश भरे स्वर में कहा- यह मुख्यमन्त्री की लाश है।

घटित हुए हादसे का मुआयना करने के लिए मुख्यमन्त्री भी निकल चुके थे उन्होंने यह सुना तो सकपकाये हुए पहुँचे । उन्होंने गौर से लाश को देखा तो मुस्कराते हुए बोले - यह मेरी नहीं है।"[2]

व्यंग्यात्मक और असंगत स्थितियों को उभारने के लिए फन्तासी के प्रयोग में कमलेश्वर विशेष ध्यान रखते हैं। उदाहरण के लिए उनकी "लड़ाई" कहानी को देख सकते हैं जिसमें एक फौजी लड़ाई से वापस आने पर देखता है कि जब उसके भाई

1- कमलेश्वर-अपना एकान्त- बयान तथा अन्य कहानियाँ- पृ0 220

2- कमलेश्वर- लाश -कमलेश्वर की श्रेष्ठ कहानियाँ- पृ0 111-112

निर्माणमन्त्री थे तो उन्होंने सरकारी खजाने में घुसने का एक चोर दरवाजा ढूँढ निकाला और उसी से रोज खजाने को खाली करते हैं। एक दिन जब बड़ा भाई खजाना लूटते हुए पकड़ लिया जाता है तो छोटा भाई एक उपाय सोचता है। वह अपने बड़े भाई के चेहरे और वेशभूषा जैसे रात भर में ही सैकड़ों आदमी बना देता है और कहता है कि- "तब कौन किसे पहचानेगा? किसको पकड़ेगा? सुबह तुम्हारी तरह के सैकड़ों लोग शहर में घूम रहे होंगे... तब कौन किसी को पहचानेगा। कौन कह सकेगा कि खजाने के भीतर तुम्हीं थे...... ठीक है न? छोटे ने कहा था।"[1]

निर्मल वर्मा की कहानी "जिन्दगी यहाँ और वहाँ" में यह स्पष्ट रूप से दिखाता है कि कई ऐसे अवसर आते हैं जब प्रेत योनि और मानव योनि में कोई अन्तर नहीं रह जाता है। "मैंने उसकी ओर देखा- और तब मेरा दिल जोर से धड़कने लगा। मुझे लगा, जैसे मैंने किसी प्रेत को देखा है--- कोने में खड़ा हुआ- मुस्कुराता हुआ। तब मुझे अचानक याद आया, वह सड़क पर चलता हुआ इसीतरह मुस्कुराता था- अपने आप अकेले में जैसे उसने किसी अदृश्य चीज को देखा है- भीतर की दुनियां से बाहर आते हुए- वह ठिठक जाता था। वह खुद अपने से बोलने लगता था।"[2]

"कव्वे और काला पानी" कहानी का नायक अपने आप से हँसता और बोलता है।

1- कमलेश्वर -लड़ाई-श्रेष्ठ फेन्टसी कहानियाँ-सं0 सुदर्शन चोपड़ा-पृ0 27

2- निर्मल वर्मा- जिन्दगी यहाँ और वहाँ- कव्वे और काला पानी, पृ0 50

"दरवाजे के बीच सुराख से जो दिखाई दिया, वहाँ न सहजी बाबा थे, न मेरे भाई थे - वहाँ एक ऐसे आदमी खड़े थे, जो दीन-दुनिया से बेखबर अपने से बात कर रहे थे और बीच -बीच में खुद ही हसने लगते थे। दरवाजे से चिपटा, घुटा मैं उन्हें देखता रहा- एक सम्मोहित पशु का जो भय और मोह के बीच जड़ पुतले-सा खड़ा रहता है- लेकिन मेरा दूसरा हिस्सा मुझसे छिटककर उनसे जा चिपका था , हैरात में चीख रहा था- यह आप क्या कर रहे हैं? किससे बातें कर रहे हैं? किस पर हँस रहे हैं।"[1]

अवध नारायण मुद्गल की कहानी "कबन्ध" का "वह" दफ्तर के गेट पर दरवान की अनुपस्थिति देखकर बहुत प्रसन्नता का अनुभव करता है। दफ्तर के दरवान से "वह" इसलिए डरता है क्योंकि वह दो महीने पूर्व दरवान से कर्ज लिए थे। दफ्तर के सामने पहुँचकर "वह" देखता है कि दरवान वहाँ नहीं है। "वह सोचता है, आज दिन अच्छा गुजरेगा। उसे महसूस होता है, उसका चेहरा, जो बस में गायब हो गया था, फिर अपनी जगह पर वापस आ गया है।"[2] जब वह दफ्तर पहुँचता है तो साहब उसे डाँटने लगता है वह साहब से कुछ सोचना तो चाहता है। पर उसकी आवाज अन्दर ही उमड़-घुमड़ कर रह जाती है। "उसका ध्यान तब टूटता है, जब फाइल मुँह पर लगती है उसने सुना ही नहीं कि साहब किस भाषा में दहाड़े हैं। वह दहाड़ का आदी हो गया है। इसलिए किसी तरह की दहाड़ उसे सुनायी नहीं पड़ती। वह फाइल उठाता है और चुपचाप बाहर आ

1- निर्मल वर्मा- कव्वे और काला पानी, पृ0 139

2- अवधनारायण मुद्गल- कबन्ध-पृ0 10

जाता है। बाहर उसके साथी देखते हैं कि उसका चेहरा फिर गायब हो गया है। सभी जानते हैंकि जब भी वह साहब की कैबिन से निकलता है उसका चेहरा गायब रहता है। ऐसे समय खास तौर से कोई उससे बात नहीं करता।"[1]

निरुपमा सेवती की कहानी "बदबुष्टि"[2] फन्तासी शिल्प का एक अच्छा उदाहरण है। जिसमें प्रभा उस अध्यापक से बदला ले रही है जिसने उसे बिना कारण ही दण्ड दिया है।

राजेन्द्र यादव की कहानी "ढोल" का एक साधारण क्लर्क भीड़ की धक्का-मुक्की सहते हुए यह स्वप्न देखता है कि एक दिन दैवी शक्ति के कारण वह ऐसा शक्तिशाली बन जायेगा कि इन सबको मजा चखा देगा। उसने कवच पहने किसी योद्धा का चित्र देखकर अपने शरीर पर कवच के रूप में ढोल चढ़ा लिया। ढीलाढाला कुरतापहन कर वह अपने को दूसरों से बचाता है। इससे वह धीरे-धीरे एक विशिष्ट व्यक्ति और हीरो बन जाता है। उसे ऐसा लगता है कि वह महान व्यक्ति बन गया है और दूसरे भी उसकी नकल कर लिए हैं और कपड़ों के नीचे ढोल पहने घूम रहे हैं। एक दिन वह शीशे के सामने खड़ा होकर गर्व का अनुभव कर रहा है कि उस जैसा साधारण आदमी कितना ऊँचा और महान हो गया है। कुछ समय बाद उसे ऐसा लगता है कि लोग उसके दैवी शक्ति वाले ढोल को चुराने का प्रयास कर

1- अलध नारायण मुद्गल- कबन्ध- पृ0 11

2- निरुपमा सेवती- बदबुष्टि-आतंक बीज- पृ0 4

रहे है जिस कारण उसे रात में चोरों और शत्रुओं की आहटें सुनायी पड़ती हैं। अन्त में उसके कमरे से जब दुर्गन्ध आने लगती है तो लोग दरवाजा तोड़कर अन्दर आते हैं और उसके शव को श्मशान की ओर लेकर जाने लगते हैं– " और तभी एक चमत्कार हुआ– अरथी के फूल और मालाएँ फेंक तोड़ कर ढोल अचानक उठकर बैठ गया और इसतरह हाथ जोड़ कर मुस्कराने लगा, जैसे लोगों के अभिवादन और अभिनन्दन स्वीकार कर रहा हो। लोगों में खलबली मच गयी ।"[1] इस कहानी कहानीकार ने यथार्थ और अयथार्थ की स्थिति को बड़े ही सहज ढंग से उजागर कर दिया है। क्लर्क अपनी वास्तविक स्थिति को स्वीकार न कर ढोल के आवरण से चमत्कार करना चाहता है।

श्रीकान्त वर्मा की कहानी "दूसरे के पैर"का नायक अपनी प्रेमिका से कहीं दूर भाग जाना चाहता है और रेलवे स्टेशन पहुँचता है लेकिन स्टेशन पर वह असफल हो जाता है--- "उसने देखा, उसका कुली चिल्ला रहा था। साहब, जल्दी कीजिए। गाड़ी छूट रही है। मगर उसके पैर जैसे जमीन से चिपक गये थे और वह खाली-खाली आँखों से प्लेटफार्म पर सरकती हुई ट्रेन को देख रहा था। उसे लगा वह सैकड़ों वर्षों से इसी तरह यहाँ खड़ा है, और हमेशा ही ट्रेन छोड़ता रहा है। इसके पैर कभी भी नहीं उठ सके हैं।"[2] इस फैन्टेसी के द्वारा कहानीकार ने यह प्रस्तुत किया है कि स्वयं से भागने का प्रयास करते हुए भी मनुष्य अपनी भावनाओं के

1- राजेन्द्र यादव- ढोल-श्रेष्ठ फैंटेसी कहानियाँ, सं0 सुदर्शन नारंग ,पृ0 119

2- श्रीकान्त वर्मा- दूसरे के पैर -श्रेष्ठ फैंटेसी कहानियाँ, पृ0 58

बन्धन से कैसे छुटकारा नहीं पाता। "कोरस" कहानी के माध्यम से दूधनाथ सिंह ने समकालीन सामाजिक, राजनीतिक ढोंग पर गहरा प्रहार किया है। कहानी में एक आतंकमयी "लम्बी छाया" है जिसके पीछे नेता और साथी सब लगे हुए हैं। लेकिन वह किसी की पकड़ में नहीं आती। उसके अस्तित्व या उसके भागने की दिशा का किसी को पता नहीं लगता अंत में निर्णय लिया जाता है कि उस छाया" की सिद्धि के लिए यज्ञ साधना किया जाय और यह भी निश्चित होता है कि यज्ञ के स्थान पर किसी महापुरुष के विचारों से यज्ञ का काम चलाया जाय। सब नेता और अनुयायी इसी यज्ञ की खोज में भटकते हैं। वे सब के सब हत्यारे सिद्ध होते हैं "सुबह "मैं" की गर्दन एक भयानक पीलपाँव के नीचे दबी हुई थी, जिसकी लम्बी छाया दूर-दूर तक पसरी हुई थी।"[1] इस कहानी में तथाकथित बुद्धिजीवियों का पोल खोला गया है। यहाँ फैन्टेसी भूत-प्रेत की दुनियाँ में प्रवेश कर गयी है।

गंगा प्रसाद विमल की कहानी "प्रेत" भी ऐसी ही है। इसमें कल्पना और सच्चाई को अलग करना मुश्किल है। लेखक ने इस जनसाधारण का उपयोग किया है कि मरने के बाद मनुष्य प्रेत योनि में भटकता है। इस कहानी के मुकुन्दीलाल को एक पत्र मिलता है जिसमें यह लिखा होता है कि वह (मुकुन्दीलाल) एक प्रेत है जो बीस वर्ष पहले मर गया था। इस पत्र के प्रभाव से वह अपने को सचमुच प्रेत समझने लगता है और प्रेतों के विषय में और अधिक जानकारी हेतु वह लोगों से मिलता है। एक दिन वह एहसास करता है- "जब के मैं बीस साल पहले मर चुका था लेकिन अकाल मृत्यु की वजह से मैं प्रेत बनकर मुकुन्दीलाल के शरीर में प्रवेश कर

1- दूधनाथ सिंह-कोरस-श्रेष्ठ फैन्टेसी कहानियाँ- सं0 सुदर्शन नारंग पृ0 85

गया। मुकुन्दीलाल का व्यक्तित्व कहीं गहरे में दब गया था। अगर अब कहीं मैं मुकुन्दीलाल का शरीर छोड़ दूँ, तो मुकुन्दीलाल एक छोटा सा बच्चा था, जो लगातार कई वर्षों में फेल हुआ था। दिमाग से कमज़ोर उस आदमी के अन्दर मैं, जिस क्षण मैं प्रेत कहा गया था हावी हो गया। और प्रेत योनि से मनुष्य योनि के इन वर्षों में मैं अपना असली अस्तित्व भूल गया था।"[1]

महेन्द्र भल्ला की कहानी "कुत्तेगिरी" का "मैं" अपने मित्र साहनी से कुत्ते गिरी के विषय में वार्तालाप कर रहा है तो साहनी के दया याचक चेहरे को देखकर कहानी के "मैं" को ऐसा लगता है। "और तभी मैंने देखा कि वह कुत्ते से बहुत मिलता है। उसके कान बड़े बड़े थे और मोटे गीले होठों के ऊपर दुनाली नाक जमकर लेटी हुई थी।

पुच! पुच! अचानक ही मुझसे हो गया। तभी मुझे एहसास हुआ कि कहीं मेरा चेहरा भी कुत्ते समान हो। बहुत कोशिश करने पर भी मुझे अपनी शक्ल याद नहीं आयी। "मैं" आइने के लिए तड़पने लगा। इच्छा हो रही थी कि अन्दर भाग कर पेशाब घर में जाऊँ और अपना मुँह देखकर लौट आऊँ।"[2]

मृदुला गर्ग की कहानी "दुनिया का कायदा" में बहू मर गई है कुछ औरतें छाती पीट-पीट कर रो रही हैं। इसी बीच वहाँ दो अंदाकार आ जाते हैं चिल्लाहट में और वृद्धि हो जाती है। इसी बीच-बीच में सास और पड़ोस की औरतें बहू की शिकायत भी करती हैं कि वह मायके से गेहूँ, चावल, चीनी कुछ भी

1- गंगाप्रसाद निर्मल- प्रेत- श्रेष्ठ फैन्टेसी कहानियाँ-सं0 सुदर्शन नारंग, पृ0 88

2- महेन्द्र भल्ला-कुत्तेगिरी-महानगर की कहानियाँ,सं0 सुदर्शन नारंग-पृ0 120

नहीं लाती रही। मृत बहू रक्षा की जीजी थी। इन औरतों के बीच बैठी रक्षा को लगा "इस वीभत्स-विक्षिप्त माहौल के बीच एक ओर उसकी अपनी लाश पड़ी है, जिसे घेरे जन समुदाय नकिया-नकिया कर चीख रहा है, ई-ई··ई बहू मर गयी··· ई···ई और वहीं दूसरी ओर लाल कपड़ों में लिपटी नयी नवेली को घेर कर सुहाग गाया जा रहा है।"[1] यहाँ पर व्यंग्यात्मक रूप में फैन्टेसी को उभारा गया है।

संवाद प्रविधि

स्वातन्त्र्योत्तर कहानियों में यह प्रविधि शिल्प के रूप में अपना स्थान बना चुकी है जैसे-जैसे कहानी का विकास हो रहा है इस प्रविधि के रूप में भी परिवर्तन होता रहा है। अमरकान्त की कहानियों के संवादों की भाषा बोल-चाल की है और वे अत्यन्त सजीव और स्वाभाविक बन पड़े हैं। "पड़ोसी"[2] शीर्षक कहानी का निम्न संवाद उदाहरणार्थ प्रस्तुत है-

"मैं आप का पड़ोसी हूँ। हमारा आप का परिचय हो जाना चाहिए।

"मेरा नाम है सुशील ।"

"कहाँ काम करते हो?"

"मैं कहीं काम नहीं करता", सुशील संकोच पूर्वक मुस्कराया-

"मुझे चित्र बनाने का शौक है और चौक की गली में मेरी छोटी

1- सुहाग गर्म-दुनियाँ का कायदा, पृ0 119

2- अमरकान्त-पड़ोसी -श्रीकृष्ण लाल और हिन्दी कहानियाँ (आलोचनात्मक अध्ययन) व्याख्याकार-आचार्य रमाशंकर तिवारी, पृ0 193-94

सी दुकान है······।"

"कौन बिरादर हो?"

मेरी कोई जाति नहीं है," सुशील जोर से हँसा,

"मैं भी जाति-पाति में विश्वास नहीं करता·······

····· फिर भी ·······।"

"देखिए हरिजन नाम मुझे पसन्द नहीं, जैसे

मैं आदमी नहीं होऊँ।

"वैसे जाति का चमार हूँ।"

"अच्छा 55 ।"

अमरकान्त की एक अन्य कहानी "बहादुर"[1] का संवाद भी दर्शनीय है-

- बहादुर । मैंने कड़े स्वर में कहा।

जी, बाबू जी।

-इधर आओ।

वह आकर खड़ा हो गया।

-तुमने यहाँ से रुपये उठाये थे?

-जी नहीं, बाबू जी। मैं लेता तो बता देता।

अमरकान्त की कहानियों की भाषा पात्रानुकूल है। लोकप्रचलित मुहावरे एवं बोल चाल के शब्दों के प्रयोग ने उसे प्रभावात्मक बना दिया है। डा0 लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के अनुसार - "अमरकान्त की कहानियाँ विशिष्ट हैं और नई कहानी के

1- अमरकान्त-बहादुर-कथा भारती-सं0 [डा0 शिव प्रसाद सिंह आदि] पृ0 159

विकास में उनका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा।"[1]

सुदर्शन नारंग की "अन्तराल"[2] और सुधा आरोड़ा की "सात सौ का कोट"[3] एकालाप शैली की कहानियाँ हैं। इनमें एक ही पात्र का संवाद है, दूसरे पात्रों के विचार मात्र प्रतिक्रिया के रूप में व्यक्त होते हैं।

लघु संवादों के रूप में लिखी सुधा आरोड़ा की प्रसिद्ध कहानी है-- "दहलीज पर संवाद" इसके वाक्यों का गठन प्रायः आधे अधूरे या कम शब्दों में हुआ है और संवादों की शैली अत्यन्त सूक्ष्म है। यह लघु संवाद कहीं-कहीं वृद्ध दंपति की पिछली जिंदगी की यादगार के रूप में प्रकट हुआ है। जैसे---

-तुम्हें याद है?

-क्या?

-अपना राजा बिलकुल टिम्मी जैसा था।

-हाँ, मगर भारी ज्यादा था।

-मोहल्ले के बच्चों से तो उठता ही नहीं था।

-बीस साल हो गये............. .

- नहीं, पच्चीस ....

- अब भी कितना साफ-साफ याद है।

- सारे कमरे घिसटता रहता था।

1- श्री कृष्णलाल और हिन्दी कहानियाँ {आलोचनात्मक अध्ययन} व्याख्याकार- आचार्य रमाशंकर तिवारी-पृ0 194

2- सुदर्शन नारंग-"अन्तराल"-15 सक्रिय कहानियाँ-सं0 राकेश वत्सल-पृ0 123

3- सुधा अरोड़ा- सात सौ का कोट-महानगर की मैथिली, पृ0 19

-बच्चे कितनी जल्दी बड़े हो जाते हैं।

-ओमी, पाल, नीलू के तो अपने बच्चे भी कितने
 बड़े-बड़े हो गये............

- सब छोटे थे, तो सुबह-शाम कितना ऊधम मचाते
 थे।"[1]

वृद्ध दम्पति के संवाद-- स्मृतियों के रूप में--

- पर प्यार कितना था आपस में

- अब तो चिट्ठी- पत्री भी नहीं ......

-पीछे देखो तो पता चलता है।

- जमाना था तब भी। अब तो कुछ भी नहीं

- क्या?

- कुछ नहीं.......।"[2]

चेतना प्रवाह

काव्य के क्षेत्र में जिसप्रकार छायावादी कवियों ने स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह किया। उसी प्रकार कहानी के क्षेत्र में भी स्वातन्त्र्योत्तर कहानीकारों ने स्थूल वर्णन के स्थान पर चेतना प्रवाह की शैली को अपनाया। निर्मल वर्मा की "माया दर्पण" "परिन्दे," "लन्दन की एक रात" आदि कहानियों में चेतना प्रवाह

1- सुधा अरोड़ा- दहलीज पर संवाद- महानगर की मैथिली-पृ0 82

2- सुधा अरोड़ा-दहलीज पर संवाद- महानगर की मैथिली-पृ0 87-88 ।

की शैली का कुशल निर्वाह हुआ है। " माया दर्पण " की बुआ तरन से "बाबू" के विषय में बता रही है। वह दीवान साहब को बाबू नाम से ही पुकारती है। बाबू बुआ का भाई है। बुआ कहती है- " अरे कौन नहीं डरता था तेरे बाबू से? बुआ के होंठों पर एक म्लान मलीन-सी मुस्कुराहट सिमट आयी। उन दिनों का डर ही तो आप तक चला आता है..... तेरी माँ को तो मुझसे भी ज्यादा डर लगता था। वह तो टुकुर टुकुर उन्हें देखती ही रहती थी जिस दिन तेरे बाबू दरबार जाते थे, मैं और वह झरोखे में खड़े होकर लुक-छिपकर उन्हें देखा करती थी। चूड़ीदार चमचमाता पाजामा, सफेद रेशमी अचकन और सिर पर राजसी प्याज रंग की पगड़ी ..... हमारी आँखें उन पर से उठती ही न थीं।[1] शिल्प की यह प्रविधि वर्तमान व्यक्ति की सूक्ष्म मानसिकता को व्यक्त करने में पूर्ण समर्थ हुई है। कहानी की सूत्र-बद्धता अथवा प्रवाह को बनाये रखने में चेतना प्रवाह की अहं भूमिका होती है। निर्मल वर्मा की कहानियों पर अपने विचार व्यक्त करते हुए डा० नामवर सिंह ने कहा है- "निर्मल वर्मा की अधिकांश कहानियाँ अतीत की स्मृति हैं। कहानी कहने वाला बरसों पश्चातवत स्मृति को दोहराता है।..... स्मृति में भावुकता संभव है किन्तु समय का अन्तराल तात्कालिकता के आवेश को काफी कम कर देता है। ऐसा प्रतीत होता है कि तात्कालिक आवेग की भावुकता को कम करने के लिए ही निर्मल समय का इतना अन्तराल दे देते हैं।"[2] इन्हीं की एक अन्य कहानी -

---

1- निर्मल वर्मा- "माया दर्पण"-जलती झाड़ी, पृ0 33

2- निर्मल वर्मा- माया दर्पण-जलती झाड़ी- पृ0 33

"तीसरा गवाह"[1] के रोहतगी साहब क्लब में स्कॉच पीते-पीते अपनी कहानी सुना देते हैं।

दूधनाथ सिंह ने अपनी कहानियों "रीछ"[2] और "सुखान्त"[3] में मनुष्य के सूक्ष्म भावों को चेतना प्रवाह द्वारा ही व्याख्यायित किया है।

"सुनहरे देवदार" कहानी में निरुपमा सेवती ने चेतना प्रवाह का सुन्दर प्रयोग किया है। "मैंने सामने टंगी खाल के ऊपर किसी मरे हुए शेर के जबड़े पर अपनी समस्त विचार शक्ति केन्द्रित कर लेनी चाही, जिसकी पत्थर की आँखें मुझे सतत् घूरे जा रही थी, मैंने चाहा इसे मुँह चिढ़ा दूँ। फिर एक नाम सहज ही याद आ गया था अंशु। वह कितनी नन्हीं सी जीभ बाहर निकाल- जिस किसी की नकल बना चिढ़ा देती थी।

अचानक सारे वातावरण का जादू खत्म हो गया। अब मैं आजतक पहुँची स्थिति को पूरी तरह महसूस करने लगा था। अभी तक मैं बेहद लाइट मूड में कैसे रह पाया? रश्मि नूरान प्रियतमा सी क्यों लगती रही? इस सबका विश्लेषण करने में शायद कुछ भी नहीं समझ पाऊँगा।"[4]

निरुपमा सेवती की एक अन्य कहानी "विमोह" की कान्ता सोच रही है- "आसमान पर बीत रही संध्या की लालिमा बिछी है। इससे भी कहीं बहुत दूर दृष्टि थी। वहाँ क्या रहा होगा इस वक्त? मन में ऐसे विचारों की घुमड़ती

1- निर्मल वर्मा-तीसरा गवाह-परिन्दे -पृ0 70

2- दूधनाथ सिंह-रीछ- पहला कदम-पृ0 229 140

3- दूधनाथ सिंह - सुखान्त-पहला कदम-पृ0 229

4- निरुपमा सेवती-सुनहरे देवदार- खामोशी को पीते हुए पृ0 3

रेल-पेल है····· आसमान तो ऐसा ही होगा, पर इतना धुंधला तो नहीं और ऐसा शोर भी नहीं, शान्त चमकीला होगा, सब कुछ···· इस वक्त तक ढोर डांगर चराने वाले लौट चले होंगे। रास्तों पर होगी उनके खुरों से उठती धूल- बड़ी अजीब सी खुशबू होती है उस धूल में भी किसी अपनेपन की खुशबू।"[1]

टूटे विचारों की तरह चेतना प्रवाह में कभी कभी टूटे वाक्यों को भी व्यक्त किया जाता है। मृदुला गर्ग की कहानी " क्लेडियपर से" का प्रारम्भ टूटे वाक्यों से ही होता है जैसे- "इसलिए······जरूरी है···कि है पर ····· ·· दिखलाई तो नहीं दे रहा।"[2] इसी कहानीकी मिसेज दत्ता खुद स्वयं से बात कर रही हैं क्योंकि उसका एक विचार दूसरे से टकराता है। मिसेज दत्ता के आत्मालाप के कुछ अंश निम्न हैं-

> "तुम किससे बात कर रही हो। मिसेज दत्ता·· कौन है वह?
> कहां है?"
> "मुझसे ? मैं मिसेज दत्ता हूँ?"
> "नहीं·····हाँ···हो····नहीं हो?"
> "तुम हो तुम।"
> "मैं····मैं····कौन मिसेज दत्ता··· ।"

1- निस्समा सेवती- निर्मोह- आतंक बीज -पृ0 24

2- मृदुला गर्ग- क्लेडियपर से पृ0 1

"तुम ग्लेशियर जा रही हो।"

"कौन हो तुम? कौन ... कौन....."[1]

मिथक एवं लोककथा

हिन्दी कहानियों में लोक कथाओं एवं मिथकों का प्रयोग तो बहुत पहले से हो रहा है किन्तु स्वतन्त्रता के साँठवें दशक और उसके बाद के कहानीकारों ने इस प्रविधि को बखूबी अपनाया है। इस सम्बन्ध में अवधनारायण मुद्गल के विचार महत्वपूर्ण हैं- "मिथकों के साथ अथवा मिथकीय चरित्रों के साथ जो और जैसी फन्तासी जुड़ी हुई है उनके अर्थ जब खुलने लगते हैं तो सहस्त्रदल कमल की तरह खुलते चले जाते हैं। सही अर्थों में इन मिथकों से जुड़ी फन्तासी उन्हें अर्थों के धरातल पर व्यापक गहराई देती है.... इनके सहारे जीवन की प्रक्रिया को समझने का सिलसिला आज भी ज्यों का त्यों है।"[2] यदि हम गम्भीरता से विचार करें तो यह स्वीकारने में कोई हिचक नहीं कि प्राचीन संस्कृतियों से लेकर मिथक भाषा के द्वारा मनुष्य ने अपनी गूढ़ एवं चिरन्तन अनुभूतियों, विचारों एवं संकल्पनाओं की उत्पत्ति की है। इन मिथकों का प्रयोग आज साहित्य की प्रत्येक विधा में हो रहा है। वर्तमान जीवन की जटिलताओं एवं विद्रूपताओं को शिल्प की इस प्रविधि के द्वारा सहज ही व्यक्त किया जा सकता है।

1- मृदुला गर्ग-ग्लेशियर से -पृ0 14

2- अवध नारायण मुद्गल-सारिका, मिथकीय कहानी विशेषांक, अक्टूबर -1985,पृ07

"निर्वासित" कहानी का अन्त सूर्यबाला ने मिथकीय बिम्ब के साथ किया है। कहानी के दोनों बेटों में से कोई भी अकेले माँ बाप का खर्च वहन नहीं कर सकता है इसलिए वे माँ-बाप को बाँटकर खर्च की व्यवस्था करते हैं। "पहले वह भी लम्बे-अब जब दो बेटे हैं तो एक ही दोनों का खर्च उठाये, ठीक नहीं लगता न...? है कि नहीं? ठीक ही सोचा दोनों ने, अभी यहाँ बेबी छोटी है, तुम यहाँ रहोगी। सात आठ महीने बाद छोटी की डिलेवरी होगी... फिर तुम वहाँ चली जाओगी छोटी के पास। मैं यहाँ.... तो यहूँ.....वे.....तुम जरा मेरी कमीजें वगैरह ...

थोड़ी देर बाद वह अखबार लिए फिर सामने खड़े थे- यही कहने आया था कि मेरी छड़ी रखना मत भूलना, जो हम हरिद्वार से लाये थे। बुरा टहल आऊँ न। बस... यही कहना था..... लेकिन वह कुछ नहीं कह सके थे....।"[1]

नरेन्द्र कोहली की "धर्म" वीरेन्द्र कुमार जैन की "मुक्ति दूत"[2] आदि कहानियाँ पूर्ण रूप से मिथकीय परिवेश को उद्घाटित करती हैं क्योंकि उनकी रचना इसी परिवेश की देन है। अनिल चौरसिया की कहानी "मुख्यमंत्री पद के लिए इण्टरव्यू"[3] लक्ष्मी नारायण लाल की "रामलीला"[4], और जितेन्द्र भाटिया की "अज्ञातवास"[5] में जीवन के समकालीन संदर्भों को जोड़कर मिथकों को व्यंग्यात्मक

1- सूर्यबाला-"निर्वासित"- एक इन्द्रधनुष जुबेदा के नाम, पृ0 89

2- सारिका-1985, अक्टूबर (मिथकीय कहानियाँ- आधुनिक संदर्भ) में प्रकाशित

3- अनिल चौरसिया-"मुख्यमंत्री पद के लिए इंटरव्यू"-सारिका, नवलेखन अंक- मई 197

4- लक्ष्मीनारायण लाल-रामलीला-धर्मयुग-11 अक्टूबर 1970

5- जितेन्द्र भाटिया- अज्ञातवास-धर्मयुग-25 जनवरी 1973

ढंग से व्यक्त किया गया है।

"पीर, बावर्ची, भिश्ती, खर" अवधनारायण मुद्गल की प्रसिद्ध कहानी है जिसमें एक आदमी में चार आदमियों को आरोपित किया गया है। कुरसी पर बैठने की तैयारी में उसके पास बादशाही लिबास में एक व्यक्ति खड़ा था.... उन्होंने थोड़ा सा मेरे पास सरक कर कहा- गर्दन झुकाओ, ये शाहंशाह अकबर हैं। अकबर के बैठ जाने पर सब बैठ गए। मैं भी बैठ गया। मेरी आँखों के सामने इतिहास के पन्ने फड़फड़ाने लगे। मुझे लगा-हजारों-हजारों कबूतर हैं, जिनके पंख काट दिये हैं, फिर भी वे उड़े जा रहे हैं, मैं सोच रहा था-मुझे क्यों पकड़कर लाया गया है। तभी सुनाई दिया, अकबर मेरे बगल के व्यक्ति से कह रहे थे- बीरबल, वह लायें?

बीरबल ने अदब से खड़े होकर उत्तर दिया- हाँ-"आलमपनाह!" और मुझे फिर खड़ा कर दिया। बीरबल कहते गए- हुजूर, यही वह व्यक्ति है, यह व्यक्ति पीर भी है, बावर्ची, भिश्ती और खर भी है।"[1]

लोक कथाओं का सामाजिक महत्व होता है और वे किसी समाज, और देश की सांस्कृतिक धरोहर एवं पहचान भी होती हैं। स्वातन्त्र्योत्तर कहानीकारों ने अपनी कहानियों में इनका सार्थक प्रयोग किया है। "राजा निरबंसिया"[2] कहानी में कमलेश्वर ने लोक कथा का सहारा लेते हुए निम्न मध्यवर्ग की कहानी प्रस्तुत की है। कहानी में लोक कथा का उपयोग शिल्प सम्बन्धी नवीनता के रूप में उभर कर

1- अवधनारायण मुद्गल- "पीर, बावर्ची, भिश्ती, खर"-कबन्ध, पृ0 58

2- कमलेश्वर- राजा निरबंसिया- मेरी प्रिय कहानियां पृ0 11

सामने आया है।

लोक कथाओं ने रोजमर्रा की जिन्दगी को केवल रोचक और मनोरंजक ही नहीं बनाया बल्कि समाज को मानवीय अनुभवों का परिचय भी दिया जो कि प्रामाणिकता से भरे हैं। सुताशुक्ल की कहानी "कदली के फूल" का शिल्प कौआ हाँकनी की लोक गाथा के आधार पर निर्मित है। कहानी की बुआ का यह कथन गहराई तक चुभता है। "कौआ हाकनी मैं हूँ और अमोलहा और कदली मेरी कोख के जनमे थे ।"[1] अमरकान्त की "चिड़िया" रमेश उपाध्याय की "लकड़हारे का लड़का"[2] इसी शिल्प में रची हैं।

1- सुता शुक्ल- कदली के फूल-असफल दाम्पत्य की कहानियाँ-सं0 चित्रा मुद्गल सुरेन्द्र अरोड़ा, पृ0 132

2- सारिका- लोक कथा विशेषांक-सितम्बर 1984

उपसंहार

उपसंहार

15 अगस्त सन् 1947 के बाद हमारे जीवन के विभिन्न मूल्य और संदर्भ एकाएक परिवर्तित हो गये। यह परिवर्तन थोपा हुआ नहीं बल्कि परिस्थिति-जन्य रहा है। पिछले अध्यायों के विवेचन से यह सहज ही स्पष्ट है कि स्वतन्त्रता पूर्व के कहानी आन्दोलनों में मूल्य और संदर्भ कुछ थे तो स्वातन्त्र्योत्तर कहानी आन्दोलनों में कुछ और हो गये। परिणामस्वरूप कहानी के स्वरूप में भी परिवर्तन हुए। देश विभाजन के कारण हम इतने आहत हुए कि तत्क्षण उसकी प्रतिक्रिया हमारे जीवन पर हुई। हमारी समस्याएं और विद्रूपताएं इतनी अधिक हो गई कि जीवन जीना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य ही हो गया। इन कठिन परिस्थितियों से दो-दो हाथ करना तत्कालीन व्यक्तिवादी कहानीकारों के लिए टेढ़ी खीर लगने लगा।

मानवमूल्य हिलने लगे, कहानीकारों के समक्ष प्रश्न उठे-मानव मूल्य क्या हों? कैसे हों? उन्हें ऐसा कुछ स्वरूप कैसे प्रदान किया जाए कि, समाज के लिए वे मानदण्ड के रूप में स्थापित हो सकें। क्योंकि व्यक्तिवाद और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का द्वन्द्व प्रारंभ हो गया। हम यहाँ व्यक्तिवाद और वैयक्तिक स्वतन्त्रता में अन्तर करना उपयुक्त समझते हैं। व्यक्तिवाद में व्यक्ति "वाद" बन गया जब कि इसके विपरीत व्यक्ति-स्वातन्त्र्य में व्यक्ति की स्वाधीनता का सीमांकन किया गया। स्वातन्त्र्योत्तर कहानी ने लोकतान्त्रिक मूल्यों को नया स्वरूप प्रदान किया। इसमें वैयक्ति स्वातन्त्र्य पर जो आग्रह किया गया वह उन्नीसवीं शताब्दी का हुआ व्यक्तिवादी चिन्तनधारा से बिल्कुल भिन्न है। इसी वैयक्तिक स्वातन्त्र्य के कारण स्थान, काल, समाज और व्यक्तियों के

लिए निर्मित, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, दार्शनिक, आर्थिक, वैज्ञानिक आदि अन्यानेक मूल्य संक्रमण के दौर से गुजर रहे हैं।

हमारे देश में विवाह एक पवित्र और धार्मिक बन्धन है। तथा एक पति और एक पत्नी का आदर्श है जिसे पश्चिम के लोग पसन्द नहीं करते हैं इसमें सम्बन्धों के छद्म वेश की परिकल्पना करते हैं। क्योंकि पश्चिम में नर-नारी के सम्बन्धों में खुलापन है, उनको वही सहज और स्वाभाविक प्रतीत होता है। पश्चिम की यह स्वाभाविकता हम पचा नहीं पाते और अपने आदर्श सम्बन्धों को मान्य समझते हैं और उसे अपनी पहचान का एक स्तम्भ मानते हैं। पाश्चात्य का यह नर-नारी सम्बन्ध हमारे लिए भ्रष्टाचार और पापाचार है। इसी प्रकार हम अपने प्राचीन धार्मिक, दार्शनिक और नैतिक मूल्यों को सर्वोपरि मानते हैं और यह धारणा हमारे में इतनी बलवती है कि हम यह समझते हैं कि इन क्षेत्रों में हमारा कोई जोड़ या मुकाबला नहीं है।

यह ध्यातव्य है कि कोई भी आदर्श अथवा मूल्य अपना विशेष स्थान रखता है। उदाहरण स्वरूप- सत्य बोलना, ईमानदार होना, अहिंसा में विश्वास करना, परनारी गमन के बारे में स्वप्न में भी नहीं सोचना, परपीड़ा से दूर भागना, यथासम्भव दूसरों की सहायता करना जैसे मानव मूल्य आदर्श की भूमि पर ग्राह्य है। ये उसी सांस्कृतिक व्यवस्था में सम्भव हैं,जहाँ प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र है और अपने उत्तरदायित्व को स्वयं समझ और अनुभवकर, उसे अपना धर्म समझकर उसी में अपने अस्तित्व को स्वीकार करता है। मूल्यहीन वैयक्तिक स्वातन्त्र्य कोई अर्थ नहीं रखता। इस प्रकार स्वातन्त्र्योत्तर कहानी ने प्रजा-तान्त्रिक मूल्यों का विश्लेषण कर अपनी एक नयी मान्यता, एक नई सोच देश

के समक्ष प्रस्तुत की और व्यक्ति के महत्व को स्वीकारते हुए समाज का उतना ही ध्यान रखा। स्वातन्त्र्योत्तर कहानियों में वस्तुतः व्यक्ति के अन्तर विकास की ध्वनि ही मुखरित हुई है, उस व्यक्ति की, जो इतनी आन्तरिक प्रगति कर गया है कि अपने को समाज में देखता है और समाज को अपने में। यानि कि जो व्यक्तिगत स्वार्थ से सर्वथा उठ गया है और समष्टि हित भाव उसके चिन्तन का एक अपरिहार्य अंग बन गया है।

उपर्युक्त मूल्य व्यक्तिवाद से असंपृक्त और वैयक्तिक स्वातन्त्र्य से सम्बद्ध हैं। हिन्दी कहानी लेखन के मूलाधार हैं। स्वातन्त्र्योत्तर कहानी ने सम्पूर्ण मानव विशिष्टता में विश्वास किया और व्यक्ति की निजता को सामाजिक उत्तरदायित्व बोध की मर्यादा के साथ बाँध दिया। स्वातन्त्र्योत्तर कहानी-कारों ने जिस व्यक्ति का चुनाव किया वह रुग्ण तथा मानसिक रूप से विक्षिप्त नहीं है, बल्कि वह पुरुषार्थ तथा आत्मबल से युक्त भी है। साथ ही परिस्थि-तियों से जूझने एवं विषमताओं से टकराने में समर्थ भी है। स्वातन्त्र्योत्तर काल के कहानीकारों ने जीवन की जटिलताओं को पास से देखने का प्रयास भी किया। इन्होंने यह प्रतिपादित भी किया कि जीवन की व्यापकता और उसका वास्तविक संदर्भ किसी आडम्बर अथवा विशेष मत द्वारा दिखाना सम्भव नहीं है। बल्कि वह स्वानुभूति और स्वचेतना की वस्तु है। मानव विशिष्टता इसी स्वानुभूति की स्वतन्त्रता और स्वचेतना की पवित्रता की जागरूक दृष्टि है; जो सामान्य मानव-वर्ग को, विशिष्ट मानव-वर्ग के समान स्वीकार करती है। इसीलिए वह किसी आदर्श या मतवाद से भी अधिक मूल्यवान मानव मात्र के व्यक्तित्व की पवित्रता में आशा एवं विश्वास रखती है।

स्वातन्त्र्योत्तर कहानीकारों में व्यक्तिगत तथ्यों एवं अपनी विशिष्ट अनुभूतियों को यथार्थरूप में चित्रित करने की सामर्थ्य भी रही है। इन्होंने व्यक्ति-व्यक्तिगत भावनाओं के द्वारा समस्त व्यापक जीवन और विशृंखलता को देखने की चेष्टा की, जो सर्वथा नई दृष्टि थी। इन्होंने कहानियाँ लिखने के साथ-साथ कहानियों की समीक्षा भी की। स्वयं आलोचक भी होने के कारण ये कहानीकार अपनी कहानी को भी कसौटी पर कस कर देखे जिससे कहानियाँ पर्याप्त प्रभाव उत्पन्न करने में सफल रहीं।

स्वातन्त्र्योत्तर कहानीकारों की रचनाओं में यह बात बहुत ही स्पष्टता से परिलक्षित होती है कि मनुष्य एक भौतिक इकाई है। वह बाहर से तो सक्रिय रहता है, भीतर से भी सक्रिय रहता है। मनुष्य किसी भी क्षण जड़ नहीं है। सामाजिक प्रतिघात से मनुष्य का सम्पूर्ण व्यक्तित्व प्रतिक्रिया प्रकट करता है। ये कहानियाँ यथार्थ प्रधान होती हैं। उनमें त्वरित गति होती है और वे काल और स्थान-निरपेक्ष होती हैं। उनमें मानव मन की ग्रंथियों को खोलने का प्रयास होता है, न कि कुंठित और दमित व्यक्तित्व का चित्रण। मानव -मन की ग्रंथियों को खोलना एक प्रकार से मानसिक रेचन का प्रयोग करना है। परिणाम स्वरूप इन कहानियों के पात्र विषमताओं और कुप्रवृत्तियों से पीड़ित होने पर भी स्वस्थ हैं। ये कहानियाँ समाज पर करारा व्यंग्य करती हैं और समाज को बलात् अपनी ओर देखने के लिए आकृष्ट करती हैं। यह कहना अनुचित न होगा कि व्यक्ति ही समाज का रूप धारण कर, व्यक्ति और समाज में समन्वय उपस्थित कर, नव सर्जन की उत्कंठा और जीवन परकता व्यक्त करता है। इस सम्बन्ध में डॉ लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के विचार महत्व पूर्ण हैं- " ये कहानियाँ युग की व्यापक चेतना से अनुप्राणित हैं। उनमें यदि कहीं नवीन मूल्यों की स्थापना

नहीं भी है, तो नवीन मूल्यों की ओर संकेत अवश्य ही है। संकेत इसलिए क्योंकि आज की कहानी व्यंजना प्रधान रहती है। उसका मूलाधार मानवतावादी है। मनुष्य में मनुष्य की पहचान और मनुष्य की नैतिक जिम्मेदारी का सामाजिक रूप।"[1]

हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार- "साहित्यकार का अवसाद, उसकी कुंठा, उसकी घुटन, उसकी निराशा क्या जनता के उद्बुद्ध मानस के अनुकूल है? मुझे तो नहीं लगता। यह दयनीय मनोभाव कष्टकर है। कदाचित् भविष्य के गर्भ में तेजस्वी साहित्य आ गया है। यह अवसाद उसी का लक्षण है। महान् तेजस्वीआ रहा है आने दो, घबराने की आवश्यकता नहीं है।"[2] वर्तमान कुंठा, घुटन, पीड़ा, ट्रेजडी, टेंशन, अंधकार, चीत्कार, दर्द और अन्ततः मृत्यु भाव के पीछे अवश्य ही कुछ अच्छा छिपा होगा, यही कहकर भविष्य के प्रति आशावान हुआ जा सकता है। अन्यथा और क्या उपाय है? स्वातन्त्र्योत्तर कहानी के लिए नये पाठक की आवश्यकता है? और यह भी क्यों उठाया गया समझ में नहीं आता। जब परिस्थितियाँ बदल रही हैं परिवेश बदल रहा है, कहानी बदल रही है तो उसका पाठक ही क्यों नहीं बदलेगा? वास्तव में पाठक भी आज पूर्णतया परिवर्तित हो गया है और स्वातन्त्र्योत्तर कहानी की संप्रेषणीयता पर अविश्वास नहीं किया जा सकता।

सच्चे अर्थों में स्वातन्त्र्योत्तर काल संक्रान्त प्रभावों का काल है। सामाजिक यथार्थ अनुभूति की प्रामाणिकता, आधुनिकता बोध, नवीन मानवमूल्य, नवीन एवं परिवर्तित संवेदनात्मक अनुभूति, बदलते राजनीतिक मापदण्ड और युग और समाज के यथार्थ के साथ व्यक्ति की नव चेतना के परिणाम स्वरूप कहानी विविध

---

1. डॉ लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय- आधुनिक कहानी का परिपार्श्व-पृ0 99-100

और प्रामाणिक रूप में उभरी, साथ ही जीवन की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम बनी। वर्तमान जीवन की जटिलताओं, भाग-दौड़, अपरिचय, विवशता, आर्थिक तंगी सामाजिक तथा रागात्मक सम्बन्धों में आए विघटन आदि ने कहानीकारों की चेतना को झकझोर दिया। नगर और कस्बाई बोध-आंचलिकता और हास्य-व्यंग्य ने जीवन और समाज में फैले अन्तर्विरोधों को विभिन्न रूपों में उभारा। कहानी के भावबोध और विचार चिन्तन के साथ-साथ रचना प्रक्रिया में परिवर्तन आने लगे। लोक कथाओं के स्थूल प्रयोग क्रमशः सूक्ष्म और सूक्ष्मतर होने लगे। इन लोकतत्त्वों को प्रतीकों, बिम्बों और संकेतों के रूप में ग्रहण किया जाने लगा। घटना की परक सामान्य सोच से आगे निकल कर व्यक्ति चरित्र, वर्ग चरित्र, मनोविश्लेषण और व्यावहारिक मनोविज्ञान से प्रेरित होने लगी। कहानी परम्परागत कथात्मकता जैसे, वर्णनात्मकता, इतिवृत्तात्मकता आदि, से मुक्त होकर संवेदनात्मक और यथार्थ की अभिव्यक्ति के रूप में स्वीकार की जाने लगी। वातावरण और परिवेश को बाह्य नहीं बल्कि अन्तर दृष्टि से आकलित करने पर जोर दिया जाने लगा। जैसे-राजनीतिक क्षेत्र में नेताओं के भाषणों और कोरे आश्वासनों को वर्तमान जनता और कहानीकारों ने अन्तर्मन से समझने की कोशिश की और वे उसमें सफल भी रहे। रचनाकारों और पाठक वर्ग की दृष्टि एक ही दिशा में बढ़ी और उन्हें यह मानने में कतई संकोच नहीं हुआ कि स्वातन्त्र्योत्तर, राजनीतिक सोच में पूर्व की अपेक्षा पर्याप्त ओछापन आ गया है। गांवों के जनजीवन और उपेक्षित वर्ग को प्रस्तुत करने में आंचलिक कहानियाँ सशक्त माध्यम बनी। स्थूल मनोरंजन की परिधि को पार कर कहानी जीवन के विश्लेषण और व्याख्यान में संलग्न हुई।

कमलेश्वर, निर्मल वर्मा, शिव प्रसाद सिंह, राजेन्द्र यादव, मोहन राकेश,

मन्नू भण्डारी, उषा प्रियंवदा, अमरकान्त, धर्मवीर भारती तथा रेणु आदि अनेक कहानीकार कथ्य, शिल्प और भाषा के स्तर पर, स्वतन्त्रता पूर्व के कहानीकारों से अलग हटकर नवीन संदर्भों और गंभीर अर्थवत्ताओं की खोज में लगे और इस दिशा में उनकी रचनात्मक प्रतिबद्धता रंग लायी उपलब्धियों ने स्वातन्त्र्योत्तर कहानी के कदम चूमे।

अब तक के विश्लेषणों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कहानी निरन्तर असीम संभावनाओं की खोज में अग्रसर है। श्रीकान्त वर्मा, गिरिराज किशोर, रवीन्द्र कालिया, ज्ञानरंजन, दूधनाथ सिंह, काशीनाथ सिंह, ममता कालिया, बटरोही, सुदर्शन चोपड़ा, महेन्द्र भल्ला, मालती जोशी, निरूपमा सेवती, अवधनारायण मद्गल, सूर्यबाला, मृदुला गर्ग, सुधा अरोड़ा, गंगाप्रसाद विमल, इब्राहीम शरीफ, आशीष सिन्हा, आदि कहानीकार कहानी को वैचारिक और रचनात्मक दृष्टि से नये आयाम प्रदान करने में संलग्न हैं। अनुभूति की सूक्ष्मता और भावों की गहराई इनकी कहानियों में दैनन्दिन बढ़ती जा रही है। स्वातन्त्र्योत्तर कहानीकारों ने शिल्प के स्तर पर भी गंभीरता और सपेक्षता का परिचय दिया है। इस काल की कहानी जीवन की संवेदना और यथार्थ को उद्घाटित करने में सफल है जिसकारण उसकी प्रौढ़ता और परिपक्वता सहज ही सिद्ध हो जाती है।

सहायक ग्रन्थ सूची

परिशिष्ट "क"

1· अज्ञेय - हिन्दी साहित्य एक आधुनिक परिदृश्य-1968-राधा कृष्ण प्रकाशन, दिल्ली।

2· अज्ञेय (सं0)- आज का भारतीय साहित्य (प्रथम संस्करण)-1958-साहित्य अकादमी दिल्ली।

3- अवध नारायण मुद्गल-कबंध - 1978- पंकज प्रकाशन, दिल्ली।

4- डॉ0 इन्द्रनाथ मदान- हिन्दी कहानी- 1968- राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

5- डॉ0 इन्द्रनाथ मदान(सं0) -कहानी और कहानी- 1966- रामचन्द्र एण्ड कम्पनी, दिल्ली।

6- उपेन्द्रनाथ अश्क- हिन्दी कहानियां और फैशन- 1966- नीलम प्रकाशन, इलाहाबाद

7- उषा प्रियंवदा- जिन्दगी और गुलाब के फूल- 1961- भारतीय ज्ञानपीठ काशी।

8- कमलेश्वर- नई कहानी की भूमिका- 1966- अक्षर प्रकाशन दिल्ली।

9- कमलेश्वर- राजा निरबंसिया- 1956 - राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

10- कमलेश्वर(सं0)-समान्तर- 1972- लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद।

11- कमलेश्वर-मांस का दरिया- 1977-शब्दकार प्रकाशन दिल्ली।

12- कमलेश्वर- मेरी प्रिय कहानियां-1972- राजपाल प्रकाशन दिल्ली।

13- कमलेश्वर- बयान तथा अन्य कहानियां (प्रथम सं0)-1972- लोक भारती प्रकाशन इलाहाबाद।

14- कमलेश्वर-खोयी हुई दिशाएं-1963- भारतीय ज्ञानपीठ कलकत्ता।

15- कमलेश्वर-कमलेश्वर की श्रेष्ठ कहानियां-1976-पराग प्रकाशन दिल्ली।

16- डॉ0 केशव प्रसाद सिंह, डॉ0 जगदीश गुप्त(सं0)- कथा भारती (विशेष संस्करण)- 1986- अशोक मुद्रण गृह इलाहाबाद।

17- गंगा प्रसाद विमल- समकालीन कहानी का रचना विधान-1967-सुषमा प्रकाशन, दिल्ली।

18- चित्रामुदगल, सुरेन्द्र अरोड़ा [सं0]-असफल दाम्पत्य की कहानियाँ-1988-प्रभात प्रकाशन दिल्ली ।

19- डॉ0 जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव, डा0 रामदेव शुक्ल [सं0]-छाया पथ [प्रथम संस्करण] 1976- अनुराग प्रकाशन वाराणसी

20- जैनेन्द्र कुमार [सं0]-कहानी संकलन-1968-एम0सी0ई0आर0टी0।

21- दुर्गाप्रसाद गुप्त- भारत का स्वतन्त्रता संग्राम- 1992- पीताम्बर पब्लिशिंग कम्पनी दिल्ली।

22- डॉ0 देवराज- संस्कृति का दार्शनिक विवेचन-1957- उ0प्र0 प्रकाशन ब्यूरो सूचना विभाग ।

23- दिनकर-साहित्यमुखी [प्रथम संस्करण]-1968-उदयाचल पटना।

24- देवीशंकर अवस्थी [सं0]-नई कहानी संदर्भ और प्रकृति [प्रथम सं0]-1966- अक्षर प्रकाशन दिल्ली।

25- दूधनाथ सिंह-पहला कदम- 1976- रचना प्रकाशन, इलाहाबाद।

26- धनंजय वर्मा- हिन्दी की प्रगतिशील कहानियाँ [प्रथम संस्करण]-1986- राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली।

27- धर्मवीर भारती- मानव मूल्य और साहित्य [प्रथम संस्करण]-1969- भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।

28- धर्मवीर भारती- बंद गली का आखिरी मकान - 1969- भारतीयज्ञानपीठ, काशी।

29- डॉ0 धीरेन्द्र वर्मा- हिन्दी साहित्य कोश [भाग-1] [द्वितीय संस्करण]-2020संवत् ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी

30- डॉ0 नगेन्द्र-विचार और विवेचन [द्वितीय संस्करण]- 1984- नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।

31- नेमिचन्द्र जैन- बदलते परिप्रेक्ष्य- 1968- राजकमल प्रकाशन दिल्ली।

32- डॉ0 नामवर सिंह- कहानी नई कहानी- 1973- लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।

33- निर्मल वर्मा- जलती झाड़ी- 1962- राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

34- निर्मल वर्मा- दूसरी दुनियाँ-1978- संभावना प्रकाशन, हापुड़।

35- निर्मल वर्मा- मेरी प्रिय कहानियाँ- 1960- राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

36- निर्मल वर्मा- परिन्दे- 1974- राजकमल प्रकाशन दिल्ली।

37- निर्मल वर्मा- पिछली गर्मियों में- 1968- राजकमल प्रकाशन दिल्ली।

38- निर्मल वर्मा- ढलान से उतरते हुए- 1989- राजकमल प्रकाशन दिल्ली।

39- निर्मल वर्मा- कव्वे और काला पानी- 1989- राजकमल प्रकाशन दिल्ली।

40- निरुपमा सेवती- आतंक बीज- 1975- इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन दिल्ली।

41- निरुपमा सेवती- दूसरा जहर- 1988- दीर्घा साहित्यसंस्थान दिल्ली।

42- निरुपमा सेवती- खामोशी को पीते हुए- 1972- नेशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली।

43- निरुपमा सेवती- भीड़ में गुम- 1980- इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन दिल्ली।

44- प्रहलाद अग्रवाल- हिन्दी कहानी सातवां दशक-1977-दी मैकमिलन कम्पनी आफ इण्डिया, दिल्ली।

45- डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव,डॉ० श्रीमती गिरिजा रस्तोगी (सं०)- कथान्तर-1984- राजकमल प्रकाशन दिल्ली।

46- फणीश्वर नाथ रेणु- ठुमरी-1959- राजकमल प्रकाशन दिल्ली।

47- फणीश्वरनाथ रेणु- मेरी प्रिय कहानियाँ-1977- राजकमल प्रकाशन दिल्ली।

48- बटरोही-कहानी रचना प्रक्रिया और स्वरूप-1977- अक्षर प्रकाशन दिल्ली।

49- डॉ० बच्चन सिंह-समकालीन हिन्दी साहित्य आलोचना को चुनौती (प्रथम संस्करण)- 1968- हिन्दी प्रचारक प्रकाशन, वाराणसी।

50- डॉ० मेरूलाल गर्ग- आज की हिन्दी कहानी- 1983- चित्रलेखा प्रकाशन, इलाहाबाद

51- डॉ० महावीर दाधीच- आधुनिकता और भारतीय परम्परा (प्रथम संस्करण)-1966- शब्दलेखा प्रकाशन बीकानेर।

52- मोहन राकेश- फौलाद का आकाश- 1966- अक्षर प्रकाशन दिल्ली।

53- मधुर उप्रेती- हिन्दी कहानी आठवाँ दशक-1984- इन्द्र प्रकाशन अलीगढ़।

54- मन्नू भण्डारी- एक प्लेट सैलाब- 1968- अक्षर प्रकाशन, दिल्ली।

55- मन्नू भण्डारी- त्रिशंकु- 1981- अक्षर प्रकाशन दिल्ली।

56- मन्नू भण्डारी- मेरी प्रिय कहानियाँ- 1977- राजपाल प्रकाशन, दिल्ली ।

57- मन्नू भण्डारी- यही सच है तथा अन्य कहानियाँ- 1978- अक्षर प्रकाशन, दिल्ली।

58- एम0एन0 श्रीनिवास-आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन-1967- राजकमल प्रकाशन दिल्ली ।

59- मार्कण्डेय- कहानी की बात- 1984- लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।

60- मृणाल पाण्डेय- एक नीच ट्रेजडी-1981- राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

61- ममता कालिया- प्रतिदिन- 1983- राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

62- मंजुल भगत- सफेद कौआ- - - - - 1989- राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

63- मृदुला गर्ग-ग्लेशियर से- 1980- प्रभात प्रकाशन, दिल्ली।

64- मृदुला गर्ग-डैफोडिल जल रहे हैं- 1986-अक्षर प्रकाशन, दिल्ली।

65- मृदुला गर्ग- दुनिया का कायदा- 1983- इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन, दिल्ली।

66- आचार्य रमाशंकर तिवारी (व्याख्याकार) श्रीकृष्णलाल और हिन्दी कहानियाँ (आलोचनात्मक अध्ययन-1980- प्रकाशन केन्द्र रेलवे क्रासिंग सीतापुर रोड, लखनऊ।

67- राकेश वत्स (सं0)- 15 सक्रिय कहानियाँ- 1971- हरियाणा पब्लिकेशन ब्यूरो, चंडीगढ़ ।

68- राजेन्द्र यादव- अपने पार-1968- नेशनल पब्लिकेशन, दिल्ली।

69- राजेन्द्र यादव (सं0) एक दुनिया: समानान्तर- 1970- अक्षर प्रकाशन, दिल्ली।

70- राजेन्द्र यादव (सं0)- किनारे से किनारे तक- 1971- राजपाल प्रकाशन, दिल्ली।

71- राजेन्द्र यादव- जहाँ लक्ष्मी कैद है- 1956- राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

72- राजेन्द्र यादव- कहानी स्वरूप और संवेदना- 1964- नेशनल पब्लिकेशन, दिल्ली।

73- राजी सेठ- अंधे मोड़ से आगे- 1983- राजकमल प्रकाशन दिल्ली।

74- डॉ0 राजेन्द्र मोहन भटनागर-डॉ0 लोहिया व्यक्तित्व और कृतित्व- 1990- किताब घर दरियागंज, नई दिल्ली।

75- डॉ0रघुवंश- साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य(प्रथम संस्करण) 1963- भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।

76- राधा कृष्णन्- धर्म और समाज (हिन्दी अनुवाद)(अनु0विराज0एम0ए0) तृतीय- 1963- राजपाल एण्ड संस, दिल्ली।

77- डॉ0 लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय-आधुनिक कहानी का परिपार्श्व-1966- साहित्य भवन, इलाहाबाद।

78- डॉ0 लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय- 20वीं शताब्दी हिन्दी साहित्य नए संदर्भ- 1966- साहित्य भवन, इलाहाबाद।

79- डॉ0 लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय(सं0)-श्रेष्ठ हिन्दी कहानियां (प्रथम संस्करण)- 1969- सरस्वती प्रेस, दिल्ली।

80- डॉ0 विजय मोहन सिंह- आज की कहानी (प्रथम संस्करण)-1983- राधाकृष्ण प्रकाशन दरियागंज, नई दिल्ली।

81- डॉ0 विनय सिंह- समकालीन कहानी:समान्तर कहानी- 1977- मिलन कम्पनी- ऑफ इण्डिया लिमिटेड, दिल्ली।

82- डॉ0 विश्वम्भरनाथ उपाध्याय-समकालीन आलोचना बिन्दु प्रति बिन्दु (प्रथम संस्करण)-1984- पंचशील प्रकाशन, दिल्ली।

83- आचार्य वात्स्यायन- कामसूत्र (टी0 माध्वाचार्य)- 1961- लक्ष्मी वेंकटेश्वर स्टीम, बम्बई।

84- डॉ0 विवेकी राय- स्वातन्त्र्योत्तर कथा साहित्य और ग्राम जीवन (प्रथम संस्करण) 1974- लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।

85- विष्णु स्वरूप- नया साहित्य कुछ पहलू- 1965- उत्कर्ष प्रकाशन, हैदराबाद।

86- वंशीधर, राजेन्द्र मिश्र(सं0)- मन्नू भंडारी का श्रेष्ठ सर्जनात्मक साहित्य- 1983- नटराज पब्लिशिंगहाउस, हरियाणा।

87- सीताराम शर्मा- स्वातन्त्र्योत्तर कथा साहित्य-1964- श्री शिवशंकर खेमका सुगबोध प्रकाशन, कलकत्ता।

88- डॉ0 सुरेन्द्र- हिन्दी कहानी दशा दिशा की संभावना- 1966- अलोपी प्रकाशन, जयपुर।

89- संगमलाल पाण्डेय-नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण- 1980- सेन्ट्रल बुकडिपो, इलाहाबाद।

90- प्रो0 सत्यव्रत विद्यालंकार- समाजशास्त्र के मूल तत्व- 1954- विद्याविहार, देहरादून।

91- सुरेश सिन्हा- कई आवाजों के बीच- 1968- लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद ।

92- सुरेश सिन्हा- हिन्दी कहानी उद्भव और विकास- 1967- अशोक प्रकाशन, दिल्ली।

93- डॉ0 संतबख्श सिंह- नई कहानी कथ्य और शिल्प-1973- अभिनव भारती प्रकाशन, इलाहाबाद।

94- सुदर्शन नारंग-श्रेष्ठ फैंटेसी कहानियां-1980- शीर्षक प्रकाशन, हापुड़।

95- सुदर्शन नारंग(सं0)- श्रेष्ठ सचेतन कहानियाँ-1976- शारदा प्रकाशन, दिल्ली ।

96- सुदर्शन नारंग- महानगर की कहानियाँ- 1976- पराग प्रकाशन, दिल्ली।

97- सुधा अरोड़ा- महानगर की मैथिली-1987- नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।

98- सूर्यबाला-एक इन्द्रधनुष जुबेदा के नाम- 1977- पराग प्रकाशन, दिल्ली।

99- शैलेश मटियानी- सुहागिनी तथा अन्य कहानियाँ- 1968- विकल्प प्रकाशन, इलाहाबा

100- डॉ0 शिवप्रसाद सिंह- आधुनिक परिवेश और नवलेखन- 1971- लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद।

101- शशि प्रभा शास्त्री-अनुत्तरित - 1975- राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

102- डॉ0 हुकमचंद-आधुनिक काव्य में नवीन जीवन मूल्य- 1970- भारती भवन, जालन्धर।

103- हिमांशु जोशी (सं)- श्रेष्ठ समान्तर कहानियाँ- 1976- पराग प्रकाशन, दिल्ली।

104- हेतु भारद्वाज- स्वातन्त्र्योत्तर कहानी में मानव प्रतिभा- 1983- पंचशील प्रकाशन, जयपुर।

15-डॉ0 त्रिभुवन सिंह- हिन्दी साहित्य एक परिचय- 1974- विजय प्रकाशन, वाराणसी।

13 -ज्ञानरंजन- सपना नहीं- 1977- रचना प्रकाशन, इलाहाबाद।

परिशिष्ट " अ"

अंग्रेजी-ग्रन्थ

1- Encyclopaedia Britannica, vol.22-1959 - Encyclopaedia Britannica Inc; William Benten Publisher, CHICAGO.

2- Ethical values in the age of Science, Paul Roubezell, ed. 1969 cambridge University Press, London.

3- Sociology, A Synopsis of Principles, Jhon.F. Cuber Fourth Edition, Aphleton - Century Crofts Inc. NEW YARK.

4- The Evolution of Human Nature. C.Judson Herrick, 1956 Austion University of Texas Press.

5- The Novel and the People, Ralph Fox., Moscow, Edition Foreign Languages Publishing House, MOSCOW.

परिशिष्ट " ग"

पत्र-पत्रिकायें

1- अमृत प्रभात

2- आलोचना

3- इण्डिया टुडे

4- दिनमान

5- दैनिक जागरण

6 -धर्मयुग

7- नवभारत टाइम्स

8- नवनीत

9- निवेदन

10- नई कहानियाँ

11- माया

12- माध्यम

13- रसवंती

14- वातायन

15- सारिका

16 -हंस

17- हिन्दी अनुशीलन

18- ज्ञानोदय